हिन्दी-अलंकार-साहित्य

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

लेखक
डाक्टर ओम्प्रकाश
अध्यक्ष, हिंदी-विभाग
हंसराज कालेज, दिल्ली

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा, दिल्ली

मूल्य ६)

एस. चन्द एंड कम्पनी
फव्वारा — दिल्ली
लाल बाग — लखनऊ
माई हीरा — जालन्धर
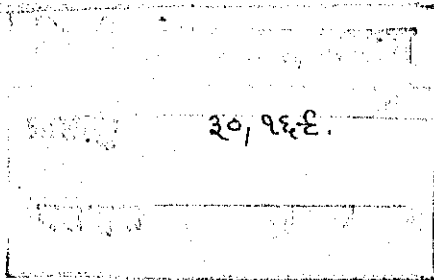
मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्राक्कथन

प्राक्कथन का मूल उद्देश्य है नव प्रकाशन का अभिनन्दन करना। उसके लिए ग्रंथकार के प्रति सद्भावना की जितनी आवश्यकता है, उतनी ग्रंथ के पर्यालोचन की नहीं। आज के व्यस्त जीवन में ग्रंथ का सम्यक् अध्ययन किए बिना भी प्राक्कथन लिखा जा सकता है, परन्तु विषय मेरा अपना था, अतः इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ने का लोभ मैं संवरण न कर सका, और मुझे निश्चय ही संतोष हुआ।

प्रस्तुत ग्रंथ डाक्टर ओम्प्रकाश का शोध-प्रबन्ध है जिस पर आगरा विश्वविद्यालय ने कुछ वर्ष पूर्व उन्हें पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की थी : आज यह परिवर्तन-परिशोधन के पश्चात् आपके समक्ष प्रस्तुत है। ग्रंथ का उद्देश्य केशवदास से लेकर रामदहिनमिश्र तक हिन्दी के समृद्ध अलंकार-साहित्य का 'शृंखलाबद्ध पूर्ण अध्ययन' प्रस्तुत करना है। 'इसका दृष्टिकोण विवेचनात्मक है, ऐतिहासिक नहीं। इसमें केवल एक अंग को विवेच्य बना कर गहराई तक जाने का प्रयास किया गया है, सर्वांगीण परिचय नहीं दिया गया।' ––यह एक अंग है अलंकार और उसके आधार पर लेखक ने यह गवेषणा की है कि 'हिन्दी के माध्यम से आचार्यों ने अलंकार-विषय का जो प्रतिपादन किया है वह कहां तक सफल है उनकी रुचि तथा प्रतिभा का उस विवेचन पर कितना प्रभाव है और आचार्यत्व की दृष्टि से उनकी कृतियों का क्या मूल्य है।' यह विवेचन निश्चय ही संस्कृत अलंकार-शास्त्र से प्रभावित था, अतः आरम्भ में उसके विकास का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठभूमि के रूप में दे दिया गया है। अनुसन्धाता ने अन्त में यही निर्णय किया है कि आलंकारिकों का वर्गीकरण न कर काल-क्रमानुसार उनकी धारणाओं का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत कर देना ही संगत है जैसा कि संस्कृत के आचार्यों ने किया है। अतः इस प्रबन्ध में वर्ग-विभाजन पर आश्रित प्रवृत्तिगत विश्लेषण न होकर कालक्रमागत परम्परित विवेचन-विश्लेषण ही प्रस्तुत किया गया है।

जैसा कि स्वयं लेखक का दावा है, हिन्दी अलंकार-साहित्य का यह प्रथम अंतरंग अध्ययन है। इससे पूर्व इस विषय पर केवल एक ग्रंथ था डा. भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास।' परन्तु उसके और इस प्रबन्ध के दृष्टिकोण विषय-क्षेत्र दोनों में भेद है : 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' में ऐतिहासिक शोध का प्राधान्य है जबकि इसमें सैद्धान्तिक विवेचन पर ही मूलतः ध्यान केन्द्रित है, इसके अतिरिक्त 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' में जहां समग्र काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण है, वहाँ इसकी परिधि केवल अलंकारशास्त्र तक ही सीमित रही है। इसके द्वारा एक ओर जहां हिन्दी अलंकारशास्त्र की परम्परा का व्यवस्थित निरूपण होता है, वहां प्रमुख आलंकारिकों की तत्सम्बन्धी धारणाओं का सूक्ष्म तथा प्रामाणिक विश्लेषण भी।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक की सभी स्थापनाएं हमें यथावत् मान्य ही हों––साहित्यालोचन में ऐकमत्य सम्भव भी नहीं है और कदाचित् अधिक स्तुत्य भी नहीं क्योंकि इस प्रकार तो मौलिक विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा। फिर भी डा. ओम्प्रकाश के

विवेचन में दो गुण सर्वथा स्पष्ट हैं जो अनायास ही अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं : (१) अपने ढंग से सोचने की प्रवृत्ति (२) आत्मविश्वास के साथ उसका प्रकाशन। विचारक के लिए ये गुण अभिनन्दनीय हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने प्रचलित वर्गों को अस्वीकार करते हुए रीतिकाल के आलंकारिकों का केवल परम्परित रूप में ही विवेचन किया है। यद्यपि हम स्वयं वर्गीकरण को असम्भव नहीं मानते, फिर भी वास्तव में उसका आधार अधिक पुष्ट नहीं है और यदि कोई साहसपूर्वक उसका त्याग कर स्वतंत्र विवेचन करता है, तो कम से कम उसके दृष्टिकोण को समझना कठिन नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने पं. रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत संस्कृत अलंकारों के अंग्रेजी नामों का अत्यन्त प्रबल शब्दों में तिरस्कार किया है : 'हमारा व्यक्तिगत विचार है कि अंग्रेजी पर्याय भारतीय पाठक के लिए विषय-बोध में सहायक नहीं होते, प्रत्युत उसको भुलावे में डाल सकते हैं——प्रत्यनीक का राइवलरी, परिसंख्या का स्पेशल मेंशन, एकावली का नैकलेस, व्याघात का फ्रस्ट्रेशन, तथा समासोक्ति का स्पीच आफ़ ब्रीविटी पर्याय हास्यास्पद ही हैं।' यह ठीक ही है, भला इन सर्वथा निरर्थक पर्यायों की सूची से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है !

प्राक्कथन-लेखक का कार्य आलोचना नहीं है, अभिनन्दन ही है। वैसे भी प्रबंध-लेखक मेरे सहयोगी हैं और आयु में छोटे होने के कारण मेरे स्नेह-भाजन हैं। अतः मुझे आलोचना का नहीं, परामर्श देने का ही अधिकार है——और वह यह है कि यद्यपि मौलिकता चिंतना का सर्वाधिक स्पृहणीय गुण है, फिर भी विद्या के साधक को अन्य लोभों की भांति मौलिकता के लोभ को भी संयत करने का प्रयत्न करना चाहिए : उसे यह कभी न भूलना चाहिए कि मौलिकता की सिद्धि परम्परा की श्रद्धापूर्ण स्वीकृति के द्वारा ही सम्भव है।

अन्त में मैं अपने आरम्भिक कथन को एक बार फिर दुहराता हूं कि इस ग्रंथ को पढ़कर मुझे निश्चय ही संतोष हुआ है। अब तक हमारे यहां जो अलंकार-विवेचन मिलता है वह सर्वथा संस्कृत का ही उपजीवी है। यह स्थिति वास्तव में चिरकाम्य नहीं हो सकती। प्रत्येक समर्थ साहित्य के लिए अपने अलंकारशास्त्र का निर्माण करना अनिवार्य है और हिन्दी को भी इस दिशा में अग्रसर होना है। मुझे आशा है कि हिन्दी अलंकार-साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले इस प्रकार के शोध-प्रबन्ध निश्चय ही अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में साधक होंगे। मैं अपनी शुभाशंसा के साथ इस ग्रन्थ को हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत करता हूं।

शिवरात्रि——
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

नगेन्द्र
हिन्दी विभाग
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष

अपनी ओर से

सन् १९४७ में मैंने 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ अलंकारस् इन हिन्दी' विषय पर रिसर्च का कार्य प्रारम्भ किया, जो सन् १९५० में पूरा हुआ। थीसिस के दो भाग थे ; एक में हिन्दी के आचार्यों का अध्ययन था, और दूसरे में हिन्दी-साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियों का। मेरे कुछ मित्रों ने मुझको सलाह दी कि मैं इसी विषय का अध्ययन आगे बढ़ाकर डी. लिट. के लिए प्रबन्ध प्रस्तुत करूं ; परन्तु यह बात मुझको पसन्द न आई, क्योंकि मेरा मन अलंकारों के अति निकट आकर उनमें नीरसता का अनुभव करने लगा था। ऐसा भी लगा कि अलंकार अब पुरानी चीज बन गये हैं ; आज का साहित्यिक न कविता-कामिनी को अलंकार पहिना सकता है और न उसके अलंकृत रूप पर रीझ सकता है---जीवन की गुत्थियों में उलझा हुआ बेचारा। अतः कई वर्ष तक अलंकार का पठन-पाठन बन्द रहा, और थीसिस को प्रकाशित कराने की भी आवश्यकता मैंने न समझी। परन्तु इधर कुछ दिनों से संस्कृत-साहित्य के महत्त्व का बड़ा प्रचार हो रहा है, और साहित्यिक लोग भारतीय काव्यशास्त्र को फिर से पढ़ने लगे हैं ; अनेक विद्वानों का मत है कि हमारी भित्ति संस्कृत के दृढ़ आधार के बिना निष्कम्प नहीं रह सकती ; कई पत्रपत्रिकाओं ने भारतीय काव्यशास्त्र का फिर से महत्त्व समझा है और मुझसे भी उक्त विषय पर लेख मांगे हैं। कुछ ऐसा दीखता है कि देश में फिर एक बार उस गम्भीर एवं विशाल ज्ञान का प्रसार होगा जो संस्कृत-भाषा में अद्यावधि सुरक्षित है। अस्तु, उत्साहित होकर मैं अपने थीसिस को अधिकारी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं।

मूल थीसिस का हिन्दी में नाम था 'हिन्दी साहित्य में अलंकार'; और उसका एक भाग 'अलंकार के हिन्दी-आचार्य' तथा दूसरा भाग 'हिन्दी-साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियां' कहलाता था। परन्तु प्रकाशित करते हुए मैंने प्रथम भाग का नाम 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' रख दिया है, इस भाग में केवल अलंकार विषय को दृष्टि में रखकर संस्कृत की प्राचीन परम्परा से प्रारम्भ करके हिन्दी की नवीनतम गति-विधि तक प्रमुख आचार्य तथा उनकी कृतियों का अध्ययन है ; दूसरे भाग का नाम 'हिन्दी-काव्य तथा उसका सौन्दर्य' है, और उसमें मुख्य-मुख्य कवियों के अप्रस्तुत व्यक्तित्व का अध्ययन किया गया है।

लगभग ५ वर्ष की इस अवधि में मेरे विचारों में विकास भी हुआ है तथा मेरी लेखन-शैली भी सुधरी है। फलतः प्रस्तुत पुस्तक उसी रूप में पाठकों के सामने नहीं आ रही, जिस रूप में यह डाक्टरेट के लिए स्वीकृत हुई थी; फिर भी मैं इस वर्तमान रूप को ही अधिक उपयुक्त समझता हूं। सामान्यतः मैंने इसको अधिक सम्पन्न, अधिक उपयोगी तथा अधिक व्यावहारिक बनाने की कोशिश की है ; प्रकाशित रूप थीसिस की अपेक्षा पुस्तक के अधिक निकट है। परन्तु मूल थीसिस की कोई भी लाभदायक विशेषता यहां छूटने नहीं पाई है।

थीसिसी जगत् में इस विषय पर सदा मतभेद रहेगा कि थीसिस का उद्देश्य अध्ययन है या विवेचन, परन्तु मैं इन दोनों को परस्पर-निश्छिन्न नहीं मानता; यदि लेखक केवल विश्लेषण करता रहा तो पाठक को कहां ले पहुंचेगा; और यदि विवेचन में ही लग गया तो सत्य का अन्वेषण किस प्रकार संभव है। अस्तु, शोधकर्त्ता को उचित है कि वह प्रस्तुत विषय का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उसके सहज निष्कर्षों तक पाठक को पहुंचा दे। प्रस्तुत पुस्तक में इसीलिए मैंने अपना अध्ययन विश्लेषण से प्रारम्भ किया है और यथास्थान आचार्य या रचना का अभिमत पाठक को सुलभ बना दिया है। कुछ लोगों को थीसिस में पुस्तकों का जितना अधिक हवाला देना पसन्द है उतनी ही कंजूसी वे थीसिस को पुस्तकाकार छपाने में सहायक पुस्तकों के नाम देने की करते हैं; मैंने प्रत्येक पृष्ठ पर आवश्यकतानुसार फुटनोट देने में संकोच नहीं किया। जिन रचनाओं का इस पुस्तक में अध्ययन है उनमें से अनेक के काल-निर्णय में विद्वान् एकमत नहीं हैं; मैंने काल-निर्णय पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। प्रायः संस्कृत में डा. दे तथा हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा. भगीरथ मिश्र के निर्णयों को ही स्वीकार कर लिया है। इस पुस्तक के अलग-अलग खंडों पर 'अध्यायों' की मुहर नहीं लगी, केवल नवआरम्भ से ही उनके संकेत मिल जाते हैं। अन्त में संस्कृत तथा हिन्दी के उन आचार्यों के अलंकार-विषयक विचारों का संग्रह है, जिन आचार्यों का यहां अध्ययन है। मैंने सर्वत्र (अध्ययन, विचार-संग्रह, पुस्तक-सूची) में कालक्रम को ही मुख्य कसौटी मानकर उसको अपना लिया है। अपनी अन्य पुस्तकों के समान इस में भी मैंने केवल नागरी लिपि का ही प्रयोग किया है और अंग्रेजी आदि भाषाओं के उद्धरण भी नागरी में ही लिखे हैं।

ऋग्वेद से काव्य-दर्पण तक की रचनाओं के सामान्यतः, माध्यम के आधार पर, दो वर्ग हैं---संस्कृत-कृतियां, तथा हिन्दी-पुस्तकें। संस्कृत-कृतियों का अध्ययन मेरा विषय नहीं था, परन्तु हिन्दी की पृष्ठभूमि के लिए वह अनिवार्य है, अतः मैंने आदि में उन्हीं का अध्ययन किया है---इस अध्ययन में मौलिकता कम है फिर भी आशा है कि भामह, उद्भट, रुय्यक तथा जयदेव आदि के विषय में कुछ बातें संस्कृतज्ञ विद्वानों को पसन्द आवेंगी। हिन्दी के प्रवाह से पूर्व कुछ समस्याओं पर पुनर्विचार आवश्यक-सा प्रतीत हुआ, अतः उसका समावेश कर दिया है। हिन्दी-प्रवाह भी, माध्यम के आधार पर, दो वर्गों में रखा जा सकता है---पद्ययुग तथा गद्ययुग; मैंने पद्ययुग को 'मध्ययुग' नाम से पुकारा है। मध्ययुग के 'अलंकृतियों' की कोई इति नहीं; इसलिए उनका सम्पूर्ण अध्ययन संभव नहीं; इस पुस्तक में केवल २४ आचार्यों की २५ रचनाओं का ही अध्ययन है। गद्ययुग तो निर्माण का युग है, इसमें पुस्तक-संख्या में तो अतिवृद्धि हुई ही उनकी सुरक्षा भी तत्परता से हो सकी; परन्तु मैं उस अपार सागर में से केवल ७ मूर्धन्य आचार्यों को ही ग्रहण कर सका हूं। इस प्रकार ३१ अलंकारज्ञों का यह अध्ययन केवल एक प्रारम्भ है, अन्त नहीं। पुस्तक पढ़ने पर ऐसा लगेगा कि कुछ लोगों के साथ पक्षपात हुआ है और कुछ की अवहेलना हो गई है, परन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है; अलंकार की दृष्टि से जिस कवि का जितना अध्ययन यहां अपेक्षित है उतना ही उसको रोका गया है---कुछ कवि चलते हुए ही नजर आते हैं तो कुछ जमकर हमको सोचने के लिए बाध्य करते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अपेक्षाकृत पीछे

आने वाला कवि उतनी ही देर ठहरेगा जितनी उसमें पूर्ववर्तियों से विशेषता है, अग्रजन्मा को अग्रत्व का महत्त्व तो मिल ही जाता है।

आगरा कालेज, आगरा में हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो. जगन्नाथ तिवारी, एम. ए., शास्त्री के निकट मैंने हिन्दी तथा संस्कृत का अध्ययन किया तथा उन्हीं के निर्देशन में पी. एच. डी. का थीसिस भी लिखा; उनके आशीर्वाद का मैं चिर आभारी हूं। दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा. नगेन्द्र एम. ए., डी. लिट. ने स्नेहपूर्वक इस पुस्तक की भूमिका लिखना स्वीकार किया, मैं उनको हृदय से धन्यवाद देता हूं। अग्रज डा. जयदेव, एम. ए., पीएच. डी., तथा स्नेही श्री रामदत्त शर्मा, एम. ए. से मुझको थीसिस लिखते समय अनेक प्रकार की सहायता मिली थी, उनका स्नेह मेरी अमूल्य निधि है।

हंसराज कालेज होस्टल,
दिल्ली—८

ओम्प्रकाश
२९।२।५६

विषय-सूची

संस्कृत-अलंकार-साहित्य

उपक्रम

वाङ्मय के दो अंगों, शास्त्र तथा काव्य,[1] में से काव्यके शास्त्रीय अध्ययन ने 'काव्यशास्त्र' नामक विद्या को जन्म दिया। इस विद्या या शास्त्र का प्राचीनतम अभिधान[2] 'अलंकार-शास्त्र' है, 'सौंदर्य-शास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र', 'काव्य-शास्त्र', 'साहित्य-विद्या'[3], 'क्रियाकल्प' आदि इसी के तुल्यार्थक हैं। वैज्ञानिक अध्येताओं ने काव्य के प्रथम-लक्षित प्रभावक धर्म को 'अलंकार' संज्ञा दी, क्योंकि इस धर्म का फल काव्य का अलंकरण या सजावट थी। तदनन्तर विकास के फलस्वरूप प्रभावक धर्म के दूसरे रूप भी आचार्यों ने देखे, परन्तु दीर्घकाल-पर्यन्त वे उन सब धर्मों का वर्णन 'अलंकार' नाम से ही करते रहे। परिवर्त्तन आया और 'अलंकार' का क्षेत्र संकीर्ण बन गया। 'अलंकार' के क्षेत्र की ये तीन स्थितियाँ ह; आदिम स्थिति में अध्येताओं को काव्य के प्रभावक धर्म का केवल एक ही रूप ज्ञात था, जिसको वे 'अलंकार' कहते थे, विकसित स्थिति में 'अलंकार' शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और सौंदर्य-मात्र का नाम 'अलंकार' पड़ गया; प्रतिष्ठित स्थिति में प्रभावक धर्म की दूसरी विधाओं को स्वतंत्रता मिली और वे भी अलंकार के साथ ही, प्रायः अलंकार से कम महत्त्वपूर्ण बन कर नहीं, शास्त्रीय अध्ययन का प्रमुख विषय बन गईं।

अलंकार वाणी के विभूषण हैं; अभिव्यक्ति में स्पष्टता,[4] भावों में प्रभावोत्पादन की शक्ति, भाषा में सौंदर्य तथा श्रोताओं का मनोविनोद आदि इनके फल हैं। इनमें से प्रथम दो, स्पष्टता तथा प्रभावोत्पादन, के हेतु वाणी अनायासैव अलंकार धारण कर लेती है। फलतः अलंकार की छटा अविकसित भाषाओं तथा असभ्य या अर्द्धसभ्य[5] जातियों में भी दृष्टिगोचर होती है। (सभ्य जातियों में भी) अलंकार-शास्त्र की शास्त्र-रूप में स्वीकृति कालान्तर में ही हो पाती है। भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से भी हम इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। ऋग्वेद में उपमा, रूपक तथा यमक का अविरल प्रयोग है, जिससे स्पष्टता तथा प्रभावोत्पादन, दोनों गुणों का संपादन होता है :—

(क) अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥

(१, १८, १२४, ७)

---

(१) इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। (काव्यमीमांसा)।
(२) भारतीय-साहित्य-शास्त्र, प्रथम खंड, पृष्ठ ५।
(३) 'पंचमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा)।
(४) डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर; फिगर ऑफ स्पीच।
(५) रिमार्क्स ऑन सिमिलीज़ इन संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ११।

(ख) संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वतां प्र मण्डूका अवादिषुः । (७, ६, १०३, १)

(ग) ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥
(९, ५, ९६, ६)

(घ) सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥
(१०, ९, १०६, ६)

ऋग्वेद में उपमा आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग तथा 'उपमा'[1] एवं 'अरङ्कृताः'[2] (अलंकृताः) शब्दों के व्यवहार से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वैदिक युग में अलंकार का प्रकल्प विकसित हो गया था। वेदांगों में भी अलंकार का विवेचन तो है, परन्तु अलंकार-शास्त्र की स्वतंत्र या उपजीवी शास्त्र के रूप में स्वीकृति नहीं मिलती; कालान्तर में राजशेखर ने ही अलंकार को वेद का एक अतिरिक्त[3] (सप्तम) अंग बतलाया। षड्[4] वेदांगों में से व्याकरण तथा निरुक्त अलंकार शास्त्र के सहवर्गी हैं। व्याकरण और अलंकार-शास्त्र का साहचर्य परम्परा[5] से भी विख्यात है, व्याकरण का उद्देश्य शब्दों का शुद्ध प्रयोग है तो अलंकार-शास्त्र उचित शब्दों के प्रयोग द्वारा सौंदर्य संपादन करता है; अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत शब्द-शक्ति एक स्वतंत्र तथा महत्त्वपूर्ण विषय है, उपमा आदि के स्वीकृत वर्गीकरण का आधार व्याकरण-शास्त्र ही तो है। विकसित अवस्था में तो अलंकार-शास्त्र अवश्यमेव व्याकरण के साहचर्य से लाभान्वित होता रहा परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में उसके बीज निरुक्त में ही छिपे थे। निघण्टु में उपमावाचक १२ शब्दों का उल्लेख है :—

(१) त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ॥
(१, ७, ३१, १५)

सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः ।
तस्म आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु ॥
(५, ३, ३४, ९)

(२) वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरङ्कृताः । तेषां पाहि श्रुधी हवम् (१,१,२,१)
वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरङ्कृता (अलंकृताः)....
यास्क निरुक्तम् (डा० लक्ष्मणसरूप), पृ० १७३
अरंकृताः अलंकृताः पर्याप्ताः पातुं संस्कृताः (पं० मुकुन्द झा, पृ० ४३२)
ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः । हविष्मंतो अरङ्कृतः ।
(१, ४, १४, ५)

(३) 'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगम्' इति यायावरीयः। (काव्य मीमांसा)

(४) शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छंदोविचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानि ।

(५) ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, क्लासिकल पीरियड, पृष्ठ ५१४ ।

इवमिव। इदं यथा। अग्निर्न ये। चतुश्चिद् ददमानात्। ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। जार आ भगम्। मेषो भूतो३भियन्नयः। तद्रूपः। तद्वर्णः। तद्वत्। तथेत्युपमाः। ।।१३।। (तृतीयोऽध्यायः)।

यास्क ने 'अलंकरिष्णुम्'[१] शब्द का प्रयोग लगभग उत्तरकालीन अर्थ में ही किया है, 'उपमा' शब्द तो निरुक्त में अनेकशः आया है। यास्क ने उपमा-विषय का विवेचन दो स्थलों पर किया है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले ४ निपातों का वर्णन [२] है; ये निपात इव, न, चित् तथा नु हैं (निघण्टु की सूची में ये थे ही); 'इव' का प्रयोग 'भाषा' और वेद दोनों में होता है; 'न' का प्रयोग 'भाषा' में 'प्रतिषेधार्थीय' है और वेद में दोनों प्रकार का —'प्रतिषेधार्थीय' 'न' का 'उपचार' (प्रयोग) जिसका प्रतिषेध होता है, उसके 'पुरस्तात्' (पहिले) होता है और 'उपमार्थीय' 'न' का 'उपरिष्टात्' (पीछे); 'चिद्' तथा 'नु' 'अनेककर्मा' हैं; इनका 'उपमार्थे' प्रयोग भी होता है।

निरुक्त के तृतीय अध्याय में निघण्टु के १२ उपमावाचक शब्दों में से १० के (एक प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद, तथा अन्य नवम अध्याय षष्ठ पाद से देखा जा सकता है) सोदाहरण प्रयोग दिखलाते हुए 'उपमा' की व्याख्या और उसके भेदों का कथन है। गार्ग्य आचार्य के मत से भिन्न[३] वस्तु का उस (उपमान) से सादृश्य ही उपमा है; उपमा का कर्म है गुणवान् अथवा प्रख्याततम से गुणन्यून अथवा अप्रख्यात की तुलना, कभी-कभी न्यूनगुण से अधिक गुण (परन्तु प्रख्यात) की तुलना भी हो सकती है। उपमावाचक निपातों की रुचि के आधार पर यास्क ने उपमा (शाब्दी या पूर्णा) के ४ भेद किये हैं :—'कर्मोपमा' ('यथा' के प्रयोग से) 'भूतोपमा' ('भूत' के प्रयोग से), 'रूपोपमा' ('रूप' तथा 'वर्ण' के प्रयोग से) और 'सिद्धोपमा' ('वत्' के प्रयोग से)। जिन उपमाओं में उपमावाचक निपातों का

(१) तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलंकरिष्णुमयज्वानम्। (६, १९)
'अलंकार' के पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग है :—
अग्निरिव ये [मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णुरस्का] भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः (३,१५)
सायणस्तु—ये मरुतोऽग्निरिव भ्राजसा तेजसा युक्ताः किञ्च रुक्मवक्षसो रुक्मालंकृतवक्षस्का वातासो न.... (उपर्युक्त पर पं० मुकुन्द झा का फुटनोट, पृ० १३७)
तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम् (६, १९)।

(२) तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च। अन्वध्यायं च।.... नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्। ....पुरस्ताद् उपाचारस्य यत्प्रतिषेधति। उपरिष्टाद् उपाचारस्य येनोपमिमीते। चिदित्येषोऽनेककर्मा। नु इत्येषोऽनेककर्मा। (१, ४)।

(३) यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। (३, १४)

प्रयोग[१] नहीं होता, उनको 'लुप्तोपमा' या 'अर्थोपमा' कहते हैं; इसके उदाहरण 'पुरुषसिंह', 'श्वाऽयम्' आदि हैं।

निरुक्त के प्रमाण से यह स्पष्ट है कि यास्क से पूर्व उपमा का विवेचन गार्ग्य आदि आचार्यों द्वारा हो चुका था, और वेद-मन्त्रों के अर्थ में उपमा की व्याख्या की जाती थी। यास्क के उपमाभेद काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आश्रित न होकर प्रयुक्त शब्दों का अनुगमन करते हैं, जैसा कि निरुक्तकार के विवेचन में स्वाभाविक है; परन्तु गार्ग्य आचार्य का उपमा का लक्षण प्राचीन आचार्यों के लक्षणों से अधिक भिन्न नहीं है। निरुक्त में 'उपमान',[२] 'निदर्शन'[३], 'आशीः'[४] आदि शब्दों का भी प्रयोग है।

भरत से पूर्व

यास्क और भरत के बीच में 'अलंकार' के कुछ शास्त्रीय शब्द वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त मिलते हैं, पाणिनि के सूत्रों[५], कात्यायन के वार्तिक, तथा पतंजलि[६] के भाष्य में तुलना सूचक शब्दों पर विशेष ध्यान जाता है। पाणिनि के समय तक उपमा के चारों अंग निर्दिष्ट हो चुके थे, कृत, तद्धित, समास आदि पर भी सादृश्य का प्रभाव पाणिनि की दृष्टि में था। 'उपमान' की व्याख्या में 'गौरिव गवयः' का जो अनलंकृत[७] उदाहरण पतंजलि ने दिया उसी का खण्डन[८] आगे चलकर अलंकार के आचार्यों ने किया। सारांश यह कि अलंकार का शास्त्रीय अध्ययन प्रारम्भ होने से पूर्व ही सादृश्य की भावना वेद तथा लोक दोनों में प्रतिष्ठित थी, और आचार्य तत्सम्बन्धी शब्दों के व्यवहार में भी एक मत थे। आलंकारिकों ने वैयाकरणों के प्रकल्प में अत्याधान किया; सादृश्य के साथ सौन्दर्य की अयुतसिद्ध भावना का प्राप्तकाल अवतरण हो गया; आगे चलकर सौन्दर्य प्रमुख बन गया और सादृश्य उसका साधन-मात्र।

वैयाकरणों से सर्वांशतः सहमत न होते हुए भी अलंकार के आचार्य उनकी विद्वत्ता से प्रभावित थे; अलंकारों की शास्त्रीय विवेचना करते समय आलंकारिकों की सादर

---

(१) अथेदानीं येषु लुप्यंते उपमाशब्दा इवादयस्तान्यवसरप्राप्तानि लुप्तोपमानि व्याख्यास्यामः। तानि पुनरिमानि अर्थोपमानि इत्येवमाचक्षते......... । (दुर्गाचार्यः)। (पं० मुकुन्द झा, पृ० १४२)।

(२) अस्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः। (७, ३१)।

(३) निदर्शनायोदाहरिष्यामः। (११, २)।

(४) इत्याशीः (१०, ४३)।

(५) दे० संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ६।

(६) दे० भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १७।

(७) मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थम् उपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति॥

(८) चमत्काराजनकं सादृश्यं नोपमालंकारः। यथा गौरिव गवयः। ('काव्यादर्श' की प्रभाख्या व्याख्या)।

दृष्टि वैयाकरणों पर ही जमी (दे० संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ८, तथा भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १८); पुराने सभी सिद्धान्तों को ललकारने वाले आनन्दवर्धन ने व्याकरण को सब विद्याओं का मूल[1] माना और वैयाकरणों को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् कहा। संस्कृत के प्राच्य विद्वानों में आज भी व्याकरण का तथैव आदर है।

अस्तु 'अलंकार-शास्त्र' से पूर्व 'अलंकार' और 'अलंकार' से पूर्वतर 'उपमा' (सादृश्य) का प्रकल्प वेद तथा भाषा दोनों में प्रतिष्ठित हुआ था। किस अलंकार का जन्म (आदि प्रयोग) तथा विवेचन किसके द्वारा हुआ---यह भी रोचक अध्ययन का विषय है। 'अलंकार' का शास्त्रीय रूप में प्रथम दर्शन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्य है, फिर भी भरत रस तथा नाट्य के समान अलंकार के भी आदि आचार्य नहीं हैं; और भरत के युग में 'अलंकार' का शास्त्रीय अर्थ स्थापित हो चुका था या नहीं---यह विचारास्पद है।

'अलंकार' की दृष्टि से 'अलंकार-शास्त्र' का, उपलब्ध सामग्री की छाया में, विधिवत् प्रारम्भ भामह के 'काव्यालंकार' से आरम्भ होता है। भामह से आनन्दवर्धन तक के काल में 'अलंकार' के अतिरिक्त 'गुण' तथा 'रीति' भी काव्य-सौंदर्य के मुख्य रूप स्वीकार[2] किये गये; भामह, दण्डी तथा वामन के नाम क्रमशः 'अलंकार', 'गुण', तथा 'रीति' के आदि आचार्यों के रूप में स्वीकृत किये जाते हैं। फिर आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया, फलतः उपर्युक्त तीनों प्रकल्पों की गति स्तब्ध हो गई और इतर आचार्य ध्वनि के निरसन में या उसके प्रख्यान में लग गये; आनन्दवर्धन और मम्मट के बीच का युग एतादृश ही है; ध्वनि के निरसन में वक्रोक्ति के प्रख्यात आचार्य कुन्तक का नाम स्मरणीय है। मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक 'रस' तथा 'अलंकार' दोनों का ही पारस्परिक विरोधपूर्वक शासन चलता रहा।

'अलंकार' की दृष्टि से 'अलंकार-शास्त्र' के संस्कृत आचार्यों का अध्ययन निम्नलिखित तालिका द्वारा संकेतित किया जा सकता है:---

१. उपक्रम---अलंकार; ऋग्वेद में; निरुक्त में,

२. भरत से पूर्व---वैयाकरणों में

३. भरत---

४. भामह से आनन्दवर्धन तक---भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, अग्नि-पुराणकार।

५. आनन्दवर्धन से मम्मट तक---आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज।

६. मम्मट से जगन्नाथ तक---मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट द्वय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ।

---

(१) प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
(ध्वन्यालोक, १, १३)।

(२) सम एसपेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत; पृ० १८।

भरत : नाटचशास्त्र

'नाटचशास्त्र' से काव्य-शास्त्र का निश्छिन्न अध्ययन प्रारम्भ होता है; परन्तु उसके रचयिता भरत का काल अद्यावधि निर्विवाद रूप से निश्चित नहीं है। 'महामुनि' तथा 'ऋषि' विशेषणों के द्वारा कुछ विद्वान् भरत को पुरातनता के गर्भ में छिपा देना चाहते हैं; दूसरी ओर ऐसे भी शोध-कर्त्ता हैं जो भरत नाम के व्यक्ति का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते---'भरत' शब्द उनके मत में जातिवाचक है व्यक्तिवाचक[१] नहीं। भवतु, हमारी काव्य-शास्त्रीय परम्परा में भरत की प्रतिष्ठा सर्वमान्य है, उनका जन्म ईसा के आसपास[२] ही हुआ होगा और उनकी मान्य कृति अपने वर्तमान रूप में अष्टम शती[३] से उत्तरकालीन नहीं सिद्ध की जा सकती।

नाट्यशास्त्र पर कम से कम ९ प्रख्यात आचार्यों ने टीका लिखी है, इन में से उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, तथा अभिनव गुप्त के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। वर्तमान रूप में नाटचशास्त्र तीन शैलियों में निबद्ध मिलता है जो इस रचना की विभिन्न विकासमान अवस्थाओं की सूचक हैं; ये शैलियां हैं--(१) आर्या तथा अनुष्टुप छंदों में अनुबद्ध पद्य, (२) सूत्र-भाष्य, तथा (३) कारिका।

नाटचशास्त्र में ३७ अध्याय हैं, जिन में 'नाटच' की उत्पत्ति से लेकर प्रतिष्ठा तक का समस्त इतिहास भी है और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण विधान भी सविस्तर समझाये गए हैं। फलत: रंगमंच, अभिनय, वेष-भूषा के साथ-साथ रस-भाव, छंदोविधान, अलंकार, ताल-वाद्य आदि की चर्चा भी प्रसंगत: इस कृति में सन्निविष्ट हो गई है।

नाटचशास्त्र का षोडश अध्याय 'अलंकार-लक्षण' है; यहां अलंकार शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त है, शास्त्रीय में नहीं; अत: इस अध्याय में सर्वप्रथम ३६ 'काव्य-विभूषण' हैं; फिर ४ अलंकार, १० काव्य-दोष और १० काव्यार्थ गुणों के अनन्तर इनका प्रयोग समझाया गया है (पृ० २५४ से २६९ तक)। वस्तुत: इस अध्याय में उन विशेषताओं की चर्चा है जिन से विभूषित काव्यबन्ध[४] विशेष आकर्षक बन सकते हैं। दोष के विपर्यय[५] को गुण कहते हैं, गुण और अलंकार प्राचीन आचार्यों ने साथ-साथ रखे हैं; अत: अलंकार, दोष और गुण की सहचर्चा युग का प्रतिफलन मात्र है। परन्तु काव्य-विभूषण की इस अध्याय में विवेचना अवश्य ही पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है। यदि काव्य-विभूषण भाग (प्रारम्भ के ४२ छंद) प्रक्षिप्त नहीं हैं तो इससे अनुसूच्य दृष्टिकोण की अवहेलना उचित नहीं। यूनानी काव्यशास्त्र[६] के अनुसार अलंकार उन विधाओं का नाम है जिन

---

(१) ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर पृ० २७-२८।
(२) सम एस्पैक्टस आफ लिटरेरी क्रिटीस्जिम इन संस्कृत पृ० १४।
(३) हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स पृ० २७।
(४) तैर्भूषिता बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः ॥११२॥
(५) गुणा विपर्ययादेषाम्। ९६।
(६) रिटोरिक इज़ दैट फैकल्टी बाइ व्हिच वी अंडरस्टैंड व्हाट विल सर्व अवर टर्म, कनसर्निंग एनी सब्जेक्ट टु विन बिलीफ़ इन दि हिअरर। (पृ० ८०)
(अरिस्टोटल: पोइटिक्स)

के प्रयोग द्वारा श्रोताओं के मन में वक्ता अपनी इच्छा के अनुकूल भावना जगा कर उनको अपना समर्थक बना सकता है। भरत के 'काव्य-विभूषण' भी वे युक्तियां हैं जिनका प्रयोग वक्ता को दूसरे के समक्ष अधिक सफल सिद्ध कर सकेगा। इन युक्तियों में से अनेक के नाम हमारे अलंकारों के नामों के समान ही हैं, यह तथ्य अलंकारों के जन्म पर कुछ अधिक प्रकाश डाल सकता है; परन्तु अन्य नामों में से कुछ के लक्षण (काव्य विभूषणों के उदाहरण नाट्यशास्त्र में नहीं हैं) हमारे यूनानी काव्य-शास्त्र से तुलना के इस अनुमान की पुष्टि करेंगे।

उदाहरण के लिए 'दाक्षिण्य', 'गर्हण', 'मनोरथ' तथा 'प्रियोक्ति' के लक्षण देखिये। हृष्टवदन, या अन्य समान चेष्टाओं द्वारा दूसरे का अनुवर्तन[1] 'दाक्षिण्य' है, दोष का संकीर्तन करते हुए गुण का अथवा गुण के संकीर्तन में दोष का चतुर संकेत 'गर्हण'[2] है; हृदय में छिपे हुए अर्थ को अन्य प्रकार से प्रकट करना मनोरथ[3] कहलाता है; प्रियोक्ति[4] उन हर्ष-प्रकाशक वचनों को कहते हैं जो पूज्य व्यक्ति के आदर हेतु प्रसन्न मन से कहे जायं।

षोडश अध्याय के ४५ श्लोकों (४३ से ८७ तक) में अलंकार-विवेचन है; लक्षण भी हैं तथा उदाहरण भी। काव्य के ४ अलंकार माने जाते हैं—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक[5]। काव्यबन्धों में सादृश्य द्वारा तुलना उपमा कहलाती है, इसका आधार है गुण या आकृति में समानता[6]। उपमा ४ प्रकार से संभव है—एक की एक के साथ, एक की अनेक के साथ, अनेक की एक के साथ, अनेक की अनेक के साथ (४५ से ४९ तक)। पुनः उपमा के ५ प्रकार हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किंचित् सदृशी (५० से ५५ तक)। विद्वानों को उपमा के इतने भेद ही संक्षेप में जानने चाहिएं; जो शेष भेद हैं वे लक्षण-उदाहरण-पुरस्सर यहां नहीं बतलाये जा रहे, उनको काव्य तथा लोक से स्वयं

---

(१) हृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत् परस्यानुवर्तनम् ।
क्रियते वान्यचेष्टाभि स्तद्दाक्षिण्यमिति स्मृतम् ।३०।

(२) यत्र संकीर्तयन् दोषं गुणमर्थेन दर्शयेत् ।
गुणातिपाताद् दोषाद्वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥३१॥

(३) हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम्
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥३६॥

(४) यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥४१॥

(५) उपमा, दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।४३।

(६) यत् किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥४४॥

ग्रहण करना चाहिए[1]। इस कथन से स्पष्ट है कि भरत को उपमा के और भी भेद ज्ञात थे, जिनको सामान्य समझकर उन्होंने शिष्यों के ऊपर ही छोड़ दिया, उनके लक्षण-उदाहरण की आवश्यकता न समझी।

रूपक के औपम्य का आधार रूप-निर्वर्णनायुक्त गुणाश्रय[2] हैं; इसमें किञ्चित् सादृश्य ही होता है अतः कल्पना से तुल्यता सम्पादित करनी पड़ती है[3]—रूपक में आकृतिसाम्य नहीं होता, केवल गुणसाम्य होता है, फिर भी वर्णन ऐसा किया जाता है मानो विषय और विषयी एकरूप ही हों। 'नाटचशास्त्र' में रूपक के भेद नहीं हैं।

विभिन्न अधिकरणों वाले अर्थ के द्योतक शब्दों का एक वाक्य के संयोग से कथन दीपक कहलाता है। इसके भेद नहीं दिये गये। उदाहरण से ज्ञात होता है कि भरत ने अ-प्रस्तुत-प्रस्तुत भाव स्वीकार नहीं किया, उनका दीपक एक क्रिया द्वारा भिन्नाधिकरण शब्दों का चमत्कारी संयोग मात्र ही है।

नाटचशास्त्र में यमक का विस्तार है (६२ से ८७ तक); क्योंकि आचार्य भरत शब्दाभ्यास[4] मात्र को यमक कहते थे। कसा हुआ लक्षण न देकर आचार्य ने लिखा है कि इसका विशेष दर्शन[5] जो मैं लिख रहा हूं उससे ग्रहण कीजिए। यमक के १० भेद हैं। यमक के वेष में अनुप्रास (विशेषतः लाटानुप्रास) भी आ गया है (८३)।

भामह : काव्यालंकार (सन् ५००-६०० के बीच)

भरत और भामह के बीच में काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्य भी हुए होंगे, जिनका संकेत 'काव्यालंकार' में पुनः पुनः प्रयुक्त 'अन्यैः', 'कैश्चिद्', 'अपरे', 'केचित्' आदि पदों तथा 'रामशर्माच्युत', 'मेधाविन्', 'राजमित्र' आदि नामों से प्राप्त होता है—'मेधाविन्' की सूचना तो अन्य[6] साधनों से भी मिलती है। परन्तु 'काव्यालंकार' से पूर्व इस विषय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता; इससे उत्तर आचार्यों ने 'काव्यालंकार' या उसके पर्याय-वाची[7] शब्दों से अपनी रचनाओं का नामकरण किया, और भामह-स्वीकृत अलंकारों की

---

(१) उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेया समासतः।
ये शेषा लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः ॥५६॥

(२) नानाद्रव्यानुषङ्गाद् यै यंद् औपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद् रूपकमिति स्मृतम् ॥५७॥

(३) स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित् सादृश्यसम्पन्नं यद् रूपं रूपकं तु तत् ॥५८॥

(४) शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।

(५) विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥६२॥

(६) श्री काणे, पृ० **xiii**

(७) 'काव्यादर्श' (दण्डी), 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' (उद्भट), 'काव्यालंकार-सूत्र' (वामन), 'काव्यालंकार' (रुद्रट), 'काव्यप्रकाश' (मम्मट), 'वाग्भटालंकार' (वाग्भट) आदि।

संख्या, क्रम तथा नामावली को ही अपनाकर प्रसंगतः तथा मत-उद्धरण के द्वारा प्रत्यक्ष-भाव से आचार्य भामह के प्रति आदर दिखाया है। अस्तु, भामह अलंकार-शास्त्र के आदि आचार्य हैं, इनका समय दण्डी से कुछ पूर्व ही है; अलंकार-सम्प्रदाय का इन्हीं से प्रवर्तन समझना चाहिए।

'काव्यालंकार' में ६ परिच्छेद हैं, परन्तु विवेचन ५ विषयों का ही है; 'अलंकृति-निर्णय' का विस्तार २ परिच्छेदों में है। प्रथम परिच्छेद में 'काव्य-शरीर-निर्णय', द्वितीय तथा तृतीय में 'अलंकृतिनिर्णय', चतुर्थ में 'दोष-निर्णय', पंचम में 'न्याय-निर्णय', तथा षष्ठ परिच्छेद में 'शब्द शुद्धि' है। भामह का काव्य-लक्षण[1] 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' आज भी मान्य है; महाकाव्य[2] का लक्षण भी उत्तरकालीन आचार्यों ने उनसे ही लिया है; आख्यायिका तथा कथा के अन्तर पर (२५ से २९ तक) सर्वप्रथम भामह ने विचार किया था; काव्य के उपयोग[3] तथा काव्य से दोष-त्याग[4] पर आपके स्वतन्त्र विचार हैं। भरत-स्वीकृत १० गुणों के स्थान पर भामह ने गुणत्रय का ही विवेचन किया है, तथा दोषों की संख्या अधिक मानी है।

भामह समस्त अलंकारों को वक्रोक्तिमूलक मानते हैं। अलंकार-प्रसंग में उनके निम्नलिखित विचार स्मरणीय हैं :—

(क) प्रकृत कांत होने पर भी वनिता के मुख पर भूषण के बिना आभा नहीं आती[5]

(ख) नितान्त प्रकृत रूप से वाणी में चारुता नहीं आती; वाणी की अलंकृति के लिए वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है[6]।

(ग) मनोहर वेश में दुरुक्त भी रमणीय लग जाता है[7]।

(घ) यह चन्द्रमुखी कन्या स्वभाव से ही मनोहर है; इसके शरीर पर कनक-भूषण शोभा की अतिशय[8] वृद्धि करेगा।

इस विचार-राशि का सारांश है कि अलंकार सौन्दर्य के विधायक हैं, जो उक्ति अन्यथा सुन्दर नहीं है उसको रमणीय बनाते हैं और जो प्रकृत सुन्दर है उसके सौन्दर्य में

---

(१) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा ।१।१६।

(२) सर्गबन्धो महाकाव्यम् . . . . ।१।१९।

(३) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।१।१२।

(४) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ।१।११।

(५) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।१।१३।

(६) न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।१।३६।

(७) सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।१।५४।

(८) इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा ।
अस्यां सुवर्णालंकारः पुष्णाति नितरां श्रियम् ।६।३०।

वृद्धि करते हैं; कान्ति प्राकृतिक गुण है, आभा आलंकारिक ।

'अलंकार' से भामह का अभिप्राय ऐसी शब्दोक्ति से है जो वक्रार्थ की विधायक हो। वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार नहीं है, क्योंकि अर्थ को विभामय करने वाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है[1] । 'काव्यालंकार' में समस्त वाङमय के दो भेद हैं---शास्त्र तथा काव्य[2]; काव्य शब्दार्थ उक्ति का नाम है, यह प्रकृत होगी अथवा वक्र (सालंकार); वक्र शब्दार्थोक्ति[3] (=सालंकार काव्य) आभामय है, प्रकृत शब्दार्थोक्ति (=निर्भूषं काव्यम्) कान्त हो सकती है विभापूर्ण नहीं । इसलिए भामह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते, उनमें शब्दालंकारों का भी महत्व कम है[4]; रस भी अलंकार के अधीन बन गया है ।

जो वक्रोक्ति अलंकार का प्राण है उसके बिना वस्तुतः काव्य भी नहीं होता; क्योंकि जो प्रकृत शब्दार्थोक्ति है उसमें आभा कहां रही, 'सूर्य छिप गया', 'पक्षी अपने नीड़ों को जा रहे हैं' इत्यादि शब्दार्थ उक्तियां वक्रोक्तिहीन होने के कारण काव्य की कोटि में भी नहीं आतीं, वे तो 'वार्त्ता'[5] मात्र ही हैं । इस प्रकार एक ओर 'अलंकार' तथा 'काव्य' शब्द तुल्यार्थक बन गये, दूसरी ओर 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का बीज जम गया ।

'काव्यालंकार' के द्वितीय परिच्छेद में गुणों की अतिसंक्षिप्त (१ से ३ श्लोक तक) चर्चा करके भामह अलंकार विषय पर आ गये हैं । इस परिच्छेद के चार भाग हैं । प्रथम भाग (५ से ३८ श्लोक तक) में वे ५ अलंकार हैं जिनको सभी आचार्य (संख्या कम करने के पक्षपाती भी) स्वीकार करते हैं; 'पंचैव' में 'एव' शब्द पर ध्यान देना पड़ेगा--- **पंचैवान्यैरुदाहृताः** । ये अलंकार हैं---अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, तथा उपमा[6] । भरत और भामह के बीच में अनुप्रास का जन्म हो गया था, शब्दालंकार का महत्व (प्रथम गणना करके) स्वीकार होने लगा था, तथा भरत के क्रम को ही आचार्य स्वीकार न करते थे---भरत ने पहिले अर्थालंकार रखे हैं, भामह ने प्रथम शब्दालंकार फिर अर्थालंकार; भरत का क्रम है उपमा, दीपक रूपक; भामह का सर्वस्वीकृत क्रम है ठीक विपरीत रूपक, दीपक, उपमा। यमक के अन्तर्गत (रामशर्माच्युत के मत से) प्रहेलिका भी आ गई है, परन्तु

---

(१) सैषा सर्वैव वक्रोक्ति रनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।२।८५।

(२) संकेत देखिए :---
गुरूपदेशाद् अध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।१।५।

(३) वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते ।५।६६।

(४) डा० शंकरन । पृष्ठ २२ ।

(५) गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ।२।८७।

(६) अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलंकारा पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ।२।४।

भामह काव्य की इस व्याख्यापेक्षणीयता[१] से संतुष्ट नहीं।

इस परिच्छेद के द्वितीय भाग (६७ से ८५ तक) में आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति ये अपर ६ अलंकार हैं; इनको भामह ने स्वीकार किया है, ये भामह द्वारा आविष्कृत नहीं हैं स्वीकृत मात्र है---'**षडलङ्कृतयोऽपराः**'; अनुमान से स्पष्ट है कि 'पंचैव' स्वीकार करने वाले इन ६ को मान्य नहीं समझते थे।

तृतीय भाग (८५ से ८७ तक) में हेतु, सूक्ष्म, तथा लेश अलंकारों का निरसन है। इस खण्डन का एक मात्र कारण यही है कि इन तथाकथित अलंकारों में **समुदायाभिधान**[२] है वक्रोक्ति नहीं, और भामह वक्रोक्ति को ही अलंकार का मूल मानते हैं।

चतुर्थ भाग (८८ से ९२) में यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों को दूसरों के मत से भामह ने लिख दिया है। अन्त में स्वभावोक्ति अलंकार (९३) की अवहेलनापूर्वक ('**इति केचित् प्रचक्षते**') चर्चा है।

इस प्रकार 'काव्यालंकार' के द्वितीय परिच्छेद में स्वयंकृत[३] निदर्शनों द्वारा भामह ने प्रचलित अलंकारों की संक्षिप्त चर्चा कर दी है क्योंकि इनके विस्तार की आवश्यकता न थी--- विस्तार तो बुद्धि को खिन्न ही बनाता[४]। इन अलंकारों के प्रति उस युग का दृष्टिकोण इस प्रकार दिखाया जा सकता है :---

सर्वस्वीकृत---	अनुप्रास, यमक, रूपक दीपक, उपमा	---५
सर्वप्रचलित भामह स्वीकृत---	आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना समासोक्ति, अतिशयोक्ति	---६
कैश्चित्स्वीकृत भामह-निरस्त---	हेतु, सूक्ष्म, लेश	---३
अन्य-स्वीकृत भामह-वर्णित---	यथासंख्य, उत्प्रेक्षा	---२
अन्य-स्वीकृत भामह-सतिरस्कार वर्णित---	स्वभावोक्ति	---१

आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' के तृतीय परिच्छेद में वाणी की चारु अलंकार-विधि का अनेकधा[५] विधान किया है। द्वितीय परिच्छेद के समान यह परिच्छेद संक्षिप्त नहीं है, प्रत्युत सविस्तर[६] है; और न इसमें अन्य कथित अलंकारों की चर्चा-मात्र ही

---

(१) काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त! दुर्मेधसो हताः। २।२०।

(२) हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।२।८६।

(३) स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं,
मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः।२।९६।

(४) समासेनोदितमिदं धीखेदायैव विस्तरः।२।९५।

(५) अतः परं चारुरनेकधापरो
गिरामलङ्कारविधिर्विधास्यते।२।९६।

(६) गिरामलंकारविधिः सविस्तरः।३।५८।

है, प्रत्युत आचार्य ने इस अलंकार विधि का उदय[1] अपनी गति से स्वयं सोच-सोचकर किया है। शंका हो सकती है कि इस परिच्छेद में भी 'अन्ये', 'अपरे', तथा 'निजगुः' 'विदुः' आदि प्रयोग आये हैं, क्या वे इस बात के द्योतक नहीं कि भामह ने दूसरों के मत से ही यह परिच्छेद भी लिखा है ? उत्तर में तीन बातें कही जा सकती हैं––(क) 'विदुर्बुधाः' (३, २५), 'इति आहुः' (३, ५३) आदि कथन काव्यालंकार में भी प्रयुक्त होते हैं, इनसे सर्वत्र परकीय मत का संकेत नहीं मिलता; (ख) इस परिच्छेद में आशी अलंकार आचार्य ने दूसरों के मत से लिखा है, जिसका प्रमाण है **'केषांचिद् अलंकारतया मता'** (३, ५५); यदि अन्य कोई अलंकार दूसरों के मत से लिखा जाता तो उसके साथ ही कुछ संकेत देना चाहिये था; (ग) जिन अलंकारों के विषय में शंका हो सकती है, उनमें से एक संसृष्टि भी है; भामह ने इसको **'वराविभूषा'** (३,४९) कहा है और इसके प्रयोग की प्रचारात्मक[2] सिफारिश की है। अन्त में लेखक के कथन पर विश्वास करते हुए यह मानना उचित है कि यह सविस्तर अलंकार विधि उसने **'स्वयं विनिश्चित्य'** स्वकीय धी से उदित की थी।

तृतीय परिच्छेद के ये अलंकार २३ हैं––प्रेयस्, रसवत्, ओजस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपन्हुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व। अन्त में आशी अलंकार है।

दण्डी : काव्यादर्श (सन् ६०० से पूर्व)

दण्डी गुण संप्रदाय के आचार्य हैं, दाक्षिणात्य साहित्य में इनकी स्पष्ट छाप स्वीकार की जाती है। भामह और दंडी में से कौन पूर्व था और कौन उत्तर, इसकी अद्यावधि निश्शंक स्थापना नहीं हुई, फिर भी भामह को पूर्ववर्त्ती ही माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह तथा दंडी अपनी रचना में एक दूसरे की आलोचना कर रहे हैं; वस्तुतः भामह और दंडी दो संप्रदायों के प्रतिनिधि हैं, उनमें व्यक्तियों की (अतः रचनाओं की) आलोचना नहीं है, संप्रदायों में प्रचलित मतों की आलोचना की गई है।[3] अतः यह संभव है कि दण्डी का समय भामह के अनन्तर हो, फिर भी भामह उन विचारों की आलोचना कर सके जिनका संग्रह आगे चल कर 'काव्यादर्श' में हुआ।

दण्डी की तीन रचनायें प्रसिद्ध हैं––काव्यादर्श, दशकुमार चरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा। 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र का ग्रंथ है। इसमें ३ परिच्छेद[4] तथा ६६० छंद हैं। प्रथम

(१) स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।३।५८।

(२) अन्येषामपि कर्त्तव्या संसृष्टिरनया दिशा।
कियद् उद्घट्टितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया।३।५२।

(३) श्री बनहट्टी, इंट्रोडक्शन, पृष्ठ XXI फुटनोट १।

(४) 'नाट्यशास्त्र' में 'अध्याय', 'काव्यालंकार' में 'परिच्छेद', 'काव्यादर्श' में 'परिच्छेद', 'काव्यालंकार-सूत्र' में 'अधिकरण', 'काव्यालंकार–सार-संग्रह' में 'वर्ग' तथा 'काव्यालंकार' (रुद्रट) में 'अध्याय' हैं।

परिच्छेद का नाम 'मार्ग-विभाग' है, इसमें काव्य-माहात्म्य, दोषनिन्दा, काव्य, सर्ग-बन्धलक्षण, गद्य-प्रभेद, मार्गनिरूपण आदि विषय हैं। दण्डी ने पूर्व शास्त्रों की सहायता से तथा प्रयोग को देखकर[1] काव्य-लक्षण लिखा है। भामह के समान यह आचार्य भी काव्य में दोष को सहन नहीं कर सकता (१,७)। दण्डी कृत महाकाव्य लक्षण (१४ से १९ तक) सभी उत्तर आचार्यों को मान्य रहा है। आख्यायिका और कथा के भेद में भामह से दण्डी का मतभेद है, वे मानो भामह को उत्तर देने के लिए ही कह रहे हैं कि 'अन्य वक्ता है या स्वयं ही, इससे क्या अन्तर आता है' (२३ से २८ तक); कथा और आख्यायिका एक ही वस्तु के दो नाम हैं[2]। वाणी का मार्ग, रचनाप्रकार या रीति इसी परिच्छेद में है और प्रसंगवश शब्दालंकार अनुप्रास तथा यमक भी आ गये हैं। अनुप्रास गौडप्रिय है, परन्तु दाक्षिणात्य (१, ६०) इसका प्रयोग नहीं करते; वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहते हैं (१, ५५); और वर्णसंघात की आवृत्ति को यमक (१, ६१)।

दण्डी के अलंकार-विषयक निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) सदलंकृत काव्य कल्पान्तर स्थायी बन जाता है[3]।

(ख) यद्यपि शब्दगत तथा अर्थगत अलंकार अर्थ में रस का सिंचन करते हैं, तथापि रस का भूयिष्ठ भार अग्राम्यता[4] ही वहन करती है[5]।

(ग) अलंकार वे धर्म हैं, जिनसे काव्य की शोभा होती है[6]।

इन संकेतों से यह स्पष्ट है कि दंडी काव्य में अलंकार को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना कि भामह; परन्तु इनमें भी अलंकार का आग्रह है। काव्य का मुख्य गुण तो रचना-शैली है, जो विदग्धजन पर निर्भर है, काव्य का प्रधान आकर्षण यही मनोहर रीति है[7]।

'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद में अलंकार (अर्थालंकार) हैं, ये काव्य के शोभाजनक धर्म हैं। इन अलंकारों का पूर्णता से कोई विवेचन नहीं कर सकता क्योंकि आज भी इनकी उद्‌भावना[8] हो रही है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने जिन अलंकारों की प्रकल्पना की है, उन्हीं के बीज[9] का यहां विशदीकरण है। कुछ अलंकार (अनुप्रास तथा यमक) प्रथम परिच्छेद

---

(१) पूर्वशास्त्राणि संहृत्य, प्रयोगानुपलक्ष्य च।१।२।

(२) तत कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।१।२८।

(३) काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।१।१९।

(४) अग्राम्यता ग्राम्यः हालिकादिप्राकृतजनव्यवहृतः तद्‌भिन्नः अग्राम्यः तस्य भावस्तत्ता। विदग्धजनव्यवहारः इति भावः (प्रभाख्या व्याख्या)।

(५) कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा।१।६२।

(६) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।२।१।

(७) वाचां विचित्रमार्गाणाम्............।१।९।

(८) ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यते।२।१।

(९) किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुम् अयमस्मत् परिश्रमः।२।२।

में मार्गविभागार्थ (२, ३) दिखाये जा चुके हैं; अब अन्य गौड-वैदर्भ-अनुमत (प्रभा टीका) अलंकारों का निरूपण है (२, ३)। इन अर्थालंकारों का वर्णन सविस्तर है, लक्षण-उदाहरण के अतिरिक्त भेद-प्रभेद भी हैं और अधिकतर का 'चक्र' वर्णित है। प्रारम्भ में ही अलंकार नामावली दी गई है।

भामह ने स्वभावोक्ति की अवहेलना की थी, परन्तु दंडी 'स्वभावाख्यान', 'स्वभावोक्ति' या 'जाति' को 'आद्या अलंकृति'[1] मानते हैं और इसीलिए इसका सर्वप्रथम विवेचन है; लोकयात्रानुवर्त्तन[2] को अन्यत्र सौंदर्य का मूल माना है; वे मानों भामह का खंडन करते हुए कहते हैं कि जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य के स्वभावाख्यान का शास्त्रों में साम्राज्य है[3] और काव्य में भी यही अभीष्ट है—इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तदनन्तर दण्डी ने भरत के क्रम को अपनाया है (भामह के क्रम को नहीं) अर्थात् (यमक तो प्रथम परिच्छेद में आ चुका था) उपमा, रूपक तथा दीपक अलंकार हैं। दीपक के अनन्तर 'आवृत्ति' नामक अलंकार है, जो 'आवृत्ति दीपक' होने के कारण 'दीपक' का ही एक भेद[4] स्वीकृत होना चाहिए।

शेष ३० अलंकारों को क्रम की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है—पूर्व वर्ग के ११ अलंकार तथा उत्तर वर्ग के १९ अलंकार। पूर्व वर्ग में ६ 'सर्व प्रचलित, भामह-स्वीकृत' अर्थालंकार उसी क्रम से हैं; तदनन्तर ५ (३ कैश्चित्स्वीकृत भामह-निरस्त, तथा दो अन्य-स्वीकृत भामह-वर्णित) अलंकार आये हैं—क्रम भिन्न है, 'भामह-वर्णित' में उत्प्रेक्षा सर्वप्रथम तथा क्रम (यथासंख्य) सबसे अन्त में है, 'भामह-निरस्त' का क्रम काव्यालंकारवत् ही है। 'काव्यालंकार' के 'लेश' और 'यथासंख्य' 'काव्यादर्श' में 'लव' तथा 'क्रम' हैं।

उत्तर वर्ग के १९ अलंकार 'काव्यालंकार' के तृतीय परिच्छेद के २३ अलंकारों के समान हैं। उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव यहां स्वतंत्र अलंकार[5] नहीं माने गये; उपमारूपक रूपक का ही एक भेद है (२, ८८), उपमेयोपमा यहां अनन्योपमा (२, १८) (उपमा का भेद) है, ससंदेह का नाम संशयोपमा (२, २६) अनन्वय का नियमोपमा (२, १९) है, तथा उत्प्रेक्षावयव को काव्यादर्श में अचेतनोत्प्रेक्षा (२, २२४) कहा जा सकता है। दण्डी ने आशी को स्वीकार किया है (२, ३५७)। इन १९ अलंकारों में प्रथम ६ का क्रम भामह के अनुसार है; शेष में किंचित् स्थान-विपर्यय है।

(१) स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।२।८।

(२) कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः।१।८८।

(३) जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य-स्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।२।१३।

(४) दीपकस्थान एवेष्टम्............।२।११६।

(५) अनन्वय-ससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ।
उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम्।२।३५८।
उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोपि च।२।३५९।

द्वितीय परिच्छेद दंडी ने पूर्वाचार्यों के अनुसार लिखा था, इसकी स्वीकृति[1] एक से अधिक स्थानों पर है। भामह को दृष्टि में रख कर ही मानो दण्डी ने लिखा है, स्थान-स्थान पर प्रतिद्वंद्विता से खंडन करते हुए। भामह अलंकार तथा काव्य का प्राण वक्रोक्ति को मानते थे, इसलिए हेतु आदि में उन्होंने अलंकारता न स्वीकार की (काव्यालंकार, २, ८६)। दण्डी ने विरोध करते हुए इनको उत्तम भूषण[2] माना; भामह का विरोध करते हुए दण्डी ने वाङमय के दो प्रकार[3] बतलाये हैं—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति; और स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से भी उच्च[4] स्थान दिया है।

द्वितीय परिच्छेद में ३४ अर्थालंकारों[5] का वर्णन करके दण्डी ने तृतीय परिच्छेद में 'शब्दालंकार-दोषविभाग' का विवेचन किया है। प्रथम परिच्छेद में अनुप्रास तथा यमक का प्रसंगवश लक्षण दिया था, और यमक के विस्तार की प्रतिज्ञा[6] की थी, अतः तृतीय परिच्छेद **'वर्णसंहति की आवृत्ति'** (=यमक) से प्रारम्भ होता है। यमक (१ से ७७ तक) के अनन्तर (चित्र ७८ से ९५) प्रहेलिका (९६ से १२४ तक) लिख कर १० दोषों का विवेचन किया गया है।

उद्‌भट : काव्यालंकार-सार-संग्रह (सन् ८०० के लगभग)

उद्‌भट की तीन रचनाएँ मानी जाती हैं—कुमारसंभव काव्य, भामह-विवरण, तथा अलंकार-सार-संग्रह[7]। अपने 'कुमार-संभव' से लेखक ने अलंकारों के उदाहरण लिये हैं, जिससे यह सत्य मानना पड़ता है कि उद्‌भट ने इस नाम का एक सुन्दर काव्य लिखा था। भामह-विवरण का निर्देश उत्तर आचार्यों ने किया है, परन्तु यह कृति भी उपलब्ध नहीं। 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' ही प्राप्य है जिस पर प्रतीहारेन्दुराज की प्रसिद्ध लघुवृत्ति नामक टीका भी है। अब तक के आचार्यों में उद्‌भट ही ऐसे हैं, जिन्होंने केवल अलंकार-विषय पर लिखा है। आचार्यों में उद्‌भट की प्रतिष्ठा है, परन्तु बूल्हर[8] ने लिखा है कि महाराज जयापीड़

---

(१) किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् ।२।२।
इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः ।२।७।

(२) हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।२।२३५।
अलंकारतयोद्दिष्टम्............ ।२।२३६।
देखिये काव्यालंकार (२, ८७) का उत्तर काव्यादर्श (२, २४४) में।

(३) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङमयम् (२, ३६३).

(४) शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।२।१३।

(५) कुछ आचार्यों ने दंडी के अर्थालंकारों की संख्या ३५ मानी है (काणे XXI, पोद्दार १३०, उपाध्याय ४९ पृष्ठ); परन्तु हम निवेदन कर चुके हैं कि 'काव्यादर्श' में 'आवृत्ति' स्वतंत्र अलंकार नहीं है, इसलिए संख्या ३४ ही माननी चाहिए।

(६) ....अतः पश्चाद् विधास्यते ।१।६१।

(७) इस कृति के कम से कम ४ नाम हैं—काव्यालंकार-सार-संग्रह (पोद्दार तथा बनहट्टी), अलंकार-सार-संग्रह (काणे तथा उपाध्याय), काव्यालंकार-संग्रह (डे), काव्यालंकार-सार (शंकरन)।

(८) श्री बनहट्टी द्वारा भूमिका, पृ० १२ पर उद्धृत।

से एक लाख दीनार दैनिक वेतन लेकर केवल अलंकार-विषय पर उद्‌भट ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी है और वह बड़े अहंकार के साथ अपनी कृति (कुमारसंभव) से उनके उदाहरण देता चलता है।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर उद्‌भट को भामह का अनुयायी कहना उचित है, यदि नाट्यशास्त्र पर भी उनकी टीका मिल जाय, (जैसा कि डा० शंकरन का अनुमान है[1]) तो उद्‌भट को काव्य-शास्त्र मात्र का आचार्य कहा जा सकेगा।

'काव्यालंकार-सार-संग्रह' १०० से कम पद्यों की एक छोटी सी कृति है, जो ६ वर्गों में विभक्त है—ये वर्ग रचना के न होकर वास्तव में विवेच्य विषय अर्थात् अलंकारों के हैं। कृति के आदि में कोई भी मुख-पद्य (आमुख) नहीं है, और न अंत में उपसंहार-रूप कुछ कहा गया है, लेखक ने न कहीं अपना नाम लिखा है, न रचना का उद्देश्य, और न प्रतिपाद्य विषय का संकेत ही किया है। यदि इस कृति को पूर्ण माना जाय तो यह अपने वर्तमान रूप में विचित्र है। हमारा अनुमान है कि उद्‌भट ने इसको पुस्तक रूप में नहीं लिखा; संभव है, यह कृति अनुपलब्ध 'भामह-विवरण' का ही एक अंश[2] हो; पुराने आचार्यों ने उद्‌भट को उद्धृत किया है उनकी कृति को नहीं और आधुनिक आचार्य उनकी रचना के नाम पृथक्-पृथक् लिखते हैं—दोनों ही वर्ग हमारे अनुमान के पोषक हैं।

अलंकार-वर्गों के बीज भामह में थे। यह उपरिलिखित भामह-प्रसंग में संकेलित हैं; परन्तु वर्गों का प्रत्यक्ष निर्देश सर्वप्रथम उद्‌भट में ही प्राप्त होता है। यह अनुमान निर्भ्रान्त नहीं कि ये वर्ग अलंकार-विकास की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं, प्रत्युत अधिक उचित यह है कि ये वर्ग भिन्न-भिन्न स्कूलों (सम्प्रदायों, वर्गों) के मत[3] का प्रतिनिधित्व करते हैं। भामह के समय में अलंकार-विषय पर कम-से-कम ४ विभिन्न प्रकार की विचार धाराएं पाई जाती थीं, भामह तथा उद्‌भट के बीच दो वर्ग-मान्यताएँ और पनप गईं। इस प्रकार उद्‌भट का वर्गीकरण वैज्ञानिक भले ही न हो इसको तत्कालीन अलंकार-संप्रदायों का भौगोलिक चित्र अवश्य मानना पड़ेगा।

---

(१) सम एस्पैक्टस ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म०, पृ० ३०।

(२) श्री काणे के अनुमान से यह कृति 'भामह-विवरण' का 'सार' है, यह अनुमान उचित नहीं; क्योंकि इस कृति में भामह की रचना का सार (समस्त विषय का सार) नहीं है, केवल एक विषय (अलंकार) का प्रसार है; यह वर्तमान रचना पुस्तक रूप में लिखी हुई नहीं मानी जा सकती।

(३) प्रत्येक वर्ग के साथ इस समकालीन मतभेद का संकेत है :—

इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिवुदाहृताः।१।२।
......अलंकारान् परे विदुः।२।१।
अपरे त्रीन् अलंकारान् गिराम् आहुः अलंकृतौ।३।१।
......अलंकारान् परे विदुः।४।१।
......जगदु रलंकारान् परे गिराम्।५।२।
......अलंकारान् परे विदुः।६।१।

उद्भट के अलंकारों का वर्गानुसार विवरण इस प्रकार है :—

प्रथम वर्ग	८ अलंकार	पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट अनुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा। (४ शब्द के, फिर ४ अर्थ के)
द्वितीय वर्ग	६ अलंकार	आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।
तृतीय वर्ग	३ अलंकार	यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।
चतुर्थ वर्ग	७ अलंकार	प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।
पंचम वर्ग	११ अलंकार	अपन्हुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।
षष्ठ वर्ग	६ अलंकार	ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टांत।

यदि प्रथम वर्ग के शब्दालंकारों को अलग कर लें तो ३ सनातन अर्थालंकारों का क्रम भामह तथा उद्भट में समान है; इस वर्ग में प्रतिवस्तूपमा नया आ गया है, परन्तु यह दण्डी में भेद रूप में था, फिर भी इसकी स्वतंत्र स्वीकृति प्रथम बार यहीं दिखाई पड़ती है। द्वितीय वर्ग में 'सर्वप्रचलित भामह-स्वीकृत' अलंकार हैं। 'काव्यालंकार' के द्वितीय परिच्छेद के शेष तीन अलंकार उद्भट ने तृतीय वर्ग में रखे हैं—हेतु, सूक्ष्म तथा लेश में अलंकारता न भामह ने मानी है, न उद्भट ने। चतुर्थ वर्ग में 'काव्यालंकार' तृतीय परिच्छेद के प्रथम ७ अलंकार हैं; पंचम वर्ग में उक्त स्थल के दूसरे ११ अलंकारों में से उसी क्रम से १० ले लिये—उपमारूपक दण्डी के समान उद्भट ने भी स्वीकार नहीं किया; उद्भट ने 'संकर' नाम का नया अलंकार बना डाला है। षष्ठ वर्ग में 'काव्यालंकार' (तृतीय परिच्छेद) के अन्तिम पांच अलंकारों में से चार उसी क्रम से ले लिये गए हैं—दण्डी के समान उत्प्रेक्षावयव को स्वतंत्र नहीं माना गया; काव्यलिंग और दृष्टांत नये अलंकार हैं।

इस आचार्य के विषय में ध्यान देने के कुछ दूसरे तथ्य भी हैं। इस आचार्य ने भामह का अनुकरण करते[1] हुए और 'काव्यालंकार' को मूलाधार मानते हुए भी दण्डी की छाया में कुछ परिवर्त्तन किये हैं—उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को स्वतंत्र अलंकार नहीं माना। जहां उद्भट के विचार भामह के विचारों से मिलते हैं, वहां उन्होंने नवीनता की आवश्यकता नहीं समझी, जो उचित ही है[2]; परन्तु जहां मत-भेद है, वहां साहसपूर्वक स्व-मत का प्रतिपादन किया है। पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यहेतु, (काव्यलिंग) और काव्य-दृष्टांत

(१) विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, ससन्देह, अनन्वय आदि के लक्षण देखिए।

(२) श्री बनहट्टी, भूमिका पृ० XVI।

(दृष्टांत) तो नितान्त नवीन अलंकार हैं; उपमा का नवीन वैज्ञानिक विवेचन है; जिसको आगे चल कर मम्मट ने ज्यों का त्यों अपना लिया।

उद्भट ने 'निदर्शना' को 'विदर्शना' लिखा है, जो लिपिकार[1] की भूल नहीं है, क्योंकि प्रतीहारेन्दुराज ने 'विदर्शना' शब्द की ही व्याख्या की है (५, १० पर वृत्ति)। नाम-परिवर्तन उद्भट में मिलता है; सूची में पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और काव्यदृष्टांत नाम हैं, परन्तु लक्षणों में इनके नाम क्रमशः पुनरुक्ताभास, काव्यलिंग तथा दृष्टांत हैं। प्रत्येक वर्ग के आदि में अलंकारों की जो सूची है, उसके क्रम को विवेचन में ज्यों का त्यों नहीं अपनाया (प्रथम वर्ग, पंचम वर्ग) गया। लाटानुप्रास की स्वीकृति भामह के समय में ही होने लगी थी, उद्भट ने केवल लाटानुप्रास को ही नहीं, छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास को भी स्वतंत्र अलंकारत्व प्रदान कर दिया; शब्दालंकार का इतना महत्त्व उद्भट का विशेष दृष्टिकोण ही दिखलाता है। पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग और दृष्टांत के कारण उद्भट अलंकार-शास्त्र में सदा स्मरण किये जायेंगे।

उद्भट ने यमक का वर्णन नहीं किया। उस यमक का जो भरत से लेकर आज तक के आचार्यों में मान्य रहा है, और यमक का अन्य अलंकार में अन्तर्भाव भी नहीं किया। प्रमादवश,या सैद्धांतिक रूप से? ऐसे आचार्यों के विषय में प्रमाद की शरण नहीं ली जा सकती। तब जानबूझ कर उद्भट ने यमक का बहिष्कार किया है। संभव है, दण्डी के अनुकरण पर उद्भट ने यमक को अलंकारों के साथ रखना उचित न समझा हो, क्योंकि वे उसको चित्र-काव्य का सजातीय मानते हों; और या तो अलंकारेतर वस्तु का विवेचन अभीष्ट न मानकर यमक को भी छोड़ दिया हो, या अलंकारेतर वस्तु का विवरण 'भामह-विवरण' के अनुपलब्ध अंश में हो, अतः उपलब्ध अंश (अलंकार-सार) यमक-वंचित रह गया हो। दण्डी ने यमक में एकान्तमाधुर्य[2] का निषेध करते हुए प्रथम परिच्छेद में यह कहा था कि इसका वर्णन फिर करेंगे, क्या उद्भट को यह उक्ति इतनी पसंद आई कि अपनी कलम से वे यमक को 'पश्चात्' का भी सौभाग्य प्रदान न कर सके?

वामन : काव्यालंकार-सूत्र (सन् ८५० से पूर्व)

आचार्य वामन ने अलंकार, गुण तथा रीति का काव्य में सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गुण के कारण[3] पद रचना में जो एक विशेषता[4] आ जाती है, उसे रीति कहते हैं, यह (वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली) रीति ही काव्य की आत्मा[5] है; दोष-त्याग तथा गुण-अलंकार-आदान[6] से काव्य में सौंदर्य उत्पन्न होता है, जिसको अलंकार[7] कहते

(१) श्री काणे, पृ० XLII
(२) तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते।१।६१।
(३) विशेषो गुणात्मा।१।२।८।
(४) विशिष्टपदरचना रीतिः।१।२।७।
(५) रीतिरात्मा काव्यस्य।१।२।६।
(६) स दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम्।१।१।३।
(७) सौंदर्यमलङ्कारः।१।१।२।

हैं, अलंकार के ही कारण काव्य तद्वेत्ताओं को ग्राह्य[1] बनता है। इस प्रसंग में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है---संकीर्ण अर्थ में 'अलंकार' काव्य के वे धर्म हैं, जिनको दण्डी ने 'शोभाकर' कहा था, व्यापक अर्थ में सौंदर्य-मात्र को अलंकार कहते हैं, इसके अन्तर्गत वे सभी विधायें आ जाती हैं, जिनके कारण काव्य हमारे मन को आकृष्ट करता है।

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में काव्य-पद्धति या रचना-शैली को मुख्यता स्वीकार करते हुए प्रथम परिच्छेद में ही रीति की विवेचना की थी, वामन ने उसी सत्य का आग्रह करते हुए रीति को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया। परन्तु दण्डी और वामन का अलंकार विषय में कट्टर मतभेद है, दण्डी ने अलंकार को 'शोभाकर'[2] धर्म माना था, वामन उनका विरोध करते हैं---शोभाकर धर्म तो गुण है,[3] अलंकार शोभा के कर्त्ता नहीं, अतिशयिता हैं[4]। यदि प्रश्न किया जाय कि दोनों का अन्तर क्या है, तो यह कहा जायगा कि गुण रीति रूप में व्यक्त होता हुआ काव्य का नित्य[5] धर्म (अथवा आत्मा) बनता है (उपर्युक्त विवेचन देखिये), और अलंकार का सौंदर्य स्वतःसंभव न होने के कारण अनित्य या बाह्य है। प्रसंगतः, हमारा ध्यान 'काव्यादर्श' (प्रथम परिच्छेद) के उस स्थल पर जाता है जहां यमक में एकान्त माधुर्य का निषेध करते हुए उसके पश्चाद्विधान का कथन है; टीकाकार लिखते हैं कि वर्णावृत्ति के कारण जैसी चारुता अनुप्रास में संभव है, वैसी वर्णसंघात की आवृत्ति करने वाले यमक में नहीं और यमक के अर्थावबोध में क्लेश होता है, अतः यमक रसोपकारक[6] नहीं है। वामन का गुण को महत्त्व-प्रदान दण्डी के इसी बीज से प्रभावित जान पड़ता है। गुण रीति रूप में व्यक्त होता है, रसोपकारक है, नित्य है, अलंकार अर्थनिरपेक्ष नहीं, स्वतोमधुर नहीं, बाह्य है।

वामन की कृति 'काव्यालंकार-सूत्र' ही अद्यावधि प्राप्त काव्यशास्त्रीय रचनाओं में एकमात्र ऐसी रचना है, जो सूत्र-शैली में लिखी गई है; परन्तु इनकी सूत्र-शैली की एक विचित्रता भी है---सूत्रों का विभाजन अध्यायों में होता है और प्रत्येक अध्याय में कतिपय अधिकरण हुआ करते हैं; वामन ने अधिकरण को अध्यायों में विभक्त किया है, न कि अध्याय को अधिकरणों में। 'काव्यालंकार-सूत्र' का भामह के 'काव्यालंकार' से कोई निकट संबंध नहीं जान पड़ता, काव्य-सौंदर्य के विवेचक सूत्र 'काव्यालंकार-सूत्र' कहे गये हैं। वामन

---

(१) काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।१।१।१।
(२) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (काव्यादर्श, २, १)।
(३) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।३।१।१।
(४) तद्‌तिशयहेतवस्त्वलङ्कारा: ।३।१।२।
(५) पूर्वे नित्याः।३।१।३।
(६) ......वृत्त्यनुप्रासोदाहरणेषु अन्तरान्तरा एकवर्णावृत्या यादृशी चारुता न तादृशी... स्वरव्यंजनसंघातावृत्तिरूपे यमके। अपरं च वर्णसंघातावृत्तौ अर्थावबोधः क्लेशेन भवति ......। तथा च यमके अर्थानुसंधानव्यग्रतया रसप्रतीते विलम्बेनोद्भवात्रेयं रचना रसोपकारिका। (प्रभाख्या व्याख्या)।

ने इन सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं लिखी[1] है, जिसका नाम 'कविप्रिया' है, इस प्रकार इस रचना के तीन अंग हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण। इस पुस्तक में पांच अधिकरण हैं और प्रत्येक अधिकरण में २ या ३ अध्याय (पूर्ण योग १२) हैं। चतुर्थ अधिकरण का नाम 'आलंकारिक' अधिकरण है, इसमें अलंकार विषय का विवेचन है।

आलंकारिक अधिकरण का प्रथम अध्याय 'शब्दालंकार-विचार' है। शब्दालंकार के दो भेद हैं—यमक तथा अनुप्रास। स्थान के नियम से अनेक पद अथवा अक्षर[2] की आवृत्ति यमक है; शेष सरूपता[3] को अनुप्रास कहते हैं। वामन ने शब्दालंकार को अर्थालंकार से अलग तो कर दिया, परन्तु शब्दालंकार को संक्षिप्त बना दिया, यदि पूर्व-स्वीकृत पुनरुक्तवदाभास को नहीं लिखना था, तो यमक तथा अनुप्रास के सर्वमान्य भेदों को तो दे देते।

द्वितीय अध्याय में 'उपमा-विचार' है; इसके भेद और दोष भी दे दिये गए हैं; स्तुति, निन्दा और तत्त्वाख्यान को उपमा के 'प्रयोग' (प्रयोजन) माना गया है, भेद नहीं (४, २, ७)। उपमा अर्थालंकारों की मूल[4] है, शेष अर्थालंकार उसी के प्रपंच हैं, इसलिए तृतीय अध्याय का नाम 'उपमा-प्रपंच-विचार' रखा गया है।

उपमा-प्रपंच के २८ अलंकार[5] हैं। प्रतिवस्तूपमा सर्वप्रथम है, कारण यह कि पिछले अध्याय में कथित उपमा-भेद वाक्यार्थोपमा से प्रतिवस्तूपमा का सादृश्य अधिक है, इसलिए इसी का भेद[6] दिखलाया गया है। अलंकारों के क्रम में कोई वर्ग-सिद्धांत या अनुकरण नहीं ज्ञात होता, सूत्रशैली की सुविधा को ही ध्यान में रखा गया है। उपमेय की उक्ति में (समान वस्तु का न्यास) प्रतिवस्तु (४, ३, २) है, अनुक्ति में समासोक्ति (४, ३, ३), किंचिदुक्ति में अप्रस्तुतप्रशंसा (४, ३, ४) आदि-आदि। सूत्रशैली से उपमा-प्रपंच के लक्षण आचार्य के मनोयोग के द्योतक हैं, उसने मंथन और मनन के उपरान्त ही लिखा है।

इन २८ अलंकारों में वक्रोक्ति और व्याजोक्ति नवीन हैं। भामह तथा दण्डी के ८ अलंकार—स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक, तथा आशी—

---

(१) प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।

(२) पदम् अनेकार्थम् अक्षरं वा ऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम्। ४।१।१।

(३) शेषः सरूपोऽनुप्रासः। ४।१।८।

(४) तन्मूलं चोपमेति......... । (४, २ मुखवृत्ति)।

(५) श्री पोद्दार तथा श्री काणे ने अलंकारों की संख्या ३३ (२ शब्दालंकार + उपमा + ३० उपमाप्रपंच के अलंकार) मानी हैं, परन्तु उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव यहां संसृष्टि के भेद-मात्र हैं, स्वतंत्र अलंकार नहीं, वामन ने संसृष्टि का उदाहरण नहीं दिया और उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को स्पष्टतः उसके भेद बतलाया है। (तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ। ४, ३, ३१): अतः अलंकार-संख्या ३१ मानना ही उचित है, (२ शब्दालंकार + १ उपमा + २८ उपमाप्रपंच)।

(६) वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुम्......। (४, ३, १ वृत्ति)।

वामन ने नहीं लिखे। हेतु, सूक्ष्म और लेश भी छोड़ दिये हैं। उद्‌भट के काव्यलिंग और दृष्टांत भी यहां नहीं हैं। विशषोक्ति का लक्षण [1] विलक्षण है, और वृत्ति में **'रूपकं चेदं प्रायेण'** लिखकर यह संकेत भी दे दिया है कि आचार्य जानता था कि इसमें अलंकार रूपक ही हुआ—पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार यहां रूपक ही माना जायगा; वामन के उदाहरण [2] भी इसी मत के समर्थक हैं। वामन के आक्षेप का एक रूप **'तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षा'** उत्तर आचार्यों का प्रतीप है, और दूसरा रूप **'उपमानस्य आक्षेपतः प्रतिपत्तिः'** उत्तर आचार्यों का समासोक्ति है।

रुद्रट : काव्यालंकार (सन् ८००—८५० के बीच)

रुद्रट संक्रांति-युग के आचार्य हैं; इसलिए इनका प्रयत्न समन्वय का है; उन्होंने १६ अध्यायों के अपने 'काव्यालंकार' में काव्यशास्त्र के समस्त अंगों की समीक्षा [3] की है; उनके समय में अलंकार, गुण और रीति के संप्रदाय पूर्ण विकसित हो चुके थे और ध्वनि-सम्प्रदाय का उद्‌भव हो रहा था [4]। रचना के प्रारम्भ में उन्होंने बतलाया है कि इस कृति के द्वारा कविजनों की मति उदार होगी और वे अपनी रचना को सर्वांग-विभूषित कर सकेंगे (१, ३); लगभग प्रत्येक अध्याय के अन्त में इस प्रकार के संकेत हैं।

श्री. काणे ने रुद्रट को अलंकार-संप्रदाय का आचार्य माना है (इंट्रोडक्शन पृष्ठ LIV), परन्तु डा० शंकरन उनको समन्वयवादी मानते हैं (पृ० ३४)। इसमें संदेह नहीं कि अपनी पुस्तक का नाम 'काव्यालंकार' लिख कर ही रुद्रट अलंकारवादी नहीं हो सकते; १६ में से अन्तिम ५ अध्याय तो उन्होंने केवल रस-विषय में लगाये हैं। परन्तु उनको अलंकारवादी कहने की कुछ बलीयसी तर्कें भी हैं। रुद्रट ही अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले प्रथम आचार्य हैं, उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय अलंकार ही है; और उनकी अलंकार-संख्या उस समय तक के सब आचार्यों से अधिक है। अतः रसयुक्त [5] काव्य का उपदेश देने पर और प्रेयस [6] नामक रस की स्वतंत्र विवेचना करने पर भी उनको समन्वयवादी [7] आचार्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि उन्होंने नायक-नायिका भेद भी लिखा है, परन्तु समस्त रस-

---

(१) एक गुणहानिकल्पनायां साम्य-दार्ढ्यं विशेषोक्तिः। ४, ३, २३।

(२) 'व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासं मरणम्'। 'द्विजो भूमिबृहस्पतिः'।

(३) श्री काणे, LII

(४) डा० शंकरन, ३४।

(५) तस्मात् तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।१२।२।

(६) स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्............ ।१५।१७।
अन्योन्यं प्रति सुहृदो र्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ।१५।१८।

(७) दण्डी के विपरीत उद्‌भट ने काव्य के आकल्प स्थायित्व का कारण रस को माना है, अलंकार को नहीं :—
ज्वलद् उज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।१।४।
इससे पूर्व अलंकार का महत्त्व भी वे स्वीकार करते हैं :—

विषय को उतना भी विस्तार नहीं मिला, जितना कि यमक और श्लेष को। अस्तु, रुद्रट का विशेष आग्रह अलंकार की ओर ही प्रतीत होता है।

इस 'काव्यालंकार' में १६ अध्याय हैं। प्रथम में ग्रंथ-प्रयोजन, काव्य-प्रयोजन आदि हैं। द्वितीय से पंचम तक ५ शब्दालंकार, तथा सप्तम से दशम तक अर्थालंकार हैं। सप्तम में शब्द-दोष, एकादश में अर्थ-दोष, एवम् उपमा-दोष हैं। द्वादश से पंचदश तक रसविषय तथा षोडश अध्याय में महाकाव्यादिलक्षण हैं।

शब्दालंकार ५ हैं---वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (वृत्यनुप्रास), यमक (अनेक[1] भेद), श्लेष (८ भेद), तथा चित्र (अनन्त[2] भेद)। शब्दालंकार का यह पूर्ण वर्णन है परन्तु न जाने क्यों अनुप्रास के अन्य भेद छोड़ दिये गए हैं। वक्रोक्ति के ये भेद सभी उत्तर आचार्यों ने स्वीकार किये हैं। यमक के विषय में रुद्रट ने लिखा है कि यह प्रायः छन्द[3] में पाया जाता है; और श्लेष को वे निपुण महाकवि[4] द्वारा साध्य बताते हैं, क्योंकि इसके लिए व्याकरण, देश-भाषाएँ, अभिधानकोष आदि का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है; इसी प्रकार चित्र के विषय में भी[5] लिखा है। चित्र के अन्तर्गत प्रहेलिका, कारक-गूढ़, प्रश्नोत्तर आदि भी हैं।

भामह तथा उद्भट का अलंकार-वर्गीकरण तो तत्कालीन स्कूलों पर आश्रित था; परन्तु वामन ने समस्त अर्थालंकारों को उपमा का प्रपंच माना, जिस मान्यता के संकेत दण्डी में खोजे जा सकते हैं; रुद्रट का वर्गीकरण वामन-शैली का है। इन्होंने ४ मूल अर्थालंकार माने हैं--वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष तथा निःशेष अलंकारों को इन्हीं ४ का विशेष[6] (रूपान्तर) स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण विश्लेषणात्मक है, भौगोलिक नहीं। इसलिए यह अधिक वैज्ञानिक है। फिर भी एक से अधिक वर्ग में एक ही नाम के अलंकार आ गये हैं, क्योंकि अलंकारों का जन्म सिद्धांतों को दृष्टि में रख कर तो होता नहीं। फलतः ऐसा भी प्रतीत होता है कि एकही अलंकार एक से अधिक वर्गों में है (श्री काणे, Liii); सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर वास्तव वर्ग में भी हैं और औपम्य-वर्ग में भी, उत्प्रेक्षा और पूर्व औपम्य-वर्ग में भी हैं तथा अतिशय-वर्ग में भी, हेतु वास्तव तथा अतिशय दोनों

काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति।१।३।
और आगे चारुत्व को रचना के लिए आवश्यक माना है ---
रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम्।२।९।
इस प्रकार अलंकार, रस और चारुत्व तीनों ही काव्य के मुख्य अंग बन गये।

(१) अपरम् असंख्यं सदेवास्ति।३।५६।
(२) भेदै विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मि नैतवलम्।५।४।
(३) प्रायश्छंदांसि विषयोऽस्य।३।१।
(४) श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात्।४।३५।
(५) चित्रं विचित्रं सुकवि विदध्यात्।५।३३।
(६) अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।७।९।

वर्गों में आ गया है। यदि लक्षणों पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि एक ही अलंकार दो वर्गों में नहीं हैं, प्रत्युत एक ही नाम के दो अलंकार दो भिन्न वर्गों में रखे हुए हैं। वास्तव-वर्ग में सहोक्ति तीन प्रकार की है—कर्तृभूतार्थ (७, १३), कर्मभूतार्थ (७, १५) तथा तुल्यार्थ (७, १७) और सर्वत्र ही कार्यकारणभाव विद्यमान है; इसके विपरीत औपम्य-वर्ग की सहोक्ति में कार्यकारण का अभाव तथा औपम्य का भाव होता है, इसके दोनों भेदों में चमत्कार[1] अधिक है। यदि इन अलंकारों के नाम भी अलग होते तो पाठक भ्रम में न पड़ता। रुद्रट ने इस वर्गीकरण में, उद्भट के समान, 'वर्ग' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया; वे तो ४ ही अर्थालंकार मानते हैं और शेष को इन्हीं के 'विशेष' या 'भेद'।

'वास्तव' अर्थालंकार-मूल में सर्वप्रथम वर्णित है, कारण समझ में नहीं आता, यदि इसका स्वरूप अधिक निश्चित होता तब भी यह प्रथमता का अधिकारी बन जाता, परन्तु इसका लक्षण[2] तो 'वस्तुस्वरूपकथनम्' के साथ-साथ यह भी कहता है कि न औपम्य हो, न अतिशय, न श्लेष, वही वास्तव है। वास्तव के २३ 'विशेष' (= भेद) हैं; जिनमें से १४ नाम नये हैं—समुच्चय, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित तथा एकावली। इस वर्ग को प्रथम स्थान देने का एक ही कारण हो सकता है कि इसके 'विशेषों' की संख्या सर्वाधिक है। 'भाव' के अतिरिक्त इस वर्ग के सभी नवीन अलंकार आचार्यों ने अपना लिये हैं।

औपम्य में स्वरूप-साम्य होता है। इसके २१ विशेष हैं; जिनमें ८ नवीन हैं—मत, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य तथा स्मरण। प्रतीप, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक तथा स्मरण आगे चल कर प्रतिष्ठित हो गये। अतिशय के १२ विशेष हैं, ६ पूर्व-स्वीकृत तथा ६ नवीन—विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति, पिहित, व्याघात। श्लेष (अर्थ-श्लेष) के १० भेद हैं—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास। व्याजश्लेष तो व्याजस्तुति ही है, विरोधाभास स्वतंत्र अलंकार बन गया था।

इस प्रकार रुद्रट ने कई नवीन अलंकारों का आविष्कार किया या कम से कम अन्य आचार्यों से ग्रहण कर इनका संपादन किया; उनका वर्गीकरण भी अधिक वैज्ञानिक माना जाता है। वे भामह, दण्डी और वामन की कोटि के न हों, फिर भी उद्भट की श्रेणी के आचार्य थे।

आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक (सन् ८४०—८७० के बीच)

'ध्वन्यालोक' के साथ काव्यशास्त्र का नवीन अध्याय प्रारम्भ हो गया और ध्वनि

(१) सपदि मधौ निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः ।८।१००।
स त्वां बिभर्ति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धम् ।८।१०२।
तुलना कीजिये :—
मादकता-से आये तुम, संज्ञा-से चले गये थे।
हम व्याकुल पड़े बिलखते, थे उतरे हुए नशे-से ।। (प्रसाद : आंसू)।

(२) पुष्टार्थम् अविपरीतं निरुपमम् अनतिशयम् अश्लेषम् ।७।१०।

की प्रतिष्ठा सदा के लिए हो गई। अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से ध्वनिकार ने अलंकार, गुण, रीति तथा रस तक को ध्वनि में अन्तर्भूत कर दिया। स्वभावतः ध्वनि का विरोध भी हुआ और वक्रोक्ति तथा अनुमान के नवीन सम्प्रदाय चालू हुए। परन्तु कालान्तर में आचार्यों को अलंकार, गुण तथा रीति का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी ध्वनि तथा रस का शासन स्वीकार करना पड़ा।

'ध्वन्यालोक' ४ उद्योतों का ग्रंथ है। इसके ३ अंग हैं—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। उदाहरण तो अन्यरचित है, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना हैं या नहीं—इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम ३ उद्योतों पर अभिनव गुप्त की 'लोचन' नामक टीका बड़ी प्रामाणिक है। ध्वनिकार की यही विशेषता है कि उनकी प्रतिभा से सभी आचार्य प्रभावित हुए हैं और उनकी रचना को युगान्तरकारिणी सभी ने माना है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (१, १) इस सिद्धांत को जानते हुए भी कुछ लोग ध्वनि का अभाव मानते हैं या उसको अवाग्गोचर कहते हैं, ध्वनिकार ने उसी की स्थापना इस पुस्तक में की है। सहृदयश्लाघ्य काव्यार्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य तथा प्रतीयमान; वाच्यार्थ उपमादि के द्वारा प्रसिद्ध है, उसका दूसरे[1] आचार्य प्रतिपादन कर चुके हैं; प्रतीयमान कुछ और ही है, वह महाकवि की वाणी में उसी प्रकार झलकता है, जिस प्रकार रमणी के अंगों में लावण्य[2]—कविता-रमणी के अंग, आभूषण, वस्त्र आदि से भिन्न एक नैसर्गिक संवेद्य आभा का नाम ही ध्वनि है। अलंकार[3], गुण, वृत्ति आदि अंगीभूत ध्वनि के अंगमात्र हैं, जो मिलकर ही अंगी के कारणभूत होते हैं। शब्द और अर्थ काव्य के अंग हैं,[4] अलंकार आभूषण हैं, और ध्वन्यमान रस आत्मा है।

ध्वनिकार ने अलंकार का विरोध तो नहीं किया परन्तु वे उसको उपकारकमात्र मानते हैं—वह स्वाभाविक हो, रसाक्षिप्त[5] हो। महाकवि के प्रयत्न बिना ही कुछ सरस[6]

---

(१) तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः, ततो नेह प्रतन्यते।१।३।

(२) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।१।४।

(३) तस्य पुनरङ्गानि, अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति......। (१, कारिका ११ पर वृत्ति)

(४) तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्व लङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।२।६।

(५) रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग् यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।२।१६।

(६) रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग् यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते॥ (२, कारिका १६ पर वृत्ति)।

वस्तुएँ सालंकार बन जाती हैं, परन्तु यमकादि के लिए शक्त कवि को भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है; क्योंकि अलंकार चारुत्व का हेतु होने पर भी बाह्य[1] है। बाह्य अलंकारों को आनन्द-वर्द्धन ने वाणी की अनन्त शैलियां[2] माना है; अतः प्रत्येक अलंकार का स्वरूप कथन करने पर भी समस्त अलंकार-विधि का विवेचन नहीं हो सकता।

आनन्दवर्धन रस-भाव-विवक्षा के अभाव में सालंकार रचना को चित्र[3] मानते हैं; जहां रस-भाव-विवक्षा होगी, वहां ध्वनि[4] अवश्य होगी। समासतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अलंकार-विभूषित होने पर भी कुलांगनाओं की मुख्य भूषा[5] लज्जा ही है, उसी प्रकार सालंकृत सरस्वती भी प्रतीयमानार्थ की छाया से ही रमणीय लगती है।

ध्वनि की प्रतिष्ठा से अलंकार को दो प्रकार से हानि पहुँची। प्रथम तो अलंकार के निरसन से उदीयमान आचार्य उस ओर जाने में संकोच करने लगे। द्वितीय, जो ध्वनि को स्वीकार न करते थे, उनकी शक्ति अलंकारादि के विवेचन में न लग कर ध्वनि के खंडन में लग गई।

आनन्दवर्धन और कुन्तक के मध्य में राजशेखर (१०वीं शती का प्रारम्भ) तथा अभिनवगुप्त के नाम अवश्य स्मरणीय हैं। यायावरीय राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' में १८ अधिकरण माने जाते हैं, परन्तु अद्यावधि उसका केवल एक अधिकरण 'कविरहस्य' ही उपलब्ध है, जिसमें १८ अध्याय हैं। जिस रचना का एक अधिकरण ही काव्य-शास्त्र के इतिहास में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर सका, उसके अप्राप्त शेष १७ अधिकरणों में अलंकार-विषय का विवेचन न हो—यह संभव नहीं लगता। फिर भी सामग्री की अनुपलब्धि में कोई भी अनुमान सार्थक नहीं। अभिनवगुप्त पादाचार्य (११वीं शती का प्रारम्भ) बहुमुखी प्रतिभा के आचार्य थे; काव्यशास्त्र के इतिहास में वे 'अभिनवभारती' ('नाट्यशास्त्र' पर व्याख्या) तथा 'ध्वन्यालोक-लोचन' ('ध्वन्यालोक' की टीका) के कारण सदा अमर रहेंगे। सिद्धांत की दृष्टि से वे रस-संप्रदाय के अनुयायी ठहरते हैं।

अग्निपुराण (सन् ९०० के लगभग)

यद्यपि महेश्वर ने अपने 'काव्यप्रकाशादर्श' में यह लिखा है कि भरतमुनि ने अग्नि-पुराण से अलंकार-शास्त्र लेकर उसको संक्षिप्त किया और कारिकाओं से 'नाट्यशास्त्र'

---

(१) अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्याद् अंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। (द्वितीय उद्योत, कारिका १७)।

(२) अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्कारा:। (३, ३७ पर वृत्ति)।

(३) रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः। (३, ४३, वृत्ति)।

(४) रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत् काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः। (वही)।

(५) मुख्या महाकविगिराम् अलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्।३।३८।

में अलंकारशास्त्रीय विषय लिखा, फिर भी आधुनिक विद्वान् अग्निपुराण के साहित्य-शास्त्रीय अंश को भरत, भामह तथा दण्डी से निश्चय ही उत्तर रचना मानते हैं; अग्निपुराण के इस अंश का काल ९०० ई० के आसपास है। इस ग्रंथ की शैली भी इसी तथ्य की समर्थक है, जिस विकसित रीति पर इसमें विवेचन किया गया है, वह प्राच्य आचार्यों के स्थान पर नव्य आचार्यों का ही स्मरण कराती है। और यह पुराण एक संग्रह ग्रंथ है, इसमें अनेक विषय हैं प्रायः दूसरों के ही मतानुसार लिखे हुए; मौलिक उद्भावना का यहां प्रश्न ही नहीं आता।

अग्निपुराण के दस अध्यायों (३३६ से ३४६) में काव्यशास्त्र का विषय है। ३४२ से ३४४ अध्याय तक अलंकार हैं---३४२ अध्याय में शब्दालंकार; ३४३ में अर्थालंकार तथा ३४४ में शब्दार्थालंकार ; इस पिछले अध्याय में न जाने क्यों आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकार भी रख दिये हैं।

अग्निपुराण संग्रह-ग्रंथ है। अतः इसमें दूसरों की छाया तो है ही, दूसरों को अक्षरशः भी ग्रहण कर लिया है। भरत की कारिकाएँ अनेक स्थलों पर हैं; भामह से रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, तथा समासोक्ति के लक्षण लिये हैं; तथा दण्डी से रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपन्हुति एवं समाधि के। ऐसे ग्रंथ में मौलिकता की खोज व्यर्थ है, लेखक के अपने कोई विशेष सिद्धांत नहीं; उसने पूर्व आचार्यों के समन्वय का निष्कर्ष अपनी रचना में सजा दिया है।

कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित (सन् ९२५-१०२५ के बीच)

राजानक कुन्तक (या कुन्तल) 'वक्रोक्तिकार' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका संप्रदाय ध्वनि के विरोध में वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानता है। 'वक्रोक्ति-जीवित' में ४ उन्मेष हैं। इस ग्रंथ के ३ अंग हैं---कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण; उदाहरण तो दूसरे पूर्व साहित्यिकों से लिये गये हैं[1] परन्तु वृत्ति इस कृति का एक अपृथक् अंग[2] है। कुन्तक ने अपनी रचना को 'काव्यालंकार' कहा है और इसका उद्देश्य लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि माना है।[3]

'वक्रोक्ति' शब्द हमारे लिये नया नहीं है। भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार का प्राण[4] माना, इसके अभाव में कुछ अलंकारों से अलंकारत्व छीन लिया और आनुषंगिक रूप से इसको काव्य के लिए भी आवश्यक बतलाया। दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद किये---स्वभावोक्ति[5] तथा वक्रोक्ति। कुन्तक ने भामह से ऐकमत्य-सा प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को ही

(१) श्री काणे, LXXIX.
(२) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १३७।
(३) लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।१।२।
(४) कोऽलंकारोऽनया विना।२।८५॥
(५) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥२।३६२॥

काव्य का प्राण माना है, अलंकार भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। वक्रोक्ति अलंकार नहीं, और न अलंकार-मात्र का ही प्राण है, यह तो काव्य की आत्मा है, कविकर्म में कुशल[1] सौंदर्य का नाम वक्रोक्ति है।

अलंकार के प्रति कुन्तक की दृष्टि समन्वित है। अखिल अलंकार-वर्ग का उन्होंने 'वाक्य-वक्रता' में अन्तर्भाव[2] किया है। वे **'सालंकार की काव्यता'** (१, ६) में विश्वास रख कर भी, अधिक अलंकारों के पक्ष में नहीं हैं (१, ३५)। अतः तृतीय उन्मेष में रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन्, उदात्त, समाहित के साथ-साथ यथासंख्य, आशी, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, तथा उपमारूपक को अलंकार नहीं माना गया; तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति आदि का उपमा में अन्तर्भाव कर लिया है; और विभावना, ससन्देह, अपन्हुति, संसृष्टि तथा संकर को अधिक महत्त्व नहीं दिया। कुन्तक के मान्य अलंकार दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास तथा आक्षेप हैं।

रसवत्, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के प्रति 'वक्रोक्ति-जीवित' का व्यवहार विशिष्ट है। पुराने रसवत् का खंडन करके कुन्तक नवीन रसवत् को **सर्वालंकार-जीवित**[3] कहते हैं, भामह की वक्रोक्ति के समान कुन्तक का रसवत् अलंकार-मात्र के अन्तःस्थ सौंदर्य का नाम है।[4] रूपक को उपचार-वक्रता का आधार माना है—**उपचारैकसर्वस्वम्**; उत्प्रेक्षा अन्य अलंकारों के सौंदर्य का अपहरण करके अति लावण्यमयी[5] बन जाती है। उल्लिखित अलंकारों के अतिरिक्त अन्य में कुन्तक ने अलंकारत्व नहीं माना[6]।

महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक (सन् ११५० के आसपास)

राजानक महिमभट्ट ने व्यक्ति (व्यंजना) के विवेक (आलोचना) के लिए अपनी एकमात्र कृति 'व्यक्तिविवेक' लिखी, जिसमें ध्वनि-सिद्धांत का खंडन करके उसके समस्त सौंदर्य को अनुमान का विषय सिद्ध किया है।[7] 'व्यक्तिविवेक' नामक 'काव्यालंकार'[8]

---

(१) वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥१।१०॥

(२) यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥

(३) यथा स रसवन्नाम सर्वालंकार-जीवितम्।
काव्यैकरसतां याति, तथेदानीं विवेच्यते ॥

(४) रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यम्, तस्य भावः, तत्त्वम् ततः सरसत्वसम्पादनात् ॥

(५) अपहृत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥

(६) भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचिन्नालङ्कारतया मताः ॥

(७) अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१।१॥

(८) प्रत्येक विमर्श के अन्त में "इति श्री राजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्याऽलंकारे......." आदि लिखा हुआ है।

में ३ विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में 'ध्वनिलक्षणाक्षेप' है; द्वितीय में 'शब्दानौचित्यविचार' है; और तृतीय में 'ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव'। इस ग्रंथ पर राजानक रुय्यक की ही एकमात्र टीका है। आचार्यों ने महिम के सिद्धांत को स्वीकार न किया, यहां तक कि 'व्यक्ति-विवेक' के टीकाकार ने भी उसका उपहास-सा किया है।

महिमभट्ट ने ध्वनि के सौंदर्य का खंडन नहीं किया, परन्तु ध्वनि का आधार वे अनुमान को मानते हैं, व्यंजना को नहीं। शब्दों की एक ही वृत्ति है अभिधा, उसी से दो प्रकार के अर्थ की उपलब्धि होती है—अभिधेयार्थ तथा अनुमेयार्थ[1]। इस प्रकार लक्षणा और व्यंजना दोनों का अनुमान में अन्तर्भाव हो गया। द्वितीय विमर्श में द्विविध (अर्थविषयक तथा शब्द-विषयक) अनौचित्य का वर्णन है। तृतीय विमर्श में 'ध्वन्यालोक' के लगभग ४० उदाहरणों को कस कर यह स्थापना की गई है कि वे सब अनुमान के ही विषय हैं।

'व्यक्तिविवेक' में अलंकार का विवेचन नहीं है। अनुमेय अर्थ के अन्तर्गत ही अलंकार का सौंदर्य रखा जा सकता है।

भोजराज : सरस्वतीकण्ठाभरण (सन् १०३०-१०५० के बीच)

धारानरेश भोजदेव के दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगार-प्रकाश। 'शृंगार-प्रकाश' ३६ प्रकाशों की रचना है और काव्यशास्त्र की सबसे विशालकाय कृति है;[2] इस ग्रंथ के अन्तिम २४ प्रकाशों में रस-विवेचन है; लेखक ने शृंगार को ही एकमात्र रस मान कर अन्य रसों का उसी के भीतर अन्तर्भाव कर दिया है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' में ५ परिच्छेद हैं—'दोषगुण विवेचन', 'शब्दालंकार निर्णय', 'अर्थालंकार निर्णय', 'उभयालंकार विवेचन', तथा 'रसविवेचन'। इस कृति को अलंकार-ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है; परन्तु इसमें मौलिकता[3] की अपेक्षा संग्रह[4] अधिक है, दण्डी[5] का काव्यादर्श इसका मूलाधार है। नाट्यशास्त्र, भट्टि, भामह, वामन, राजशेखर आदि के भी लगभग[6] १५०० उद्धरण दूसरों से यहां दिये गए हैं। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी

---

(१) अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्य उच्यते। ...... तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। तत्र पदस्यार्थो वाच्य एव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साध्य-साधनभावाभावतः। (पृ० ३९–४०)।

(२) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४७।

(३) 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृ० २११) ने इस पुस्तक में 'विषय-विवेचन की मौलिकता' को सिद्ध किया है।

(४) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४८।

(५) सोऽयं ग्रंथः काव्यादर्शस्य दण्डिविरचितस्य विशेषा संस्कृतिर्नाम। अत्र बहवः श्लोकाः काव्यादर्शस्थाः कारिकारूपेणोदाहरणरूपेण च संकलिताः।

('सरस्वतीकण्ठाभरण' की भूमिका, पृ० १८)।

(६) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४९।

विशेषता तो यही है कि प्रतिपाद्य विषय के अधिक से अधिक उदाहरण दिये गए हैं; प्रचलित अनेक विचारधाराओं का समन्वय भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है।

भोजदेव का अलंकार के प्रति दृष्टिकोण प्रथम परिच्छेद में भी कई स्थलों से स्पष्ट हो जाता है। दोषों की गिनती करते हुए निरलंकार को ये काव्य का दोष बतलाते हैं (१, ५३), और ऐसा इन्होंने एक से अधिक स्थलों पर किया है (१, १३४; १, १५१ आदि)। काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण का महत्त्व अधिक है, काव्य अलंकृत होने पर भी गुणरहित[1] न हो क्योंकि गुण का आकर्षण स्वाभाविक है। अलंकार का भी अपना महत्त्व है, रूपवती यदि आभूषणों से युक्त हो तो अधिक रमणीय लगती है, और यदि उसका यौवन बीत चुका है, तो अलंकार भी शोभाकारक नहीं हो सकते (१, १५८–१५९)।

सरस्वतीकण्ठाभरण में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेद अलंकारों के हैं। द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में अलंकार के तीन वर्ग बताये हैं—बाह्य, आभ्यंतर तथा उभय। बाह्य शब्दालंकार हैं, इनकी संख्या २४ है; जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति। इस परिच्छेद में औचित्य को अलंकार का मूल आधार अनेक बार कहा है (२, ६; २, १८)। काव्य के जितने शब्द संबंधी गुण हैं, वे शब्दालंकार के नाम से सन्निविष्ट हो गए हैं। यमक और चित्र का तो प्रचुर विस्तार है ही, अनुप्रास को भी एक विशेष महत्त्व मिल गया है—जिस प्रकार ज्योत्स्ना चंद्र को या लावण्य अंगना को विभूषित करता है, उसी प्रकार अनुप्रास काव्य की शोभा में सक्षम[2] हैं; यदि उपमा आदि न हों, तब भी अनुप्रास से काव्य की शोभा हो जाती है।[3]

तृतीय परिच्छेद में भी २४ अलंकार हैं, ये सब आभ्यंतर हैं क्योंकि ये अर्थ के अलंकरण में समर्थ (अलमर्थमलंकर्तुम्) हैं। जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्रांति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अभाव। जैमिनी के ६ प्रमाणों को भी अर्थालंकार मान लिया; जाति शब्दालंकार में भी आ चुका है, यद्यपि उसका रूप भिन्न है, अहेतु भी नया लगता है। इन अलंकारों के भेद-प्रभेद भी दिये हैं; परन्तु प्रत्येक भेद में चमत्कार नहीं है।

शब्दार्थ दोनों के अलंकार उभयालंकार कहलाते हैं क्योंकि इनकी प्रतीति शब्द से

---

(१) अलंकृतिमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ ॥१।५९॥

(२) यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमङ्गनाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः॥२।७६॥

(३) उपमादिवियुक्तापि राजते काव्यपद्धतिः।
यद्यनुप्रासलेशोऽपि हन्त तत्र निवेश्यते॥२।१०६॥

भी होती है और अर्थ से भी ; [1] इनके नाम हैं उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपन्हुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक तथा संसृष्टि। भोजदेव को २४ की संख्या से कुछ ऐसा प्रेम है कि उपमा और रूपक के भी २४ भेद किये हैं। लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि जहां पर शब्द और अर्थ दोनों होंगे, वहीं उभया-लंकार होगा, परन्तु लुप्तोपमा का भी यहां वर्णन है। साम्य का लक्षण है चातुर्य से औपम्यार्थ का अवगमन, इसके भेद अनन्त हैं, दृष्टांत आदि इसी के अन्तर्गत आ गये हैं। इस परिच्छेद में अतिशयोक्ति अलंकार की प्रशंसा की गई है, कदाचित् प्राचीन आचार्यों से प्रभावित होकर और इसको अनेक अलंकारों का आश्रय बताया गया है। (४, ८४)।

सरस्वतीकण्ठाभरण के विषय में श्री कन्हैयालाल पोद्दार का मौलिकता विषयक मत स्वीकार्य नहीं। इसमें संदेह नहीं कि लेखक का अध्ययन विशाल है, फलतः उदाहरण-योजना द्वारा यह ग्रंथ भी 'अध्ययन सदृशाकार' बन गया है। यदि सरस्वतीकण्ठाभरण की विचित्रताओं को मौलिकता माना जाय तो आद्योपान्त एक रूपरेखा इस कृति में दृष्टिगोचर नहीं होती। क्रीड़ापरक २४ की संख्या, तीन वर्ग और प्रत्येक वर्ग में पकड़-पकड़ कर अलंकारों की स्थापना इस ग्रंथ को ग्रंथिमय बनाकर पाठक को ज्ञानाज्ञान-विमूढ़ ही बना सकती है।

क्षेमेन्द्र : औचित्य-विचार चर्चा (सन् १०६३ से पूर्व)

प्रसिद्ध काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र की दो पुस्तकें 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' लिखी हैं; 'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा की पुस्तक है, जिसकी ५ संधियों में 'लक्ष्यलक्षण' देकर कवियशःप्रार्थियों के हितार्थ लाभदायक बातों का वर्णन है। 'औचित्यविचार-चर्चा' में आचार्य का प्रतिपादन यह है कि काव्य का प्राण औचित्य है, अलंकार तथा गुण उचित मात्रा तथा उचित स्थान के कारण ही अपने कर्तव्य में कृतकार्य हो सकते हैं :—

(क) अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥

(ख) उचितस्थान-विन्यासाद् अलंकृतिरलङ्कृतिः ॥६॥

(ग) अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥

क्षेमेन्द्र ने जीवन से उदाहरण लेकर यह बतलाया है कि उचित देश-काल के बिना अलंकार हास्यास्पद बन जाता है; वस्तुतः देश-काल-पात्र की अनुकूलता के अभाव में अलंकार भी भार बन जाते हैं, क्योंकि ये अन्तःकरण के प्रतिबिम्ब हैं, बाह्य-शोभाकारक मात्र नहीं।

---

(१) शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः ॥३।१॥

मम्मट : काव्यप्रकाश (सन् ११०० के आसपास)

'काव्यप्रकाश' अलंकार शास्त्र के इतिहास में एक विशेष महत्त्व का ग्रंथ है, इसके जन्म से इस शास्त्र की एक स्थिर धारा प्रवाहित होने लगती है और सामान्य पाठक पूर्वाचार्यों को भूल-सा जाता है; हिन्दी के आचार्य तो मम्मट से पूर्व कम ही गए हैं। इस ग्रंथ की प्रसिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विभिन्न प्रदेशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के आचार्यों ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखने में अपना गौरव समझा है। 'काव्यप्रकाश' की एतादृशी सफलता का रहस्य है पूर्व शास्त्र के मन्थन से उत्तर अध्येताओं के हेतु एक अपूर्व पदार्थ तैयार कर देना। 'काव्यप्रकाश' के मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्वचित् नामपूर्वक परन्तु प्रायः नामोल्लेख बिना ही मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों को स्थिर चित्त से तोला है, और उनमें से सार को ग्रहण कर अनुपयोगी का उदासीनतापूर्वक निरसन किया है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन आदि सभी आचार्यों की काव्य-प्रकाश में ऐसी ही मान्यता है। 'काव्यप्रकाश' सर्वांगीण पुस्तक है, और सभी सिद्धांतों का इसमें संतुलित समावेश है।

इस पुस्तक के भी तीन अंग हैं---कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। उदाहरणों के विषय में कोई मतभेद नहीं, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्तिकी रचनाएँ हैं या नहीं---इस विषय पर विद्वानों में मतभेद चल चुका है। 'काव्यप्रकाश' के १० उल्लासों में १४२ कारिकाएँ हैं।

'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास में मम्मट ने **'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** लिख कर भामह के **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** तथा' **विलक्षणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते'** में जो अत्याधान किया वह गुण की नित्य तथा अलंकार की अनित्य सत्ता मानने से है---जो वामन का ही प्रभाव है। परन्तु उत्तर आचार्यों ने अलंकार की अनित्य सत्ता निर्विरोध स्वीकार न की; अतः मम्मट का मुख्य विरोध इसी तथ्य को लेकर रहा, इस विरोध के नेता जयदेव थे, जिन्होंने व्यङ्ग्यपूर्वक इस मत को फटकारा। हिन्दी के आचार्यों में से अधिकतर तो जयदेव के मार्गानुलम्बी थे, और कतिपय-मात्र ही मम्मट के; फिर भी कोई मम्मट का खण्डन न कर सका---स्वमत का समर्थन अवश्य है।

अष्टम उल्लास में मम्मट गुण और अलंकार का अन्तर इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं:---

> **ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।**
> **उत्कर्षहेतवस्तु स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥६६॥**
> **उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।**
> **हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥६७॥**[१]

इन कथनों का सारांश यह है कि गुण और अलंकार का भेद रस पर आश्रित है, गुण

---

(१) (छाया) काव्य में रस अंगी है, उसके उत्कर्षक नित्य धर्म 'गुण' हैं; ये उसी प्रकार हैं जैसे व्यक्ति में शूरता आदि। 'अलंकार' हार आदि आभूषणों के समान हैं, ये कदाचित् रस का उपकार करते हैं, सर्वदा नहीं; जहाँ रस नहीं है, वहाँ भी अलंकार रह सकता है।

रस से नित्य सम्बद्ध हैं, अलंकार नहीं---गुण रस के बिना रहीं रहते, अलंकार की सम्भावना है; गुण उत्कर्षक धर्म है, अलंकार केवल उपकारक; अलंकार का कर्म अंगवत् है, अंगी से संश्लिष्ट नहीं। यह मत वामन का ही अनुकरण नहीं; वामन में रस का आधार नहीं है; वामन ने गुण को शोभा का 'कर्त्ता' और अलंकार को 'अतिशयता' माना था--- मम्मट के 'उत्कर्षक' तथा 'उपकारक' इन शब्दों के तुल्यार्थक हैं; वस्तुतः 'गुण' शोभा के 'कर्त्ता' नहीं प्रत्युत 'प्रतिबिम्बक' हैं।

'काव्य प्रकाश' के नवम उल्लास में वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार हैं। ये सभी पुराने हैं, क्रम में भी कोई नवीनता नहीं है।

दशम उल्लास में ६१ अर्थालंकार हैं, प्रायः पुराने ही; अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम सम्भवतः[१] मम्मट द्वारा नवाविष्कृत हैं। मम्मट में मौलिकता अधिक नहीं, परन्तु उनकी प्रौढ़ता अतुलनीय है, प्रौढ़ता के ही कारण महेश्वर भट्टाचार्य[२] ने कहा था कि काव्य-प्रकाश की घर-घर में टीकाएं हैं तथापि यह दुर्गम है।

नवम (शब्दालंकार विषय) तथा दशम (अर्थालंकार विषय) उल्लासों में आचार्य मम्मट के अलंकार के सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य हैं:---

(क) जो शब्द या अर्थ कविप्रतिभा के बल से ग्राह्य बनता है, उसी में विचित्रता है, वही अलंकार-भूमि है, क्योंकि वैचित्र्य ही अलंकार है[३]।

(ख) यह (चित्र) कष्ट काव्य है, इसलिए इसको दिङ्मात्र ही दिखाते हैं। . . . इसके अन्य भी अनेक प्रभेद हो सकते हैं, जो शक्तिमात्र के प्रकाशक हैं, उनमें काव्यत्व नहीं होता, इसलिए उनको नहीं दिया जा रहा।[४]

(ग) 'आयु घृत है' इत्यादि रूपवाला हेतु अलंकारत्व के योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें वैचित्र्य का अभाव है।[५]

(घ) इस प्रकार के विषय में सर्वत्र अतिशयोक्ति ही प्राण बनकर रहती है, उसके बिना प्रायः अलंकार नहीं होता।[६]

---

(१) संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २२१।

(२) काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गम इति।

(३) किं च वैचित्र्यमलङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः। (शब्दश्लेष पर वृत्ति, पृ० २१५)

(४) कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते।
सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते। (चित्र पर वृत्ति, पृ० २१७)।

(५) 'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष (हेतुः) न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। (कारणमाला पर वृत्ति, पृ० २७९)।

(६) सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्. . . .। (विशेष पर वृत्ति, पृ० २९५)

मम्मट के विषय में ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये भामह में विश्वास रखते होंगे; भामह के 'कोऽलङ्कारोऽनया विना' को उद्धृत (पृ० २९६) करके समस्त अलंकारों को इन्होंने वक्रोक्तिमूलक कहा है; स्वभावोक्ति का संक्षिप्त तथा सौदासीन्य कथन है; हेतु का स्पष्ट निरसन किया है और लेश की नितान्त उपेक्षा कर दी है। मम्मट ने अलंकारों को अन्तिम उल्लास दिये हैं, उनको रस के उपकारक, वक्रोक्ति-मूलक तथा वैचित्र्योत्पादक बतलाया है; शब्दालंकार अर्थालंकारों से पूर्व आ गये हैं।

रुय्यक : अलंकार-सर्वस्व (सन् ११३५-११५५ के बीच)

रुय्यक अलंकार-विषय के प्रौढ़ आचार्य हैं; इनके अनेक ग्रन्थों में से केवल अलंकार-विषय पर 'अलंकार-सर्वस्व' बहुत प्रसिद्ध है; इसके सूत्र तो निश्चय ही रुय्यक प्रणीत हैं परन्तु वृत्ति को कुछ लोग मङ्खक की रचना मानते हैं। रुय्यक अलंकार-शास्त्र के इतिहास की एक अमूल्य मणि हैं; पूर्व आचार्यों के मत की 'अलंकार-सर्वस्व' में चर्चा है, और उत्तर आचार्यों पर रुय्यक का प्रभाव है।

आदि में रुय्यक ने भामह से लेकर व्यक्तिविवेककार तक के मत पर विचार किया है; भामह, उद्भट, वामन, आदि को 'प्राच्य' (प्राचीन) आचार्य माना गया है; तथा भामह एवं उद्भट को **चिरंतनालंकारकार**[1] नाम दिया गया है। इन आचार्यों का मत है कि प्रतीयमान अर्थ भी अलंकार के अन्तर्भूत है, परन्तु ध्वनिवादी रुय्यक इससे सहमत नहीं[2]। रुय्यक के शब्दों में प्राच्याचार्यों के मत का सारांश यह है:—

(क) भामह, उद्भट प्रभृति चिरन्तन अलंकारकार प्रतीयमान अर्थ को अलंकार के अन्तर्भूत मानते हैं।

(ख) रुद्रट ने भावालंकार दो प्रकार का बताया है; रूपक, दीपक, अपन्हुति, तुल्य-योगिता आदि में उपमा आदि अलंकार कथित है, उत्प्रेक्षा प्रतीयमान है।

(ग) रसवत् प्रेयस् आदि में रसभाव आदि शोभा के कारण हैं।

(घ) इस प्रकार तीनों (वस्तु, अलंकार, रस) में ही प्रतीयमान अलंकार के अन्त-र्भूत हैं।

(ङ) वामन ने ध्वनिभेद को अलंकार ही कहा है।

(च) उद्भट आदि में गुण और अलंकार का प्रायः साम्य ही है।

(छ) इस प्रकार प्राच्यों के मत से काव्य में अलंकार ही प्रधान[3] हैं।

ध्वन्युत्तरकाल से कुन्तक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन तथा महिमभट्ट का मत विवेच्य है:—

(क) वक्रोक्तिजीवितकार। अलंकार[4] अभिधान के प्रकार विशेष ही हैं। उक्तिवैचित्र्य ही काव्य है, व्यङ्ग्यार्थ नहीं।[5]

---

(१) भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः ....। (पृ० १)

(२) तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव। (४)

(३) तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ॥६॥

(४) अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः। (६)

(५) केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यम्, न व्यङ्ग्यार्थजीवितम् ....।(७)

रुय्यक का मत है कि काव्य का जीवन व्यंग्य है, गुणालंकार उसके चारुत्वहेतु हैं, रसादि को अलंकार कहना उचित नहीं[१]। व्यंग्य के प्राधान्य तथा अप्राधान्य से काव्य के २ भेद हैं---ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य; व्यंग्य की अस्फुटता में अलंकारवत् चित्र काव्य का तीसरा भेद है। रसादि ध्वनि का वर्णन 'अलंकारमंजरी'[२] में किया है; क्योंकि (रस) काव्य में श्रृंगार की ही प्रधानता होती है। गुणीभूतव्यंग्य की समासोक्ति आदि में यथा-संभव चर्चा है। चित्र के शब्दालंकार अर्थालंकार आदि के कारण अनेक भेद हैं (अतः इनका विवेचन इस पुस्तक में किया जा रहा है)। इस प्रकार 'अलंकार-सर्वस्व' रुय्यक की योजना का एक अंग है; सिद्धान्त की शिरोमणि रचना नहीं।

शब्दार्थालंकारस्वभाव चित्र काव्य में प्रथम यह ज्ञात हो कि 'पौनरुक्त्य' के ३ प्रकार हैं---शब्दपौनरुक्त्य, अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य। पुनरुक्तवदाभास, छेकानु-प्रास, वृत्यनुप्रास, यमक तथा लाटानुप्रास पौनरुक्त्य के इन ५ प्रकारों[३] में पुनरुक्तवदाभास अर्थपौनरुक्त्याश्रित है, छेक आदि ३ शब्दपौनरुक्त्याश्रित तथा लाटानुप्रास उभयाश्रित। पौनरुक्त्य के आधार पर अलंकारों का यह विवेचन बड़ा रोचक है। अन्त में चित्र अलंकार है; श्लेष को यहां स्थान नहीं मिला। वस्तुतः रुय्यक का उद्देश्य अलंकारों का सविस्तर विवेचन नहीं ज्ञात होता प्रत्युत वे उनके लक्षण देकर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहते हैं।

अब अर्थालंकार हैं। साधर्म्य के ३ प्रकार हैं-भेद प्रधान, अभेद प्रधान तथा भेदा-भेद-तुल्य (दे० 'एकावली'-प्रसंग)। उपमा में भेदाभेदतुल्य साधर्म्य होता है; यह उपमा अनेक प्रकार के वैचित्र्य[४] से अलंकारों का बीज बनी हुई है इसलिए इसका सर्वप्रथम निर्देश है; इस के पूर्णा, लुप्ता आदि भेदों का 'चिरंतनों' ने बहुविध विवेचन किया है; यहां प्रति-वस्तूप-मावत् तथा दृष्टान्तवत् इन दो के ही उदाहरण हैं। अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण के अनंतर अभेदप्रधान रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपन्हुति का विवेचन है। फिर अध्यवसाय गर्भ के उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति; पदार्थगत औपम्य के तुल्ययोगिता तथा दीपक; वाक्यार्थगत औपम्य के प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना हैं। अब भेद-प्रधान

---

(१) तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालंकार-कृतचारुत्व परिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलं-काराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितम्....। (८)

(२) जयरथ के अनुसार रुय्यक की एक कृति का नाम 'अलंकारानुसारिणी' है, संभव है 'अलंकार-मंजरी' और 'अलंकारानुसारिणी' एक ही रचना के दो नाम हों। (विपरीतमत के लिए देखिए, संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १९५)।

(३) तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः। (२०)

(४) उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा। (२१)।

व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति हैं; विशेषणविच्छित्ति के समासोक्ति तथा परिकर; विशेष्ययुक्त विशेषणसाम्य का श्लेष। तदनन्तर अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, उदार, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त हैं। संसृष्टि तथा संकर से पूर्व रसवदादि तथा भावोदयादि भी हैं।

रुय्यक का उद्देश्य अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करना न था इसलिए 'अलंकार-सर्वस्व' में वे प्रायः दूसरे आचार्यों की ओर संकेत करते हैं; अनेक भेदोपभेदों का वर्णन उनको रुचिकर न लगा; कुछ बातें दूसरे आचार्यों से ज्यों की त्यों भी ली गई हैं। 'अलंकार-सर्वस्व' म सूत्रों का महत्त्व कम है, वृत्ति का अधिक, लेखक का उद्देश्य अनुशीलन है, पूर्वापर साहित्य के अध्ययन के बिना 'अलंकार-सर्वस्व' से उतना लाभ नहीं उठाया जा सकता।

वाग्भटद्वय : वाग्भटालंकार तथा काव्यानुशासन

वाग्भट नाम के ४ कवि थे[1], जिन में से दो ने अलंकार-शास्त्र पर भी लिखा है और संयोगवश दोनों ही जैन थे और दोनों की कृतियों में ५ अध्याय हैं। वाग्भट प्रथम (१२वीं शती) की कृति 'वाग्भटालंकार' है, जिसमें ५ परिच्छेद हैं; शब्दालंकार चतुर्थ में तथा अर्थालंकार पंचम परिच्छेद में हैं—पंचम के अन्त में रीति का भी वर्णन है। ये वाग्भट प्राकृत के भी कवि थे, वस्तुतः इनका नाम 'बाहड' था, 'वाग्भट' उसी का संस्कृत रूप है। 'वाग्भटालंकार' में प्राकृत के भी अनेक उदाहरण हैं, और एक गद्यखण्ड भी है; आचार्यों का अनुमान है कि इस पुस्तक के समस्त उदाहरण[2] स्वरचित हैं।

वाग्भटालंकार में केवल ४ 'ध्वन्यलंक्रिया' (शब्दालंकार) हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक; चित्र के कुछ चित्र प्रथम परिच्छेद में भी आ चुके थे। चतुर्थ परिच्छेद (श्लोक २ से ६ तक) में ३५ अर्थालंकार गिनाये हैं, जिनका उसी क्रम से पंचम परिच्छेद में वर्णन है। अर्थालंकार हैं—जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान् आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपन्हुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशयोक्ति, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर, संकर। अन्य अलंकारों का वर्णन या तो इसलिए नहीं है कि उनमें चमत्कार का अभाव है, या इसलिए कि उनका अन्तर्भाव[3] इन्हीं में हो सकता है।

(१) संस्कृत पोइटिक्स, पृष्ठ २०५.

(२) श्री काणे, CXIII

(३) अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव वा।
अलंक्रियाणामन्यासाम् अनिबन्धनिबन्धनम् ॥५।१४९॥

वाग्भट द्वितीय (१४वीं शती) की कृति 'काव्यानुशासन' है; कवि ने इस पर 'अलंकारतिलक'[१] नामक टीका भी स्वयं लिखी। इस पुस्तक के मुख्य आधार 'काव्यमीमांसा' तथा 'काव्यप्रकाश' हैं। 'काव्यानुशासन' में ५ अध्याय हैं; तृतीय अध्याय में ६३ अर्थालंकार हैं; चतुर्थ में ६ शब्दालंकार। अर्थालंकारों में से अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव तथा आशी ध्यान देने योग्य हैं। "इसने १ 'आशी' अलंकार भट्टि, भामह और दण्डी द्वारा निरूपित और ४ अलंकार भाव, मत, उभयन्यास और पूर्व रुद्रट द्वारा निरूपित यह ५ अलंकार ऐसे लिखे हैं, जिनको इनके आविष्कारकों के सिवा इसके पूर्ववर्ती मम्मट आदि किसी ने निरूपित नहीं किये थे। और २ अलंकार 'अन्य' तथा 'अपर' नवीन भी लिखे हैं किन्तु यह दोनों ही महत्वसूचक नहीं, जिसे इसने 'अन्य' कहा है वह प्राचीनों की तुल्ययोगिता के अन्तर्गत है"[२]। वाग्भट ने शब्दालंकारों से पूर्व अर्थालंकारों को रखने का कारण बताया है कि शब्द भी तो अर्थ के आश्रय[३] से ही आता है, इसलिए अर्थ मुख्य हुआ।

इस कृति में वाग्भट प्रथम का अनुकरण भी है और उल्लेख भी। यह पुस्तक छोटी, सरल तथा रोचक है।

हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (सन् ११५० से उत्तर)

'शब्दानुशासन'[४] लिखने के बाद जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' लिखा। यह पुस्तक सूत्र-शैली में लिखी गई है, आचार्य ने इन सूत्रों पर स्वयमेव[५] 'अलंकारचूड़ामणि' नामक वृत्ति तथा 'विवेक'[६] नामक टीका लिखी है। 'काव्यानुशासन' मौलिक ग्रन्थ नहीं है, परन्तु लेखक की संकलन-प्रतिभा का सुपरिचायक है; राजशेखर, अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिकार, मम्मट आदि के नामोल्लेख के बिना ही लंबे-लंबे उद्धरण इस पुस्तक में अक्षरशः ले लिये गये हैं[७]।

'काव्यानुशासन' में ८ अध्याय हैं। अलंकार-विषय पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में है। शब्दालंकार ५ हैं—अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवाभास,; सर्वस्वीकृत क्रम में परिवर्तन का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। षष्ठ अध्याय में अर्थालंकार हैं, संख्या में केवल २९। अर्थालंकारों की संख्या दो कारणों से कम हो गई है। एक, कुछ अलंकारों का क्षेत्र विशाल करके उनके सहवर्गी भी उनके अधीन बना दिये हैं; संकर में

---

(१) तेनैव कविना विनिर्मितयालंकारतिलकवृत्तिरित्याख्यया व्याख्यया समलंकृतम्।
(२) संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २६७.
(३) तत्र तावद् अर्थमधिकृत्य शब्दः प्रवर्ततेऽतः प्रथममर्थालंकारा एवोवाह्रियन्ते (तृतीयोऽध्यायः)।
(४) शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः।१।२॥
(५) स्वोपज्ञालंकारचूडामणिसंज्ञक वृत्तिसमेतम्।
(६) विवरीतुं क्वचिद् दृब्धं नवं संदर्भितुं क्वचित्।
काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते॥
(७) संस्कृत पोइटिक्स, फुटनोट, पृ० २०३।

संसृष्टि का, दीपक में तुल्ययोगिता का, परावृत्ति में पर्याय तथा परिवृत्ति का, एवं निदर्शन में प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टांत का समावेश होगया है। यह स्थूलीकरण किसी प्रतिभा का द्योतक नहीं, क्योंकि विकसित अवस्था के सूक्ष्म भेद की उपेक्षा कभी प्रशस्य नहीं हो सकती; और स्थूलीकरण में भी यदि पुरातन नाम को जीवक तथा उत्तरोद्भूतों को उपजीवी माना जाता तो भी ठीक था---हेमचन्द्र ने पुराने संसृष्टि, दृष्टान्त आदि को अधीन बनाकर उनसे पीछे जन्मने वाले अलंकारों को मख्यता देकर भूल की है।

संख्या की कमी का दूसरा कारण कुछ अलंकारों का त्याग है---रस, भाव से सम्बद्ध तथा अनन्वय, उपमेयोपमा आदि को तो बिलकुल छोड़ दिया है; परिकर, यथासंख्य, विनोक्ति, भाविक, उदात्त, आशी तथा प्रत्यनीक में अलंकारत्व नहीं माना; इनका अन्य सौन्दर्यों में समावेश है (अलंकार चूडामणि पृ० २५१ से ३५४ तक)। अलंकार विषय में इतनी काट-छांट करते हुए भी इस ग्रंथ में कोई मौलिकता नहीं है। हेमचन्द्र केवल संग्रह में ही दृढ़ रहते तब भी उनकी पुस्तक लाभदायक बन सकती थी, आचार्यत्व ने इस उपयोग की भी हानि कर दी।

जयदेव : चन्द्रालोक (सन् १२००–१३०० के बीच)

पीयूषवर्ष जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकार--शास्त्र की अति प्रसिद्ध रचना है। इसकी दो मुख्य विशेषताएं हैं---(क) मम्मट की मान्यता का प्रत्याख्यान करते हुए काव्य में अलंकार की नित्य स्थापना, (ख) खण्डनमण्डन से रहित लक्षणोदाहरण के लिए परम उपयुक्त संक्षिप्त शैली। 'चन्द्रालोक' अलंकार-शास्त्र की सामान्य रचना है, इसमें अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है, जयदेव ने उदाहरण भी स्वयमेव बनाये हैं और उनको लक्षणों के साथ यथासंभव एक ही छन्द में रखा है---प्रत्येक प्रतिपाद्य के लिए एक पूर्ण छन्द, जिसके पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण है। हिन्दी के आचार्यों पर जयदेव का प्रभाव अधिक रहा है।

'चन्द्रालोक' में १० मयूख हैं, अलंकार-विषय केवल पंचम मयूख में है। प्रथम मयूख में शृंगार आदि रसों से वृद्धिमती कविता को जयदेव ने 'स्वैरिणी' तथा 'निर्विचारकविता'[१] कहा है, और उसकी भर्त्सना करते हुए अपने 'अलंकार--सागर' में विचाररूपी 'वीचिनिचय' की ओर ध्यान आकृष्ट किया है---केवल रसवती कविता स्वैरिणी तथा निर्विचार है और अलंकारयुक्ता कविता 'विचार' को उल्लसित करती है। यह कहना संभव नहीं कि 'अलंकार' और 'विचार' का अन्योन्य सम्बन्ध जयदेव ने क्यों माना, परन्तु वे पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन नहीं कर रहे, केवल एक पक्ष (अलंकार) का विशेष आग्रह कर रहे हैं---अलंकार के विना कविता उसी प्रकार है जैसे उष्णता के विना अग्नि।[२]

---

(१) हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्प्रकाशीभव।
उल्लासाय विचार-वीचि-निचयालंकार-वारांनिधे---
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ॥१।२॥

(२) अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती ॥१।८॥

पंचम मयूख इस पुस्तक का मुख्य अंग है। इस में अलंकार-विवेचन है। मम्मट की शब्दावली[1] में ही अलंकार का लक्षण देते हुए जयदेव अपनी पूर्व स्थापना (अग्नि में उष्णत्व के समान) को भूल-से गये हैं। प्रथम ८ शब्दालंकार हैं---छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र। तीन नाम नवीन हैं---स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास तथा पुनरुक्त प्रतीकाश; स्फुटानुप्रास साहित्य-दर्पण में श्रुत्यनुप्रास है; अर्थानुप्रास नवीन तथा चमत्कारपूर्ण है; पुनरुक्तप्रतीकाश काव्यप्रकाश में पुनरुक्तवदाभास था।

अर्थालंकारों की संख्या ८५ और ९० के बीच में है। भेदोपभेद भी समस्त हैं। उपमा से अत्युक्ति तक के अलंकारों में कुछ नवीन भी हैं, परन्तु अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सभी अलंकार जयदेव ने स्वीकार नहीं कर लिये। तदुपरान्त ४ रसवदादि और ३ भावोदय आदि के नाम गिनाकर इनकी अवहेलना है; इसी प्रकार शुद्धि आदि ३ को भी स्वतन्त्र नहीं माना; मालोपमा तथा रशनोपमा का भी खण्डन है। जो लोग अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को सब अलंकारों का मूल मानते हैं, उनसे जयदेव सहमत नहीं---जिस प्रकार मुख के उपांग समान होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति का अलग मुख और व्यक्तित्व होता है उसी प्रकार वक्रता रहते हुए भी सभी अलंकार वक्रोक्ति के ही विकार नहीं हैं[2]। जयदेव नवीन अलंकारों की स्वीकृति के पक्ष में हैं[3]।

विद्याधर: एकावली (सन् १२८२ से १३२७ के बीच)

'एकावली' और 'केलिरहस्य' के रचयिता विद्याधर कलिंग-नरेश नरसिंह के आश्रित थे। 'एकावली' की कारिकाएं, वृत्ति तथा समस्त उदाहरण विद्याधर-रचित ही हैं, उदाहरणों में आश्रयदाता उत्कलाधिप की प्रशंसा[4] है; इस दृष्टि से यह ग्रंथ प्रतापरुद्रयशोभूषण' 'नञ्जराजयशोभूषण', 'रघुनाथभूपालीय'[5] 'अलंकारमंजूषा' 'शिवराजभूषण' तथा 'जसवन्त-जसो-भूषण', की कोटि का है। 'एकावली' पर कोलाचल मल्लिनाथ की तरला टीका है; मल्लिनाथ ने कालिदास, भारवि आदि पर जो टीकाएं लिखी हैं, उनमें 'एकावली' को उद्धृत किया है; यह भी 'एकावली' के महत्त्व का एक मुख्य कारण है।

'एकावली' में ८ उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में ध्वन्यालोक का प्रभाव स्पष्ट है; शेष

---

(१) हारादिवदलङ्कारास्ते ऽनुप्रासोपमादयः। (मम्मट)
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः। (जयदेव)

(२) अलंकारप्रधानेषु दधानेष्वपि साम्यताम्।
वैलक्षण्यं प्रतिव्यक्ति प्रतिभाति मुखेष्विव ॥५।१२४॥

(३) अलंकारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम्।
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ॥५।१२५॥

(४) एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ॥१।७॥

(५) श्री काणे, पृ० CXVIII

में मम्मट और रुय्यक का। इस कृति का मूलाधार 'काव्यप्रकाश' है, मम्मट के १० उल्लासों की सामग्री को विद्याधर ने ८ उन्मेषों में रख दिया है; 'एकावली' का मुख्य गुण आधार ग्रन्थ से अधिक सरल[1] तथा स्पष्ट होना है। अलंकार-विषय सप्तम तथा अष्टम उन्मेषों में है; यहां मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक का प्रभाव है--मतभेद में लेखक रुय्यक का पक्षपाती है; परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प अलंकार विद्याधर में रुय्यक का अनुकरण प्रमाणित करते हैं।

पंचम उन्मेष में मम्मट के अनुसार गुण तथा अलंकार को अलग करके गुणत्रय का वर्णन है। षष्ठ उन्मेष में दोष-विषय है। सप्तम में शब्दालंकार का प्रारम्भ पुनरुक्तवदाभास से ही चलता है। पुनरुक्तवदाभास अर्थालंकार है, फिर भी इसका यहां इसलिए वर्णन है कि अर्थपौनरुक्ति दोष के विपर्यय[2] में लेखक अलंकारत्व बतला रहा है। इस उन्मेष में विद्याधर यमक तथा चित्र अलंकारों में रसपुष्टि के अभाव का कथन करते हुए इनके दुष्करत्व रूपी[3] असाधुत्व दोष का वर्णन करते हैं।

अष्टम उन्मेष में अर्थालंकार हैं। इनके निम्नलिखित वर्ग लक्षित होते हैं :--

भेदाभेदप्रधान[4] --	उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण,
भेदप्रधान[5] --	व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।
अभेदप्रधान[6] --	रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रांतिमत्, उल्लेख, अपन्हुति।
अध्यवसायाश्रय[7] --	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।
गम्यौपम्याश्रय (पदार्थगं)[8]	तुल्ययोगिता, दीपक।
वाक्यार्थगत[9] --	प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना।
विश्लेषणविच्छित्त्याश्रय[10] --	समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा।
विशेष्यविच्छित्त्याश्रय--	परिकरांकुर

(१) एकावली, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XII
(२) ......तथाप्यर्थपौनरुक्त्यस्यैव प्ररूढस्य दोषत्वनाभिधानात्
तद्विपर्ययस्यालंकारत्वदर्शनाय.......... । (वृत्ति)
(३) प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते।
दुष्करत्वादसाधुत्वम् एकमेवात्र दूषणम् ॥७।५॥
(४) ब्रूमः प्रथमं भेदाभेदप्राधान्यतस्तावत् ॥८।१॥
(५) तथा हि क्वचिद् भेदप्राधान्यं दृष्टं यथा व्यतिरेके। (वृत्ति).
(६) सम्प्रति कतिचिदभेदप्राधान्येऽलंकृतीर्ब्रूमः ॥८।५॥
(७) इत्थमलंकारद्वय मध्यवसायाश्रयेण निर्णीय।
अधुनालंकृतिवर्गं गम्यौपम्याश्रयं ब्रूमः ॥८।१४॥
(८) एतदलंकृतियुगलं कथितं तावत् पदार्थगत्वेन ॥८।१६॥
(९) वाक्यार्थगतत्वेन स्यात् सामान्यं पृथग्विनिर्दिष्टम् ॥८।१७॥
(१०) तरला टीका, पृष्ठ २५३.

उभयविच्छित्त्याश्रय[1]---	श्लेष।
सामान्य विशेषभाव	अर्थान्तरन्यास।
प्रतीयमानप्रस्ताव	पर्यायोक्त।
गम्यत्वविच्छित्तिप्रस्ताव---	व्याजस्तुति
विशेषगम्यत्व---	आक्षेप।
विरोधगर्भ[2]---	विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात।
शृंखलाकार[3]---	कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।
तर्कन्यायमूल---	काव्यलिंग, अनुमान।
न्यायमूल---	यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति।
एकानेक	परिसंख्या।
वाक्यन्याय---	अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि।
लोकन्यायाश्रय[4]---	प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, प्रश्नोत्तरिका।
गूढार्थप्रतीति---	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त।
अन्योन्याश्लेष---	संसृष्टि, संकर।

'एकावली' में यद्यपि इस वर्गीकरण पर जोर नहीं दिया गया फिर भी कारिका, वृत्ति, तथा टीका में इसके बीज निहित हैं। यह कहना कठिन है कि आचार्य इस वर्गीकरण को कितना महत्व देता है फिर भी उसके मस्तिष्क में यह विद्यमान अवश्य मानना पड़ेगा।

विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (सन् १३००–१३८४ के बीच)

विश्वनाथ की अलंकार-शास्त्र पर दो रचनाएं हैं---साहित्यदर्पण तथा काव्यप्रकाश-दर्पण। काव्यप्रकाश-दर्पण काव्यप्रकाश की टीका है, जिसको आचार्य ने साहित्यदर्पण के उपरान्त लिखा था। 'साहित्यदर्पण' का अलंकारशास्त्रीय साहित्य में उच्च स्थान है, मौलिकता अथवा आचार्यत्व के कारण नहीं, प्रत्युत सुबोध शैली, रोचक प्रतिपादन एवं हृद्य उदाहरणों के कारण; इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का एक अन्य आधार है सर्वांगीण-पूर्णता---काव्यप्रकाश से यह अधिक पूर्ण है, इसमें दृश्य काव्य का विवेचन भी सन्निविष्ट है।

'साहित्यदर्पण' के मूलाधार मम्मट तथा रुय्यक हैं, विशेषतः अलंकार-प्रकरण में

(१) यत्र विशेष्यविशेषणसाम्यम्.......... ॥८।२६॥
(२) विलसद् विरोधगर्भं क्रमोऽलंकारवर्गमधुना तु ॥८।३३॥
(३) कथयामो वयमधुनालंकाराञ् शृंखलाकारान् ॥८।४४॥
(४) निर्णीयालंकारान् कतिचिद् इमास्तांस्तर्कवाक्यनयमूलान्।
लोकन्यायाश्रयिणः केचिदिदानीं निरूप्यन्ते ॥८।६०॥

तो 'अलंकार-सर्वस्व' ही विश्वनाथ का आदर्श है; रुय्यक के २ नये अलंकार विकल्प तथा विचित्र विश्वनाथ ने अपना लिये, उपमेयोपमा तथा भ्रान्तिमान् आदि के लक्षण ले लिये, और रुय्यक के ही क्रम तथा संख्या को प्रायः मान्य समझा है। फिर भी मम्मट या रुय्यक को नामपूर्वक उद्धृत नहीं किया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्यलक्षण में मम्मट की आलोचना करके 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्' की स्थापना की है।

'साहित्यदर्पण' में १० परिच्छेद हैं। प्रथम में काव्यलक्षण, द्वितीय में वाक्य, तृतीय में रस, चतुर्थ में काव्यभेद, पंचम में व्यंजना, षष्ठ में दृश्यकाव्य, सप्तम में दोष, अष्टम में गुण, नवम में रीति तथा दशम में अलंकार विषय का विवेचन है। विषय का यह क्रम प्रथम परिच्छेद की स्थापना[1] का ही वैज्ञानिक अनुकरण करता है।

अलंकारों की संख्या ८९ है, शब्दालंकार १२, अर्थालंकार ७०, रसवदादि ७। शब्दालंकार का प्रथम निरूपण है; ये हैं—पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष, चित्र; प्रहेलिका में रस-बाधा होने से अलंकारत्व[2] नहीं माना—वह तो उक्तिवैचित्र्य मात्र ही है। अर्थालंकारों में सर्वप्रथम उपमा है और स्वभावोक्ति लगभग अन्त में। रस-भाव आदि गुणीभूत होकर अलंकार बन जाते हैं, तब रस से रसवत्, भाव[3] से प्रेय, रसाभास–भावाभास से ऊर्जस्वि, भावप्रशम से समाहित अलंकार बनते हैं; इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता अलंकार हैं।

साहित्यदर्पण का विवेचन स्पष्ट है, लक्षण सरस हैं, और उदाहरण रोचक हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में मौलिकता[4] अधिक नहीं, फिर भी यह अपने गुणों के कारण उच्चकोटि में स्थान प्राप्त करने का ही अधिकारी है। मम्मट तथा रुय्यक का आश्रय लेकर भी विश्वनाथ उनसे पीछे नहीं रहे।

केशवमिश्र : अलंकार-शेखर (१६ वीं शती का उत्तरार्ध)

इस पुस्तक के तीन भाग हैं, सूत्र (कारिका), वृत्ति तथा उदाहरण। केशवमिश्र ने यह निर्देश किया है कि सूत्र भाग भगवान् शौद्धोदनि के द्वारा (की प्रेरणा से) लिखा गया है, या उनके आधार पर लिखित है। यह निश्चय नहीं कि शौद्धोदनि गौतम बुद्ध का ही नाम है या किसी शास्त्रीय आचार्य का। अलंकार-शेखर में मौलिकता कम है, दूसरे ग्रंथों के आधार पर संक्षिप्त लेखन अधिक; कुछ आचार्यों का नामपूर्वक उल्लेख भी है।

---

(१) वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता, गुणालङ्काररीतयः ॥१।१॥

(२) रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा.................. १०।१७॥

(३) रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा।
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ॥१०।१२४॥
भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ॥१०।१२५॥

(४) मौलिक अलंकारों के लिए देखिए, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० २६९.

'अलंकार-शेखर' में ८ रत्न तथा २२ मरीचि हैं। अलंकार विषय चतुर्थ रत्न की चारों मरीचियों में है। लेखक ने रस को काव्य की आत्मा माना है :—

काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् ।
अलंकारस्तु शोभायै रस आत्मा परे मनः ॥

चतुर्थ रत्न में चार मरीचियाँ हैं। प्रथम में शब्दालंकार—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक हैं; इनको ध्वनि[1] के अलंकार कहा गया है। द्वितीय मरीचि में १४ अर्थालंकार हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपन्हुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व, विशेषोक्ति, विभावना। इस मरीचि में केवल उपमा का विस्तार है; तृतीय मरीचि में रूपक तथा चतुर्थ में उत्प्रेक्षा आदि हैं। पंचम रत्न में उपमा के प्रतियोगी तथा अनुयोगी वर्णित किये गये हैं। उक्ति के अनेक भेद, तथा मुद्रा प्रथम रत्न की द्वितीय मरीचि में आ गये थे।

इस प्रकार अलंकार-शेखर किसी विशेष महत्त्व की पुस्तक नहीं है; इसमें दूसरों का संग्रह ही अधिक है, लेखक ने प्रतिपादन नहीं किया। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य कवि-शिक्षा जान पड़ता है, विवेचन नहीं।

अप्पय्य दीक्षितः : कुवलयानन्द (१७ वीं शती का पूर्वार्ध)

'कुवलयानन्द' से पूर्व दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' लिख ली थी, क्योंकि कुवलयानन्द में 'एतद् विवेचनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्' जैसे संकेत हैं, परन्तु 'चित्रमीमांसा' अधिक सराहनीय कृति है, पण्डितराज ने कदाचित् इसीलिए उसका खंडन किया था।

'चन्द्र' के 'आलोक' से 'कुवलय' के 'आनन्द' का जन्म होता है, इसी कल्पना पर 'चन्द्रालोक' का उपजीवी 'कुवलयानन्द' कहलाया। आधार-ग्रंथ के पंचम मयूख (अलंकार-विषय) पर यह एक सोल्लास टीका है। इसमें 'चन्द्रालोक' के 'लक्ष्य-लक्षण श्लोक'[2] यथावत् ग्रहण कर लिये गये ह, और कुछ अलग बनाये हैं। कुवलयानन्द का हिन्दी आचार्यों में बड़ा प्रचार रहा है और जयदेव का नाम लेने वाले भी अप्पय्यदीक्षित के ही ऋणी हैं। इस पुस्तक की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(क) केवल अलंकार विषय[3]।
(ख) बालोपयोगिता।
(ग) लक्ष्य-लक्षण-संग्रह।
(घ) ललित शैली।

---

(१) चित्र-वक्रोक्त्यनुप्रास-गूढ़-श्लेष-प्रहेलिकाः ।
प्रश्नोत्तरं च यमकमष्टाऽलङ्कृतयो ध्वनौ ॥

(२) येषां चन्द्रलोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥५॥

(३) अलंकारेषु बालानाम्, अवगाहनसिद्धये ।
ललितः क्रियते तेषां, लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ॥४॥

कुवलयानन्द में अर्थालंकार ही हैं, शब्दालंकार नहीं। जो अर्थालंकार जयदेव ने लिखे थे, उनके अतिरिक्त २४ अन्य भी अप्पय्य दीक्षित ने लिखे हैं। कुवलयानन्द का कौशल प्रत्येक भेद के लिए स्वतंत्र लक्ष्य-लक्षण-श्लोक बनाने में है जिसका अनुवर्त्तन उत्तर आचार्य (हिन्दी के आचार्य) नहीं भी कर पाये।

प्रथम १०० अलंकार प्राचीन तथा आधुनिक आचार्यों[1] के मत से लिखकर दीक्षित ने पंचदश अन्य[2] का विवेचन किया है—४ रसवदादि, ३ भावोदय आदि तथा ८ प्रमाणालंकार। प्रमाण के ३ भेद हैं—शब्द, स्मृति तथा श्रुति। फिर संसृष्टि १ भेद, तथा संकर ५ भेद हैं। कुवलयानन्द की यह लक्षणोदाहरण प्रणाली कंठ्यसुगम होने के कारण छात्र-मंडली में भी सर्वप्रिय बनी रही।

जगन्नाथ : रसगंगाधर (सन् १६४१ से १६५० तक)

अलंकार-शास्त्र के अन्तिम स्मरणीय आचार्य पंडितराज जगन्नाथ हैं, इनका व्यक्तित्व भी उतना ही रोचक है जितना कि इनका पांडित्य आतंकक। अलंकार-शास्त्र पर दो कृतियों, 'रसगंगाधर' तथा 'चित्रमीमांसा-खंडन' में से 'रसगंगाधर' पण्डितराज की कीर्ति का अमर लेख है, इसको 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' के समकक्ष समझना चाहिए। जगन्नाथ प्रतिभाशाली विद्वान् तथा सरस कवि थे; परन्तु दुर्भाग्यवश इनकी प्रतिभा उन्मार्गगामिनी अधिक रही। आश्रयदाताओं पर स्नेह तथा समकालीन पंडितों पर रोष की वर्षा में ही इनका अधिकतर समय लगा है; इनका अहंकार किसी हीनताग्रंथि से उबल रहा है; 'रसगंगाधर' में तो अहंकारपूर्ण पांडित्य-पुष्ट खंडन है ही, समकालीन अप्पय्य दीक्षित से चिढ़ कर इन्होंने 'कुवलयानन्द' की निन्दा की है और 'चित्रमीमांसा' के खंडन में एक पुस्तक ही लिख डाली, वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा टीका का खंडन करते हुए 'मनोरमा-कुच-मर्दनम्' लिखा। ये दाक्षिणात्य थे, इसलिए समकालीन ('नव्य') दाक्षिणात्यों के लिए इनके मन में विशेष ज्वाला है। इनका खंडन सदा बौद्धिक नहीं रहा, प्रायः व्यक्तिगत आक्षेपों से संकुल बन गया है।

फिर भी रस-गंगाधर का महत्त्व निर्विवाद है। इसके ३ अंग हैं—लक्षण (गद्यसूत्र), वृत्ति तथा उदाहरण। लक्षण गद्य में हैं परन्तु उनको सूत्र नहीं कहा जा सकता, वृत्ति में स्वमत प्रतिपादन तथा परकीय खंडन है, उदाहरण आचार्य ने अपने बनाये हैं—यह कोई मौलिक सूझ नहीं, फिर भी जगन्नाथ अहंकार से कहते हैं कि मैंने अपने नूतन उदाहरण बनाये हैं, दूसरे से नहीं लिये, कस्तूरी वाला हरिण क्या कभी पुष्पों की सुगन्ध से संतुष्ट रह सकता है?[3]

---

(१) इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः ॥१६९॥

(२) एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः ॥१७१॥

(३) निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण (पृ० ३).

'रस-गंगाधर' को शिवभक्त जगन्नाथ ने रस का 'गंगाधर' (=शिव) बनाना चाहा था, और इसके ५ आननों का सौंदर्य प्रदर्शन उनका अभीष्ट था; परन्तु इसके २ 'आनन' भी पूरे न हो सके। उपलब्ध 'रस-गंगाधर' में उत्तर अलंकार तक का प्रकरण अधूरा रह गया है। अन्तिम उदाहरण भी तीन चौथाई लिखा है। क्या लिखते-लिखते आचार्य का शरीर शिथिल हो गया? अनुश्रुति उनकी मृत्यु के विषय में कुछ और कहती है। 'चित्र-मीमांसा खंडन' के अन्तःप्रमाण से ज्ञात होता है कि वह रचना 'रस-गंगाधर' के बाद की कृति है। नव्यतम लेखक के विषय में काल की क्रूरता को भी कोसा नहीं जा सकता। क्या ईर्ष्यालु पंडित शेष अंश को नष्ट कर बैठे? या जगन्नाथ एक ही समय में 'रसगंगाधर' तथा 'चित्रमीमांसा-खंडन' लिख रहे थे, अतः 'रसगंगाधर' का संकेत दूसरी पुस्तक में कर सकें—'चित्रमीमांसा-खंडन' भी तो अपूर्ण जान पड़ता है[1], इसमें अपन्हुति तक चल कर लेखक रुक गया है, उत्प्रेक्षा तथा अतिशय को उसने नहीं उठाया।

उपलब्ध 'रसगंगाधर' में दो 'आनन' हैं। प्रथमानन में काव्यलक्षण, काव्यकारण, पूर्वाचार्य स्वीकृत काव्य के ३ भेदों के स्थान पर ४ भेद (उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम), रसस्वरूप, रसदोष, शब्दगुण, अर्थगुण, रसाभास आदि की चर्चा है। इस आनन में आचार्य ने इस बात पर जोर दिया है कि काव्यलक्षण में गुणालंकारादि का सन्निवेश उचित नहीं (पृ० ७)। काव्य के चार भेदों में द्वितीय तथा तृतीय भेद में गुणीभूतव्यंग्य क्रमशः जागरूक तथा अजागरूक रहता है, अलंकारप्रधान काव्य इन्हीं भेदों के अन्तर्गत आ जाता है,[2] अधम काव्य में शब्दचमत्कृति प्रधान रहती है।

द्वितीय आनन में शब्दशक्ति पर विचार है। यहां रूपक अलंकार में लक्षणा शक्ति के आधार को दिखलाकर, इस लक्षणा-प्रसंग में अलंकारों का निरूपण है। अलंकारों के संबंध में यही नूतन दृष्टिकोण है, अलंकार शब्दशक्ति के आश्रित हो गये और उनका मुख्य आधार लक्षणा बन गई। यहां ध्यान रखना होगा कि पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र के अनुकरण पर आधुनिक हिन्दी काव्य में जो नवीन अलंकार आ गये हैं उनको पुरातनतावादी आचार्य शब्दशक्ति (लक्षणा तथा व्यंजना) के ही विशेष बताया करते हैं; पण्डितराज ने सभी अलंकारों को शब्दशक्तिमूलक ही सिद्ध किया है—यद्यपि इस मत के बीज 'प्राच्य' आचार्यों में भी खोजे जा सकते हैं। 'रस-गंगाधर' में 'उपमा' से 'उत्तर' तक ७० अलंकारों का विवेचन है; शेष के विषय में अपूर्ण कृति से कोई भी निष्कर्ष भ्रामक होगा। अलंकार-क्रम प्रायः 'काव्यप्रकाश' तथा 'अलंकार-सर्वस्व' के अनुसार है।

अस्तु 'रसगंगाधर' नाम की यह 'काव्यमीमांसा'[3] मौलिक, पाण्डित्यपूर्ण, विशद तथा प्रतिभान्विता है। निर्वाण से पूर्व जिस प्रकार दीपक में विशेष ज्योति आ जाती है उसी

---

(१) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २७८।

(२) अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम्। (पृ० २३)।

(३) रसगंगाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्। (पृ० ४).

प्रकार अलंकार-शास्त्र का यह निर्वाणोन्मुख अन्तिम मणिमय[1] आलोक था, जिसने अपनी आभा से सबका मानमर्दन कर दिया।

पर्यालोचन

आचार्य गार्ग्य से पण्डितराज जगन्नाथ तक के दीर्घ काल में अलंकार तथा अलंकार-शास्त्र की पूर्ण मीमांसा हुई; आचार्यों की मौलिक उद्भावनाएँ, प्रखर प्रतिभा तथा प्राज्ञ व्यक्तित्व ने इस शास्त्र को तरंगायित करके अनक अमूल्य मणियां प्राप्त कीं। केवल ४ अलंकार शनैः शनैः किस प्रकार सार्धशत रूप धारण कर सके---यह अध्ययन ऐतिहासिक वातायन से सामाजिक चित्तवृत्ति का रोचक दर्शन सुलभ कराने के साथ-साथ आचार्यों की सूक्ष्म विवेचना का भी गहन परिचायक है। समय-समय पर अलंकारों के वर्गीकरण के प्रयत्न होते रहे, कभी मूल को दृष्टि में रखकर, कभी फल को, और कभी खाद्य को; भौगोलिक, विश्लेषणात्मक वर्गीकरण तो हुए परन्तु एतिहासिक नहीं। खण्डन-मण्डन में भी रुचिमान् आचार्य अपनी प्रतिभा से पाठकों को प्रभावित कर सके हैं। आदि में आचार्य लक्षण तथा लक्ष्य दोनों का निर्माण करते थे, बीच में उनका काम केवल विवेचन बन गया परन्तु अन्तमें फिर लक्ष्य-लक्षण-सृजन का नाम आचार्यकर्म पड़ा। विवेचन का विकसित रूप वृत्ति बन कर आया, और आचार्य प्रायः वृत्ति भी स्वयं लिखने लगे। संस्कृत के आचार्य की गुण-ग्राहकला प्रशंसनीय है; अपनी मौलिक प्रतिभा का व्यय वह पूर्व आचार्य की व्याख्या में भी कर देता था : फलतः *काव्यशास्त्र की वृत्तियां या व्याख्याएँ भी मूल ग्रन्थ के समान* ही महत्त्व की अधिकारिणी बन गयी हैं।

अलंकार-शास्त्र के इस इतिहास को ३ भागों में विभक्त किया जाता है---ध्वनि-पूर्वकाल, ध्वनिकाल, तथा ध्वन्युत्तर काल। ध्वनिपूर्वकाल के आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, तथा रुद्रट हैं। इस काल में अलंकार का सार्वभौम शासन रहा, शेष धर्म अलंकार के सहयोग के बिना प्रतिष्ठित न हो सके। भामह अलंकार के आदि आचार्य हैं, और २३ नवीन अलंकारों के जन्मदाता हैं; इनकी कृति 'काव्यालंकार' सहस्राब्दी तक अपने नाम तथा रूप से दूसरों को कार्योन्मुख करती रही है। दण्डी दक्षिण के मान्य आचार्य थे, और यद्यपि इनमें भी अलंकार का विस्तार है, फिर भी इनका मत भामह के पक्ष में उतना नहीं जितना कि भरत के। भामह और दण्डी परस्पर सम्पूर्ति के साधक हैं; इनसे ही अलंकार-शास्त्र की कतिपय विरोधगर्भिणी समस्यायें चलने लगती हैं; अलंकार में वक्रोक्ति का कितना मूल्य है, यह आज तक विवादास्पद है; स्वाभावोक्ति अलंकार है या नहीं, यह प्रश्न सर्वप्रथम इन्हीं आचार्यों ने उठाया था। उद्भट की सर्वमुख्य विशेषता है भाम में छिपे हुए वर्गीकरण के बीजों को पल्लवित करना; कुछ अलंकारों को जन्म तो इन्होंने दिया ही। वामन रीति तथा गुण के प्रसंग में याद किये जाते हैं; उपमा का प्रपंच भी स्वतंत्र रूप में एक नई वस्तु है। रुद्रट इस काल के उपसंहारक हैं। इस काल तक

---

(१) निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललित-रसगंगाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता---
मलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥ (पृ० ३).

आचार्य लक्षण तथा उदाहरण स्वयमेव बनाते थे, और अन्य आचार्यों का खण्डन परोक्ष रूप से करते थे, प्रत्यक्ष रूप से नहीं। यह विस्तार का काल है, सार्वभौम प्रतिभा का काल है; अभी तक आचार्यों में दूसरों को कसने की प्रवृत्ति न जगी थी। हिन्दी के आचार्य केशव पर इसी युग का प्रभाव है।

ध्वनिकाल खण्डन का काल है, स्थापना का काल है, शिक्षा का उतना नहीं। और विचार्य विषय था आभ्यन्तरिक या प्रतीयमान सौंदर्य, इतर सौंदर्य को उसके अधीन बन जाना पड़ा। आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा महिमभट्ट सीधे ध्वनि से सम्बद्ध हैं। 'अग्नि-पुराण' तथा 'सरस्वती-कण्ठाभरण' इस युग के ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें युग की प्रतिभा नहीं पायी जाती। अलंकार का विवेचन न होकर अब अलंकार का स्थान निर्धारित हो रहा था। स्वरचित उदाहरणों की प्रथा उठ गयी; और वृत्ति का रिवाज चल पड़ा; प्रत्येक ग्रन्थ के ३ अंग बने---मूल, वृत्ति तथा उदाहरण; मूल स्वकीय, उदाहरण प्रायः परकीय, वृत्ति क्वचित् स्वकीय क्वचित् परकीय। इस शैली का ही नाम आचार्यत्व हुआ, जिसका अनु-गमन जगन्नाथ तक मिलता है।

ध्वन्युत्तर काल अपने पूववर्त्ती कालों का ऋणी है; मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ शैली की दृष्टि से ध्वनिकाल के अनुजात हैं; जयदेव, केशवमिश्र तथा अपय्यदीक्षित आदि ध्वनिपूर्वकाल के सहवर्गी हैं। इस युग में विरोध तथा विवाद अधिक न हो सका, क्योंकि नवीन सिद्धांतों की सम्भावना कम थी; प्रतिपादन और भी कम हुआ। अस्तु,ध्वन्युत्तर काल पूर्व प्रवृत्तियों (उभयात्मिकाओं) का प्रतिफलन मात्र है।

ठीक इसी समय 'भाषा' में अलंकार-शास्त्र बनने लग गया और युगानुरूप पूर्वकालीन प्रवृत्तियां हिन्दी में भी दृष्टिगोचर होने लगीं। एक ओर जगन्नाथ और दूसरी ओर केशव-दास दो भिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक बने हुए थे। एक ही साथ संस्कृत तथा भाषा में अलंकार-शास्त्र की यह लहर आ गयी। हिन्दी-आचार्यों ने ध्वनिपूर्व काल से शैली तथा ध्वन्युत्तर काल से सिद्धांत लेकर सामान्य जनता के लिये उस अमूल्य राशि को सुलभ कर दिया। आगामी पृष्ठों में हम उसी प्रयत्न का अध्ययन कर रहे हैं।

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

परिचय

'शिवसिंह-सरोज' के अनुसार हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक पुष्य नाम का एक कवि था, जिसने सातवीं शताब्दी में काव्य-शास्त्र पर एक अलंकार-ग्रंथ हिन्दी में लिखा। यद्यपि प्रमाण के अभाव में उक्त तथ्य किसी आलोचक को स्वीकार्य नहीं, फिर भी विचार करने से यह असंभव भी नहीं जान पड़ता कि सप्तम शती में हिन्दी भाषा में काव्य-शास्त्र की कोई पुस्तक लिखी गई हो। कम विश्वास का तथ्य यह है कि सप्तम शती में, नितान्त साधारण जनता में ही सही, जिस भाषा का व्यवहार होने लगा था, वह अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। संस्कृत भाषा और साहित्य का देश में कुछ ऐसा आधिपत्य रहा है कि देशी भाषाओं का स्वतंत्र विकास कम ही हो सका, काव्य-शास्त्र के संबंध में तो यह और भी अधिक सत्य है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत से नितान्त स्वतंत्र काव्य-शास्त्र नहीं हैं। हिन्दी में एक युग ऐसा था जब, संस्कृत के अनुकरण पर ही सही, काव्य-शास्त्र संबंधी साहित्य का अविरत सृजन हो रहा था—यहां तक कि संस्कृत-ज्ञान से शून्य व्यक्ति भी भारतीय काव्य-शास्त्र का सामान्य ज्ञान हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राप्त कर सकता है; अन्य प्रादेशिक भाषाओं में इस प्रकार का न युग आया और न इस वर्ग का साहित्य है। अस्तु, सप्तम शती में भारतीय काव्यशास्त्र पर देश भाषा में एक पुस्तक लिखी गई हो, यह कोई अविश्वसनीय आश्चर्य का तथ्य नहीं।

काव्यशास्त्र संबंधी उपलब्ध सामग्री के अनुसार हिन्दी में केशवदास ही सर्वप्रथम आचार्य हैं। केशव से रामदहिन मिश्र तक चार सौ वर्ष का अपार साहित्य है, जिसके रचयिता असंख्य हैं; कदाचित् ही कोई ऐसा मंडल हो जहां किसी भी व्यक्ति ने काव्यशास्त्र पर कुछ न लिखा हो; और कदाचित् ही कोई ऐसा साहित्यिक परिवार हो, जिसके पूर्व पुरुषों में से कोई भी उस बहती गंगा में एक डुबकी न लगा गया हो। अभी पर्याप्त खोज नहीं हुई, फिर भी यावत् प्रयत्न से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-शास्त्र संबंधी साहित्य हिन्दी (ब्रजभाषा) की एक अनन्य विशेषता है, और जिस मात्रा में इस साहित्य की सृष्टि हुई थी, उस मात्रा में किसी अन्य साहित्य की नहीं—भक्ति साहित्य की भी नहीं। काव्य-शास्त्र संबंधी विचारों की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यिकों ने शृंगार, वीर तथा शांत तीन रसों का तो, अपने उदाहरणों में, स्पष्ट आश्रय लिया है; ऐसे स्रष्टा भी मिल सकते हैं, जिनमें दूसरे रस हों; और रसविहीन सूक्तियों द्वारा काव्यशास्त्र के उदाहरण लिखने वाले साहित्यिक भी पर्याप्त हैं। यदि छंदों की दृष्टि से देखा जाय तो सभी प्रचलित छंद इस साहित्य में उदाहरण हेतु स्वीकार किये गए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति-भेद से भिन्नता एवं व्यापकता का परिचायक यह काव्यशास्त्रीय साहित्य अपने आप में विशाल तथा महान् है।

ऊपर यह कहा गया है कि काव्यशास्त्र संबंधी साहित्य हिन्दी (ब्रजभाषा) की एक अनन्य विशेषता है; परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इतर भाषाओं में इस प्रकार के साहित्य का अत्यन्ताभाव है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में इस प्रकार के ग्रंथ उपलब्ध हैं; पाली-साहित्य का स्वाभाविक झुकाव कला के विरुद्ध था फिर भी वहां काव्य-शास्त्र की नितान्त अवहेलना न हो सकी[1]। दक्षिण[2] भाषाओं में इस साहित्य की भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है---तमिल में अगस्त्य ने सर्व प्रथम इयाल (साहित्य), इसइ (संगीत), तथा कुट्टु (नाटक) पर लिखा था, और द्वितीय संगम युग तक साहित्यशास्त्र के स्वतंत्र नियम विकसित हो चुके थे, वस्तु (पोरल) का 'अहम' तथा 'पुरम' में विभाजन एवं 'अहम' के संबंध से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं ऋतुओं, कालों आदि के नियम संस्कृत नियमों के समानान्तर प्रतीत होते हुए भी मौलिक हैं। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बंगाल में वैष्णव काव्यशास्त्र के ग्रंथ लिखे गए जिनमें भक्ति रस को सर्वमुख्य स्थान मिला, परन्तु इन ग्रंथों (रूपगोस्वामी कृत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि) की भाषा संस्कृत है, बंगाली नहीं। डिंगल में यद्यपि काव्यशास्त्र का विकास होने के फलस्वरूप 'वयणसगाई' जैसे स्वतंत्र अलंकारों का प्रादुर्भाव हुआ फिर भी काव्यशास्त्र की जैसी लहर ब्रजभाषा में आई, वैसी राजस्थानी में नहीं। 'रहीम' ने अवधी में बरवै नायिका भेद लिखा, और तुलसी की 'बरवै रामायण' अलंकारों के उदाहरणस्वरूप लिखी हुई मानी जा सकती है परन्तु बरव की यह अवधी पर-म्परा आगे चलती हुई नहीं मिलती; अवध प्रांत के कवियों ने भी[3] ब्रज भाषा का आश्रय लेकर ही काव्यशास्त्र पर ग्रंथों का प्रणयन किया है।

हिन्दी-साहित्य में काव्यशास्त्र के मुख्यतया तीन भिन्नकालीन प्रवाह रहे हैं: एक केशव का, दूसरा रीतिकाल का और तीसरा आधुनिक युग का और क्योंकि इन प्रवाहों की गति एक दूसरे के अनन्तर ही दृष्टिगत होती है, इसलिए आलोचकों ने तीनों में एक अवि-च्छिन्न संबंध-सूत्र की खोज का प्रयत्न किया है; परन्तु वस्तुतः उन प्रवाहों का अध्ययन पृथक् पृथक् ही, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में करना ही, अधिक समीचीन है।

यदि पुष्य कवि की अप्राप्य रचना पर विचार न किया जाय तो केशवदास यावत् उपलब्ध हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम आचार्य हैं, इनका समय संवत् १६१२ से संवत् १६७४ (रामचंद्र शुक्ल) तक है; उनके जीवन काल में अकबर का उत्तर भारत में शासन था, कम से कम काव्यशास्त्र संबंधी पुस्तकें कशवदास ने अकबर के राज्य-काल में ही लिखीं।

---

(१) पाली भाषा में 'सुबोधालंकार', 'कविसारपकरणं', 'कविसार तीक निस्सय', काव्यशास्त्र की तीन ही पुस्तकें हैं। (पृष्ठ ६३८)।

(ए हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर, भाग II)

(२) सिंहली भाषा में 'सियवासलंकार' ('स्वभाषालंकार') तथा कन्नड़ में 'कविराज-मार्ग' दण्डी के 'काव्यादर्श' से अनुप्रेरित प्रतिष्ठित अलंकारशास्त्रीय रचनायें हैं। (श्री काणे, पृष्ठ XXVI)

(३) दासकवि अवधी-प्रदेश के निवासी थे फिर भी इन्होंने ब्रजभाषा को 'काव्य-निर्णय' जैसा काव्यशास्त्र का अपूर्व ग्रंथ दिया।

अकबर का शासन कला के लिए उतना प्रसिद्ध नहीं जितना धार्मिक समन्वय के लिए; मध्यकालीन कला का प्रोद्‌भव अकबर की प्रवृत्ति और नीति से परिचालित हुआ परन्तु उसका वास्तविक विकास शाहजहां के शासन काल में ही दिखाई देता है। हिन्दी काव्य-शास्त्र या काव्य-कला भी शाहजहां के समय में ही फली फूली। मुगल शासन का इस पर कितना प्रभाव है यह इस साहित्य के लिए ब्रजभाषा मात्र की स्वीकृति से अनुमानित किया जा सकता है--फारसी उस समय शासन की भाषा अवश्य थी और शिल्प कला आदि में भी ईरानी पच्चीकारी की स्थायी छाप है परन्तु साहित्य में भारतीयता का ही आधिपत्य था जिसका सबसे बड़ा प्रमाण पंडितराज जगन्नाथ हैं जिनकी तुलना के लिए मुगल काल का कोई भी फारसी साहित्यिक नहीं है। मुगल शासन के क्षेत्र ब्रज में ही काव्यशास्त्र का यह प्रवाह आया था, और यह प्रवाह तत्कालीन जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिसके समानान्तर कला के दूसरे रूप शिल्प, संगीत, चित्रकला आदि भी उसी प्रकार प्रोच्छ्वसित हुए थे। केशव का काव्यशास्त्र इस प्रवाह क्षेत्र से बाहर है; वह उस युग का स्वाभाविक विकास न होकर संस्कृत-परम्परा का देशीय रूप है; यदि केशव का प्रयत्न आगे भी चलता रहता तो ब्रज-भाषा में समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र की देशीय छाया सुलभ हो जाती, और आज के आलोचक को केशव स्थान-भ्रष्ट से न दिखाई पड़ते।

आचार्य केशव ने ब्रजभाषा में समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देने का जो श्री-गणेश किया था, उसका महत्त्वांकन न कर सकने के कारण आज का अनुवादी आलोचक भी केशव को संस्कृत की पुरानी परंपरा का आचार्य मात्र मान बैठता है, वह यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि केशव ने भाषा में काव्य-शास्त्र को प्राप्य बनाने का मार्ग दूसरों के लिए भी प्रशस्त कर दिया था। केशव वस्तुतः एक बड़े आचार्य थे जिनका पांडित्य अतर्क्य है, उन्होंने काव्यशास्त्र में जितने अंगों का विवेचन किया है, उतने अंगों का दूसरे आचार्यों ने नहीं। रीतिकाल के सामान्य प्रवाह से वे केवल इसी आधार पर अलग किये जा सकते हैं कि उनका आचार्यत्व पूर्ण तथा व्यापक है, एकांगी नहीं, परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण विशेषता केशव का कवि-शिक्षा लिखना है--रीतिकालीन आचार्यों ने रस या अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये, परन्तु केशव ने कवियशः प्रार्थी युवकों को साधना का मार्ग दिखाया।

अस्तु, केशव से काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों का प्रणयन आरम्भ नहीं होता; केशव समय की उपज नहीं, रीति-साहित्य सामयिक परिस्थितियों का स्वाभाविक विकास है; केशव आचार्यत्व की भावना से संस्कृत-ज्ञान-वंचित युवकों के लिए काव्य-शास्त्र लिख रहे थे; रीतिकाल में काव्यशास्त्र या कवि-शिक्षा की ओर प्रयत्न नहीं, कला की ओर झुकाव है--और कला के उपकरण हैं रस तथा अलंकार--अलंकार के उदाहरणों में रस छलक रहा है और रस की चर्चा भी अलंकृत है; केशव कला की क्रीड़ास्थली से दूर रहते थे, रीतिकाल के आचार्य कलाकलित वातावरण में ही जीवन का रस लूटते रहे। यदि अनुसंधान के फलस्वरूप केशव तथा चिन्तामणि के बीच की खाई को भरने के लिए ऐसा साहित्य मिल जाय जो केशव के पद चिह्नों पर चलता दिखाई पड़े तो भी केशव से रीतिकाल का आरम्भ न माना जायगा क्योंकि उस दशा में रीतिकाल के दो भाग होंगे, पूर्वार्द्ध में केशव का अनुकरण होगा और

उत्तरार्द्ध में मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ का--'प्राचीन' तथा 'नवीन' सरणि के आचार्य अलग-अलग तो रहेंगे ही।

वर्गीकरण

चिन्तामणि से पद्माकर तक के आचार्यों की संख्या अगण्य है और प्रत्येक आचार्य की अपनी-अपनी विशेषताएं भी हैं क्योंकि ये आचार्य स्वच्छंद कवि थे, पथ-प्रदर्शक नहीं। आधुनिक आलोचकों ने इन आचार्यों या हिन्दी के रीतिकार कवियों को वर्गों में रखने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'हिन्दी के अलंकार ग्रंथ अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुए कुछ ग्रंथों में काव्यप्रकाश और साहित्य-दर्पण का भी आधार पाया जाता है'। इसीलिए डा० नगेन्द्र ने इन आचार्यों की शैली को काव्यप्रकाश शैली और चन्द्रालोक-शैली के नाम से पुकार कर इनके दो वर्ग मान लिये हैं।

यदि इन सब रीति कवियों की वर्ण्य वस्तु पर विचार किया जाय और केशव को इस प्रवाह से अलग मानकर चला जाय तो इन रीतिकवियों की सामान्य विशेषता केवल यही है कि इन्होंने काव्यशास्त्र के सभी अंगों को ध्येय न बनाकर केवल एक या एक से अधिक अंगों के व्याज से ब्रजभाषा के सरस (प्रायः शृंगारमय) उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; लक्षण और विवेचन की ओर इनका ध्यान नहीं है--वस्तुतः संस्कृत भाषा में टीका-टिप्पणी दर्शनशास्त्र के समान काव्यशास्त्र में भी इतनी अधिक हो चुकी थी कि यदि ब्रज भाषा में भी इसकी आवृत्ति होती तो जटिलता का ही कारण बनती; आद्योपान्त नया विवेचन प्रारम्भ करना भी संभव न था। अतः रीतिकवि का ध्येय भाषा के पाठक को काव्यशास्त्र के सामान्य सिद्धांतों से परिचित करा देना भर था। सरसता के कारण वह इस कार्य में अधिक सफल हो सकता था। हिन्दी के रीतिकवि ने समय की मांग को भली प्रकार समझा और तदनुकूल आचरण भी किया।

यदि इन रीतिकवियों के पारस्परिक भेद को व्यावर्त्तक धर्म मान कर इनका वर्गीकरण किया जाय तो वस्तु की दृष्टि से ऐसा दिखाई पड़ता है कि अधिकतर ने काव्यशास्त्र के केवल एक अंग--प्रायः अलंकार अन्यथा रस, (नायिका भेद), कहीं-कहीं छंद--के ही लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; केवल कुछ एक ने एक से अधिक अंग (अलंकार, रस, शब्द-शक्ति, गुण-दोष) का प्रसंग चलाया है। तब इन कवियों के दो वर्ग बने एकांग-निरूपक तथा अधिकांग-निरूपक। एकांग-निरूपकों के अलग-अलग वर्ग बन सकते हैं--अलंकार-निरूपक, नायिका-भेद-निरूपक, छन्दोनिरूपक आदि। इस युग में अलंकार-निरूपकों का ऐसा बोलबाला था कि मिश्र-बंधुओं ने इस काल को नाम ही 'अलंकृत काल' दे दिया।

यदि इन रीतिकवियों का, इनकी काव्यविषयक मान्यताओं को ध्यान में रख कर, संप्रदायों में वर्गीकरण किया जाय तो कुछ तो रस-संप्रदाय के अन्तर्गत रखे जा सकेंगे, शेष अलंकार-संप्रदाय के अन्तर्गत। परन्तु इस सांप्रदायिक भावना का हमको आरोप करना पड़ेगा, रीतिकवि स्वयं इसके लिए अग्रसर नहीं होते; भूषण ने अलंकार का ग्रंथ लिखा परन्तु वीर रस को वाणी का उद्धारक माना; रस को महत्त्व देने वाले भी अलंकार-विषय में सबसे अधिक रमते रहे। वस्तुतः उस युग में 'रस' शब्द 'जीवनानुराग' का पर्याय था। इसी-

लिए उसकी अभिव्यक्ति जितनी नायिकाभेद से हो सकती थी, उतनी ही अलंकार-निरूपण से भी।

यदि इन रीतिकवियों की निरूपण-शैली पर ध्यान दें तो कम से कम तीन प्रकार की शैलियां हैं---एक ही छंद में लक्षण और उदाहरण फिट कर देना, लक्षण के लिये अलग छंद और उदाहरण के लिए अलग, तथा लक्षण के अनन्तर ऐसा वर्णन जिसमें उदाहरण भी बन सके। प्रथम पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है, द्वितीय पर 'काव्यप्रकाश' का, तृतीय पर विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का। इन शैलियों के अतिरिक्त दूलह की स्वतंत्र शैली है, वे एक साथ लक्षण देकर फिर एकत्र उदाहरण दे देते हैं। ध्यान रखना होगा कि ये शैलियां संस्कृत के तद्तद् आचार्य या ग्रंथ से ही प्रारम्भ नहीं होतीं, इनके बीज भी पहले से मिलते हैं और इनकी स्वीकृति भी हो चुकी थी---जिन आचार्यों की प्रसिद्धि थी उनके अपनाने से इन शैलियों को उन आचार्यों से संबंधित नाम मिल सकता है।

चन्द्रालोक-शैली तथा काव्यप्रकाश-शैली से यह अर्थ तो कदापि नहीं लिया जा सकता कि 'चंद्रालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' के सिद्धांतों को भी तद्तद् रीतिकवि ने स्वीकार कर लिया, अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि लक्षण-उदाहरण-समन्वय में अमुक रीतिकवि पर जयदेव का प्रभाव है, अमुक पर मम्मट का, और अमुक पर विद्यानाथ का। क्या शैली का प्रभाव विषय को प्रभावित नहीं करता? उत्तर सचमुच कठिन है। 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त शैली को अपना कर भी अनेक रीतिकवि जयदेव का अनकरण नहीं कर सके हैं; 'काव्य-प्रकाश' का नाम लेने वाले मम्मट के सिद्धांतों को समझते भी थे या नहीं---यह विचारणीय है। अस्तु, ऐसा ज्ञात होता है कि किसी आचार्य विशेष या पुस्तक-विशेष का नाम लेने पर भी रीतिकवि उससे शैली अथवा सिद्धांतों में प्रभावित हुआ हो---यह आवश्यक नहीं। जिनमें चंद्रालोक शैली है, उन पर प्रभाव 'चन्द्रालोक' की अपेक्षा 'कुवलयानन्द' का अधिक है।

काव्यप्रकाश-शैली से अभिप्राय क्या है? मम्मट प्रौढ़ आचार्य थे, उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों का अध्ययन करने के उपरांत अपने लक्षणों में अन्वय-व्यतिरेक का ध्यान रखा और कसे हुए लक्षण बनाये; अतः यह स्वाभाविक हो गया कि उनके उदाहरण लक्षणों से पृथक् रहते। लक्षण तो पद्य में थे परन्तु विषय का पूर्वापर संबंध गद्य की योजना द्वारा संभव हुआ, वृत्ति को आना पड़ा और उदाहरण अन्य-रचित रखने पड़े। कारण यह कि मम्मट आचार्य थे, कवि उतने नहीं; और उनका उद्देश्य प्रतिपादन था सरसता नहीं। अतः काव्यप्रकाश शैली की विशेषताएं निम्नलिखित हैं :---

(क) लक्षणों में कसावट
(ख) वृत्ति (गद्य)
(ग) अन्य-रचित-उदाहरण
(घ) लक्षण और उदाहरण के लिए परस्पर स्वतंत्र-छंद

यदि इन विशेषताओं को ध्यान में रख कर निर्णय दिया जाय तो कहना होगा कि रीति कवियों में काव्यप्रकाश-शैली है ही नहीं---काव्य-प्रकाश के प्रति श्रद्धा अवश्य अर्पित की

गई है। लक्षण और उदाहरण के लिए स्वतंत्र-स्वतंत्र छंद का प्रयोग-मात्र ही काव्यप्रकाश-शैली नहीं है, इससे अधिक महत्त्व तो अन्यरचित उदाहरण योजना का है (ऊपर विशेषताओं का क्रम महत्त्व के अनुसार रखा गया है)। 'काव्य-प्रकाश-शैली' की अपेक्षा तो 'काव्य-प्रकाश का प्रभाव' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि मम्मट-स्वीकृत काव्य स्वरूप अति उदार है, उसमें समन्वय का ध्यान रख कर सामान्य दृष्टिकोण की पूर्ण रक्षा की गई है—शब्द और अर्थ के अनन्य समन्वय को काव्य कहते हैं, यह दोषरहित तथा गुणसहित हो, अलंकार न हो तो भी कोई बात नहीं। मम्मट और जयदेव में नितान्त विरोध नहीं, अलंकार के सापेक्षिक महत्त्व पर मतभेद है।

चन्द्रालोक का मत तो स्पष्ट है कि जयदेव अलंकार की अवहेलना नहीं देख सकते। रीतियुग अलंकार का युग था, कला का युग था, अतः उसमें अलंकार की अवहेलना का प्रश्न नहीं आता और यह कहा जा सकता है कि रीति-कवियों पर चन्द्रालोक का प्रभाव है, परन्तु यह कथन सत्य से अत्यधिक निकट नहीं। इस युग में कला या अलंकार की ओर जनता की स्वाभाविक रुचि थी, काव्य में भी अलंकार को प्रतिष्ठा मिली, और 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' का सम्मान हो गया। जयदेव के समान अनेकांग-निरूपण हिन्दी के तथाकथित चन्द्रालोकी आचार्यों ने नहीं किया, 'भाषाभूषण' तक पर अलंकार-प्रकरण में कुवलयानन्द का प्रभाव है। अतः प्रभाव की दृष्टि से तो यही कहना अधिक उचित है कि अधिकतर रीतिकवियों पर 'कुवलयानन्द' का प्रभाव है।

जयदेव ने लक्षण-उदाहरण-समन्वय की एक शैली का संस्कृत में प्रचार किया, जिसको अप्पयदीक्षित ने 'लक्ष्य-लक्षणश्लोक' नाम से अभिहित किया है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(क) संक्षिप्त अविकसित लक्षण
(ख) लघुतम छन्द
(ग) एक श्लोक में ही लक्षण तथा लक्ष्य का समावेश
(घ) स्वरचित उदाहरण
(ङ) वृत्ति (गद्य) का नितान्त अभाव

ये सभी विशेषताएँ या तो अविकसित अवस्था की द्योतक हैं, या आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के आधिक्य की। रीतिकवियों में निश्चय ही इनका अनुकरण है, क्योंकि रीतिकवि रसिक कवि एवं अप्रौढ़ आचार्य थे—उनमें विवेचन की रुचि अत्यल्प है। जसवंतसिंह और पद्माकर इसी वर्ग के थे। एक दोहे में ही लक्षण-लक्ष्य का समावेश करनेवाला कवि चन्द्रालोक का शैली में तो अनुकरण करता है, विषय में नहीं; क्योंकि अलंकारों के भेदोपभेद सर्वत्र ही कुवलयानन्द के अनुसार हैं।

चन्द्रालोक-शैली का प्रभाव मानने में एक आपत्ति है। जयदेव का लक्ष्य कंठ्योपयोगिता थी, इसलिए सूक्ष्मता से उदासीन रहकर उन्होंने एक श्लोक में लक्षण-लक्ष्य को दबा-दबाकर भर दिया; अप्पयदीक्षित ने अलंकारों के भेदों का भी विस्तृत विवेचन किया, इसलिए प्रत्येक भेद के लक्षण-उदाहरण के लिए स्वतन्त्र श्लोक लिखने पड़े। हिन्दी के

कवियों ने अप्पयदीक्षित की इस विशेषता की उपेक्षा कर दी। फलतः भेदों के लक्षण-उदाहरण एक ही दोहे में न भरे जा सके, प्रायः भेदों के लक्षणों को देकर तदनन्तर कवि उन भेदों के क्रमशः उदाहरण लिखता है; जिससे कंठ्योपयोगिता नष्ट हो जाती है। अस्तु यदि चन्द्रालोक-शैली से अभिप्राय लघु छन्द मात्र ही लिया जाय तब तो हिन्दी के कुछ रीतिकवि इस वर्ग के माने जा सकते हैं, अन्यथा जयदेव की एक मुख्य विशेषता (एक ही छोटे छन्द में लक्षण-लक्ष्य का समावेश) यहाँ अप्राप्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विषय, सम्प्रदाय, अथवा शैली को दृष्टि में रख कर इन रीतिकवियों का कोई भी वर्गीकरण निर्दोष नहीं माना जा सकता। तब इनके दो ही वर्ग हो सकते हैं---अनेकांगनिरूपक तथा एकांगनिरूपक। अनेकांगनिरूपक दो प्रकार के हैं---एक वे, जिन्होंने एक रचना में काव्य के एक से अधिक अंगों पर विचार किया है, जैसे दास, देव आदि; दो, वे जिन्होंने भिन्न-भिन्न पुस्तकों में भिन्न-भिन्न अंगों का विवेचन किया है, जैसे मतिराम जिनके ललितललाम में अलंकार, तथा रसराज में रस की चर्चा है। हमारा विचार है कि इस कोटि के कवि जो अलग-अलग पुस्तकों में अलग-अलग अंगों का विवेचन करते हैं एकांगनिरूपक ही हैं क्योंकि इनकी प्रवृत्ति समग्रता की ओर नहीं। एकांगनिरूपकों के अनेक वर्ग हैं---रसनिरूपक, अलंकारनिरूपक, छन्दोनिरूपक आदि। रसनिरूपण के अन्तर्गत नायिकाभेद, नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि सभी विषयों की स्वतन्त्र रचनाएँ सन्निविष्ट हो सकती हैं।

कवि दूलह ने अपने 'कवि-कुल-कण्ठाभरण' की भूमिका में हिन्दी के तद्युगीन साहित्यिकों का कुछ आभास दिया है:---

बरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझैं करतार।
×× ×× ××
दीरघ मत सतकबिन के अर्थाशय लघुतर्ण।
×× ××
जो या कंठाभरन को कंठ करैं सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहैं, अलंकृती ठहराय॥

'कर्त्ता'; 'सत्कवि'; तथा 'अलंकृती' ये तीन शब्द साहित्यिकों के ३ वर्गों के परिचायक हैं। 'कर्त्ता' वह है जो रमणीय रचना कर सके, आज की भाषा में उसको 'कवि' कहा जायगा, और रीतिकवियों के प्रसंग में यह शब्द मतिराम, भूषण आदि उन साहित्यिकों का संकेत देता है जो लक्षणों की ओर ध्यान न देकर वर्णनप्रधान उदाहरणों में सिद्धहस्त थे। 'सत्कवि' शब्द यहाँ 'आचार्य' के लिए प्रयुक्त है, जो व्यक्ति एक से अधिक अंगों का निरूपण (एक ही पुस्तक में) कर सकता था वह उस युग का आचार्य था---दूलह ने कदाचित् 'सत्कवि' शब्द का प्रयोग संस्कृत के आचार्यों के लिए किया हो; परन्तु देव ने 'पुराननि मुनि'[१] तथा

(१) **अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं,**
येई पुराननि मुनि मतन में पाइये।

'आधुनिक कवि' शब्दों द्वारा संस्कृत के पुराने आचार्यों को 'मुनि' तथा संस्कृत-हिन्दी के समकालीन आचार्यों को 'कवि' शब्द से अभिहित किया है। हमारा विचार है कि 'मुनि' शब्द संस्कृत आचार्यों के लिए तथा 'सत्कवि' हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों के लिए प्रयुक्त हो तो अच्छा है। 'अलंकृती' से दूलह का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो अलंकारयुक्त कविता रच सके और अलंकारविषय का ज्ञाता भी हो---चन्द्रालोक-शैली के जो आचार्य माने जाते हैं, वे सभी 'अलंकृती' हैं।

अस्तु, तत्कालीन शब्दावली में ही रीतिकाल के साहित्यिकों के चार वर्ग इस प्रकार बनेंगे :---

(१) सत्कवि---अनेक अंगों का एकत्र विवेचन करने वाले; दास, देव आदि,
(२) कर्त्ता---रीति के आश्रय से वर्णन करने वाले; मतिराम, भूषण आदि
(३) अलंकृती---अलंकारविषय के ज्ञाता और लेखक
(४) कवि---रीति-विहीन रचना करने वाले; बिहारी आदि

इस पिछले वर्ग से इस स्थल पर हमको कोई प्रयोजन नहीं, फिर भी इस पर विचार कर लिया है। कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने अलंकार-विषय के अतिरिक्त किसी अन्य अंग पर लिखा हो, उनका उसी अंग के अनुसार वर्ग बनेगा। 'कर्त्ता' तथा 'कवि' का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, जिसमें आचार्यत्व की प्रवृत्ति हो वह 'कर्त्ता' अन्यथा 'कवि' तो सभी हैं।

× × ×

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति आधुनिक अनुराग को यदि ग्राफ द्वारा देखा जाय तो उसकी सीधी रेखा नहीं बनती---प्रारंभ में यह अनुराग उत्तरोत्तर वर्द्धमान दिखाई पड़ता है, परन्तु फिर इसकी गति कुछ काल तक के लिए स्तब्ध हो गई है, तदनन्तर नवीन परिस्थिति के प्रभाव से इसमें पुनः स्फूर्ति लक्षित होती है। विवेचन की वैज्ञानिक शैली, गद्य का माध्यम, तथा प्रायः संगृहीत उदाहरण ही इन आचार्यों की सामान्य विशेषताएँ हैं, प्रत्येक आचार्य अपनी कुछ विशेषताओं का प्रण करके ही आगे बढ़ा है, अतः रीतिकालीन पिष्टपेषण की इतिश्री स्वतः एव हो गई है।

आधुनिक युग में कविराजा मुरारिदान से लेकर रामदहिन मिश्र तक के काव्य-शास्त्रियों की संख्या दो दशक से अधिक नहीं और चोटी के काव्य-शास्त्री तो एक दर्जन से अधिक न हुए होंगे, परन्तु प्रत्येक आचार्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इस हेतु वर्गीकरण की समस्या यहां भी हल नहीं होती। मान्यताओं के नाम पर ये सभी आचार्य समन्वयवादी हैं। इन शास्त्रीय आलोचकों की अपनी-अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं परन्तु विवेचन तथा प्रतिपादन में ही, प्रतिपाद्य विषय में मौलिकता का प्रश्न इस युग में भी प्रायः ज्यों-का-त्यों बना रहा। लोक-रुचि या समय की माँग के अनुकूल प्रभूत सामग्री में से "किम् ग्राह्यम्" "किम् अग्राह्यम्" पर ही आधुनिक आलोचक आचार्य बन गये हैं।

आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इनही के भेद और विविध बताइये ॥ (भाव-विलास)

अस्तु, आधुनिक आचार्यों के सामान्यतः दो वर्ग बन सकते हैं---(क) प्राचीनों के ही अनुसार अलंकार-शास्त्र की लक्षण-उदाहरण वाली शैली पर पुस्तक लिखने वाले, (ख) अलंकार शास्त्र पर विचारात्मक (प्रायः अनुसंधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले। 'क' वर्ग में ४ उपवर्ग हो सकते हैं---(१) समस्त साहित्य-शास्त्र पर रचना करने वाले (२) केवल अलंकार-शास्त्र पर (३) केवल रस विषय पर (४) अन्य अंगों पर। इसी प्रकार 'ख' वर्ग के भी ४ उपवर्ग बन सकते हैं---(१) समस्त रीति-शास्त्र के विवेचक (२) अलंकार-विवेचक (३) रस-विवेचक (४) अन्य अंगों (या अंग) के विवेचक।

तालिका द्वारा इस वर्गीकरण को इस प्रकार दिखाया जा सकता है---

(क) वर्ग---प्राचीन पद्धति पर लक्षण-उदाहरण शैली के आचार्य।

(अ) उपवर्ग---समस्त साहित्यशास्त्र के व्याख्याता कविराज मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि।

(आ) उपवर्ग---अलंकार के व्याख्याता---भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया आदि।

(इ) उपवर्ग---रस के व्याख्याता---अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि।

(ख) वर्ग---विचारात्मक (प्रायः अनुसंधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले।

(अ) उपवर्ग---समस्त काव्यशास्त्र के विवेचक---बा. गुलाबराय, डा. नगेन्द्र, डा. भागीरथ मिश्र, प्रो. बलदेव उपाध्याय।

(आ) उपवर्ग---अलंकार-विवेचक---डा. 'रसाल' आदि।

(इ) उपवर्ग---रस-विवेचक---आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा. भगवान दास, बा. गुलाबराय, डा. राकेश आदि।

(ई) उपवर्ग---अन्य अंगों के विवेचक---श्री लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' आदि।

यह वर्गीकरण भी रीतिकालीन वर्गीकरण के समान निर्दोष नहीं है, क्योंकि समसामयिक साहित्यिकों का मूल्यांकन कठिन कार्य है।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्यों का अध्ययन केवल विश्लेषणात्मक हो सकता है; प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियाँ उसके कृतित्व का कुछ आभास दे सकती हैं; अविच्छिन्न सम्बन्ध-सूत्र की खोज अथवा वर्गीकरण के प्रयत्न इस प्रसंग में अधिक सफल नहीं हो सकते। अतः प्रस्तुत कृति में हम अलंकार के समस्त (पद्ययुगीन तथा गद्ययुगीन) आचार्यों का अध्ययन काल-क्रमानुसार ही कर रहे हैं, उनको किसी भी प्रकार के वर्गों में बिठलाना हमको अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। आधुनिक काल के हमने केवल वे ही आचार्य विवेच्य समझे हैं जिनमें लक्षण-लक्ष्य प्रणाली है, थीसिसी आचार्यत्व मात्र नहीं।

अध्ययन

अलंकार-शास्त्र का सांकेतिक अध्ययन तो संस्कृत-साहित्य के इतिहास के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय डा० सुशीलकुमार दे तथा श्री काणे को है। इन विद्वानों की पुस्तकें अंग्रेजी में हैं; डा० लहरी, डा० राघवन तथा डा० शंकरन

ने भी काव्यशास्त्र पर अंग्रेजी में ही विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। हिन्दी में इस अध्ययन का एक ही प्रभाव दिखाई पड़ता है कि कुछ विद्वान् अंग्रेजी की पुस्तकों से लाभ उठा कर संस्कृत-काव्य-शास्त्र पर हिन्दी में पुस्तकें लिख सके हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र पर उपर्युक्त शैली की प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति श्री कन्हैयालाल पोद्दार की 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (दो भाग) है। प्रथम भाग में वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के काव्यशास्त्रीय संस्कृत-आचार्यों तथा उनकी कृतियों का परिचय है और द्वितीय भाग में काव्यशास्त्र का अध्ययन है। श्री पोद्दार का उद्देश्य संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य का परिचयात्मक विवेचन ही है, वे हिन्दी के आचार्यों का इस पुस्तक में संकेत नहीं करते। अपनी अन्य कृति 'काव्य-कल्पद्रुम' में श्री पोद्दार जी ने हिन्दी आचार्यों का भी नाम लिया है, वह स्थल इतना संक्षिप्त है कि उसको विवेचन न कह कर 'संकेत' मात्र ही समझना चाहिए। प्रो० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय-साहित्य-शास्त्र' (दो भाग) भी श्री पोद्दार के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (दो भाग) की कोटि की ही रचना है।

आलोचकों ने केशव से पद्माकर तक के आचार्यों की समीक्षा करते हुए तद् तद् आचार्य के काव्यशास्त्र का परिचय दिया है; इन आचार्यों की कृतियों के संपादक भी भूमिका-रूप से कुछ विवेचना करते गए हैं, परन्तु ये दोनों ही ग्रंथावलियां संक्षिप्त तथा अपूर्ण हैं। इनसे आचार्य विशेष के काव्य-सिद्धांतों, विवेचन शक्ति तथा परम्परा-गत स्थान का कोई स्थिर ज्ञान नहीं हो पाता। इन कृतियों की विशेषता सर्वांगीण आभास है, किसी भी अंग का पूर्ण मूल्यांकन नहीं; इनकी शैली प्राय: परिचयात्मक रही है, विवेचनात्मक नहीं बन पाई।

हिन्दी के माध्यम से काव्यशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन डाक्टर उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गए थीसिसों से आरम्भ होने लगता है। इस क्षेत्र में प्रथम स्तुत्य प्रयत्न का श्रेय डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को है, तदनन्तर डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' तथा डा० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' इस क्षेत्र में आये। ये तीनों अध्ययन ३ प्रकार के हैं: डा० रसाल ने अपने १५० पृष्ठ के थीसिस में 'काव्यालंकार-शास्त्र' के केवल एक अंग 'अलंकार' को ही खोज का विषय बनाया था। यह थीसिस अंग्रेजी में है, हिन्दी में इसकी छाया से 'अलंकार-पीयूष' लिखा गया। डा. रसाल जी का यह प्रयत्न आज तक अपने क्षेत्र में अप्रतिम है। अलंकारों का विवेचनात्मक अध्ययन इस प्रयत्न की मुख्य विशेषता है। परन्तु इसमें अलंकारों का विवेचन है, संस्कृत या हिन्दी के आचार्यों का नहीं। आचार्य ने यथास्थान हिन्दी आचार्यों का मत भी उद्धृत किया है।

डा० भगीरथ मिश्र ने 'काव्यशास्त्र का इतिहास' लिखते हुए विवेचन को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि इतिहास को। इस रचना को सूचना के लिए तो सबसे अधिक पूर्ण माना ही जाता है, कृतियों के विश्लेषण पर भी ध्यान देना चाहिए। प्रकाशित तथा हस्तलिखित प्रतियों को पढ़ कर उनके विषय में पाठक को पूरी जानकारी देने के लिए डा० मिश्र धन्यवाद के पात्र हैं, उनकी कृति अनेक शोधकर्त्ताओं का आधार बन सकती है।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों का सुन्दर विवेचन अंग्रेजी तथा संस्कृत की पुस्तकों के आधार पर किया है। उनकी कृति का शास्त्रीय

अंश डा. दे, श्री काणे तथा श्री पोद्दार की परम्परा में एक नवीन प्रयत्न है। पुस्तक का दूसरा खंड 'देव और उनकी कविता' में देव के आचार्यत्व पर संतुलित विचार किया गया है। लेखक की दृष्टि सर्वांगीण है, वह काव्य-सिद्धांतों पर अधिक ध्यान देता है।

केशव, चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, पद्माकर आदि के व्यक्तित्व का अध्ययन आज भी हो रहा है। और क्योंकि ये लोग कवि होने के साथ-साथ आचार्य भी थे, इसलिए दूसरे शोधकर्त्ता इन साहित्यिकों के शास्त्रीय विवेचन पर भी विचार कर लेते हैं। कुछ शोध-कर्त्ता हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में काव्य के अन्य अंगों या काव्य के अंगीभूत रस के भिन्न-भिन्न रूपों का भी अध्ययन कर रहे हैं।

प्रस्तुत प्रयत्न

हिन्दी के माध्यम से अब तक काव्यशास्त्र का जो अध्ययन हुआ है, वह दो प्रकार का है---सैद्धांतिक तथा ऐतिहासिक। सैद्धांतिक अध्ययन का आधार संस्कृत के ही ग्रंथ हैं, हिन्दी के नहीं; क्योंकि संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं को स्वतंत्र काव्यशास्त्र का सौभाग्य मिला ही नहीं। ऐतिहासिक अध्ययन के दो वर्ग हो सकते हैं---संस्कृत भाषा में तथा हिन्दी भाषा में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत में संचित काव्यशास्त्र-राशि का ऐति-हासिक अध्ययन पर्याप्त काल से चला आ रहा है, परन्तु हिन्दी में संचित काव्यशास्त्र-राशि का प्रथम विधिवत् प्रयत्न डा० भगीरथ मिश्र का है।

हिन्दी में संचित काव्यशास्त्र की इस अपार राशि का विवेचनात्मक अध्ययन उसी समय संभव है जब एक-एक अंग को लेकर स्वतंत्र प्रयत्न किये जायं। प्रस्तुत कृति में हमारा यही लक्ष्य है। यहां काव्यशास्त्र के एक प्रमुख अंग को दृष्टि में रख कर हिन्दी-आचार्यों का ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन है, इस अध्ययन की अवधि केशवदास के काल से लेकर रामदहिन मिश्र के समय तक (लगभग ३५० वर्ष) है। हमने अलंकार-विषय-मात्र का विवेचन करने वाले आचार्यों के साथ-साथ अन्य अंगों के बीच अलंकार के विवेचकों का भी अध्ययन किया है परन्तु दूसरे अंगों का वहीं तक स्पर्श किया है जहां तक अलंकार के हेतु वह नितान्त अनि-वार्य था। इस प्रकार हिन्दी के माध्यम से अलंकार-विवेचन-परम्परा की ऐतिहासिक व्याख्या पूर्ण हो सकी है; ऐसा हमको विश्वास है। हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का हमने विशेष प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि हमारा उद्देश्य अप्रकाशित को प्रकाशित बनाना नहीं प्रत्युत एक विशेष दृष्टि से मूल्यांकन-मात्र है।

प्रस्तुत अध्ययन की कतिपय स्वकीय विशेषताएँ भी हैं। केशवदास से रामदहिन मिश्र तक की इस अपार राशि के शृंखलाबद्ध पूर्ण अध्ययन का यह प्रथम ही प्रयत्न है। इसका दृष्टि-कोण विवेचनात्मक है, ऐतिहासिक नहीं। इसमें केवल एक अंग को विवेच्य बना कर गहराई तक जाने का प्रयास किया गया है, सर्वांगीण परिचय नहीं दिया गया। प्रसंगतः वर्गीकरण आदि विवादास्पद विषयों पर पूर्व मतों की समीक्षा करते हुए स्व-मत का विनम्र प्रतिपादन भी है। यहां केवल यह जिज्ञासा है कि हिन्दी माध्यम से आचार्यों ने अलंकार-विषय का जो विवेचन किया है, वह कितना सफल है, उनकी रुचि तथा प्रतिभा का उस विवेचन पर कितना प्रभाव है, और आचार्यत्व की दृष्टि से उनकी कृतियों का क्या मूल्य है। इस अध्ययन के लिए

संस्कृत-भाषा में अलंकार-विवेचन की पृष्ठभूमि अपेक्षित थी, इसलिए सर्वप्रथम उसका पर्यालोचन यहां सन्निविष्ट कर दिया है--आशा है उसके कुछ मौलिक निष्कर्ष भी पाठक को लाभदायक प्रतीत होंगे।

इस अध्ययन में हम वर्गीकरण को स्वीकार नहीं कर सके हैं, अतः आचार्यों का विवेचन काल-क्रमानुसार है--जिस प्रकार कि संस्कृत के आचार्यों का विवेचन हुआ करता है। यह निश्चय है कि हमारे विवेच्य काल में सिद्धांतों का जन्म नहीं हो रहा था, परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि पूर्व कृति का उत्तर कृति पर सामान्यतः प्रभाव पड़ता ही है; अतः वर्गीकरण को मानने पर भी वर्गानुसार की अपेक्षा काल-क्रमानुसार अध्ययन अधिक समीचीन जान पड़ेगा। हमारे मत में हमारे विवेच्य-काल के दो भाग हैं--मध्य-युग तथा गद्य-युग : इन युगों की कतिपय स्वकीय विशेषताएँ हैं, जो युग का प्रतिफलनमात्र कही जा सकती हैं, शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव नहीं।

मध्ययुगीन अलंकार-साहित्य

केशवदास : कविप्रिया

(सं० १६५८)

आचार्य केशवदास के कविशिक्षा-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ मिलते हैं; रसिकप्रिया (रचनाकाल सं० १६४८), रामचन्द्रिका (सं० १६५८), तथा कविप्रिया (सं० १६५८)। जिनमें से 'रामचन्द्रिका' में "परब्रह्म श्रीराम" के यश का अनेक प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध छन्दों में वर्णन करके केशव ने अपनी अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है तथा शिष्यों के लिए आदर्श उपस्थित किया है; लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। शेष दो पुस्तकों में वर्ण्य विषय के लक्षण भी हैं तथा उदाहरण भी। 'रसिकप्रिया' उनकी प्रथम रचना है, उसमें विवेचन की अपेक्षा उमंग अधिक है और 'रामचन्द्रिका' में छन्द के साथ-साथ कथा[1] रचयिता का मुख्य उद्देश्य बन गई थी; परन्तु 'चन्द्रिका' से ठीक चार मास उपरान्त[2] लिखी गई 'कविप्रिया' में केशव एक प्रौढ़ आचार्य बने हुए हैं—उन्होंने विवेचन के अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन भी किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कविप्रिया' आचार्य केशव की सबसे प्रौढ़ तथा सबसे महत्वपूर्ण कृति है।

यदि केशव अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट न करते कि 'प्रिया' की रचना उन्होंने किस के लिए और क्यों की, तो हम यह संभावना कर सकते थे कि उस अभिमानी पंडित ने, संस्कृत में पंडितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी में परवर्ती कविराजा मुरारिदान के समान, पुराने मतों का खंडन करके काव्यशास्त्रसम्बन्धी कुछ नवीन मतों का प्रतिपादन किया होगा। परन्तु इस संभावना की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि केशव ने पहले 'प्रभाव' में ही यह लिख दिया है कि रमा, शारदा तथा शिवा के समान गुणवती प्रवीणराय नाम की एक पातुर के लिए[3] (उसकी शिक्षा के लिए) ही इस पुस्तक की रचना हुई है। प्रवीणराय तो व्याज-मात्र है, वह स्वयं तो कविता[4] कर लेती थी; केशव ने यह देखा कि काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ अनेक हैं, उनके मत भी विभिन्न हैं सुकुमार बुद्धिवाले बालक-बालिकाओं[5]

---

(१) रामचन्द्र की चन्द्रिका, वरणत हौं बहु छंद। (रा० चं०)

(२) सोरह सै अट्ठावनै, कार्तिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीन्हों अवतार॥ (रा० चं०)
प्रगट पंचमी को भयो, कविप्रिया अवतार।
सोरह सै अट्ठावनो, फागुन सुदि बुधवार॥ ।१।४। (कविप्रिया)

(३) ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केशवदास ।१।६१।

(४) तिनमें करत कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन ।१।५६।

(५) समझैं बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध ।३।१।

के लिये यह संभव नहीं कि संस्कृत के उन ग्रंथों को पढ़ें और फिर कविता का अभ्यास करें---इसी परिस्थिति पर विचार करके आचार्य ने 'कविप्रिया' की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि ---

(i) इस पुस्तक की रचना केशव ने किसी नवीन संप्रदाय के प्रचलन को ध्यान म रख कर नहीं की,

(ii) कवियों तथा आचार्यों के उपयोग के लिए भी नहीं---उनसे तो इस रचना के लिए क्षमा मांगी है[१]।

(iii) यह कृति अनेक पुस्तकों का सार[२] है,

(iv) उदीयमान कवि इसको आसानी से समझ कर (कंठ कर)[३] अपने कर्म में सफल हो सकेंगे---ऐसी लेखक को आशा है।

हिन्दी में जितनी पुस्तकें काव्यशास्त्र-सम्बन्धी मिलती हैं उन सबसे विचित्र इस पुस्तक का नाम है, जिससे लेखक या आश्रयदाता का कोई संकेत नहीं मिलता, प्रत्युत उसके सम्भाव्य महत्त्व की आशा झलकती है---षोडश शृंगारों के समान[४] सोलह "प्रभावों" वाली यह रचना-रमणी कवियों की प्रिया[५] बनकर उनके गले से (कंठमाल ज्यों[६]) सदा लगी रहेगी। यह नाम भी केशवदास के पांडित्य का द्योतक है। आचार्य वामन ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सूत्रों की रचना कर उनकी एक वृत्ति भी स्वयं तैयार की और उसका नाम 'कविप्रिया'[७] रखा। केशव ने इसको अवश्य पढ़ा होगा और अपनी रचना के लिए यह नाम ही उनको अधिक पसंद आया होगा---भामह, दण्डी तथा वामन, रुद्रट से केशव बड़े प्रभावित थे, यह उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं से स्पष्ट है; क्या आश्चर्य है कि 'कविप्रिया' लिखने से दस वर्ष पहले ही उन्होंने अपनी कवि-शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक का नाम सोच लिया हो और उसी नाम के अनुकरण पर रसिकों के लिए लिखी गई पुस्तक का नाम 'रसिकप्रिया'[८] रख दिया हो ?

'कविप्रिया' में सोलह 'प्रभाव' हैं। प्रथम में वंदना, प्रणयन-काल, राजवंश-वर्णन तथा प्रणयन-हेतु का कथन है; दूसरे में कवि वंश-वर्णन है। तीसरे से सोलहवें प्रभाव तक मुख्य वर्ण्य वस्तु को स्थान मिला है। आचार्य ने काव्य का लक्षण नहीं दिया, प्रत्युत यह

---

(१) छमियो कवि अपराध।३।१।

(२) सुनि सुनि विविध विचार।३।२।

(३) कंठ करो कविराज।३।३।

(४) कविप्रिया के जानिये, ये सोरह शृंगार।१६।८७।

(५) कविप्रिया है कविप्रिया।१६।८८।

(६) कंठमाल ज्यों कविप्रिया।३।३।

(७) प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

(८) डा० दे के अनुसार इंद्रजीत नामक संस्कृत-कवि ने 'रसिकप्रिया' नाम की पुस्तक संस्कृत में लिखी है, (दे० संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २८६)।

बतलाया है कि कवि सोच-सोच कर अपनी कृति को सुन्दर[1] बनाने में लगा रहता है, तनिक-सा भी दोष काव्य को निन्दनीय बना देता है, इसलिए सौंदर्य-साधन की अपेक्षा दोष-निवारण में अधिक सचेत रहना चाहिये[2]। जिस प्रकार मदिरा की एक बूंद से ही[3] गंगाजल का भरा हुआ घड़ा अपवित्र हो जाता है उसी प्रकार तनिक दोष से भी सारा काव्य अग्राह्य बन जाता है। केशव के इस कथन में सौंदर्य पर बल कम है प्रतिष्ठा पर अधिक, भामह में ही ऐसा ही संकेत है—एक भी सदोष पद का प्रयोग न करे क्योंकि सदोष काव्य से उसी प्रकार निन्दा होती है जिस प्रकार कि कुपुत्र से[4]। परन्तु दण्डी[5] का आग्रह सौंदर्य पर आश्रित है—सुन्दर शरीर में यदि एक भी सफेद चिन्ह कोढ़ हो तो वह सारे शरीर को अरुचिकर बना देता है, इसी प्रकार काव्य तनिक से भी दोष से अग्राह्य बन जाता है; रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु[6] ने अपनी टिप्पणी में भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। काव्य के वर्णन में दोष पर इतना जोर देना केशव की अपनी सूझ नहीं है, भामह, दण्डी तथा रुद्रट के विचार तो स्पष्ट हो ही चुके हैं, नव्य आचार्यों ने भी काव्य का लक्षण बतलाने के लिए दोषहीनता पर सबसे पहिले ध्यान दिया है—आचार्य मम्मट[7] के मत में दोषरहित और गुणसहित कहीं-कहीं अलंकृत शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिये, और उनके कटु आलोचक आचार्य जयदेव[8] के मत में निर्दोषा, लक्षणवाली, रीतियुक्त, गुणयुक्त, अलंकार-रसवाली, अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी काव्य कहलाती है। यहां तक कि रसवादी विश्वनाथ ने[9] पिछले लक्षणों का खंडन करके रसात्मकता की प्रतिष्ठा की, परन्तु तत्काल ही रस के अपकर्षक दोषों पर उनको ध्यान देना पड़ा।

दोषों की संख्या अपार है। केशव ने उनके तीन वर्ग बनाये हैं, जिनका क्रम उनके महत्त्व का सूचक है। प्रथम वर्ग में ५ दोष हैं, दूसरे में १३, तथा तीसरे वर्ग की चर्चा उन्होंने 'कविप्रिया' में न करके 'रसिकप्रिया[10]' में की है—वे सभी रसदोष जो हैं। दोषों के प्रथम

---

(१) सुवरण को सोधत फिरत ।३।४।

(२) प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त ।३।६।

(३) बुंदक हाला परत ज्यों, गंगाघट अपवित्र ।३।५।

(४) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ।१।११। (भामह : काव्यालंकार)

(५) तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।१।७। (दण्डी : काव्यादर्श)।

(६) सकलालंकारयुक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत, अलंकृतं वधूवदनं काणेनेव चक्षुषा। (रुद्रट : काव्यालंकार, नमिसाधु की १।१४ पर टीका)।

(७) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।१।४। (काव्यप्रकाश)।

(८) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।१।७। (चन्द्रालोक)

(९) वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः ।१।१। (साहित्यदर्पण)

(१०) रसिकप्रिया तें जानु ।३।६१।

तथा द्वितीय वर्ग में अन्तर बड़ा सूक्ष्म है जो उदाहरणों से ही स्पष्ट हो पाता है, दूसरे वर्ग में प्रायः वे दोष हैं जिनकी चर्चा संस्कृत के नव्य आचार्यों ने भी की है और जो कवि की अशक्ति के द्योतक हैं; परन्तु पहिले वर्ग के ५ दोष सामान्यतः पाठकों को मालूम नहीं पड़ेंगे, वे अशक्तिजन्य नहीं है, प्रत्युत दक्षता की कमी दिखलाते हैं। कविता-वनिता के ये दोष ५ हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न तथा मृतक[1]। ये सब दोष शरीर के हैं, उपचार की दृष्टि से इनके ३ वर्ग हो सकते हैं—(१) अंध, बधिर तथा पंगु—जिनका उपचार दुसाध्य है, (२) नग्न—जिसका उपचार सर्वसाध्य है, (३) मृतक—जिसका उपचार असाध्य है। मृतक का तो एक ही उपचार है—त्याग; इसलिए अर्थहीन मृतक काव्य तो बस नष्ट ही है। अंध, बधिर तथा पंगु जीवित तो रहेगा परन्तु सदा अशुभ तथा अकीर्तिकर बनकर, उसका उपचार होता नहीं देखा गया। परन्तु नग्न का उपचार सर्वसाध्य है, इसलिए इसके प्रति अवहेलना अशोभा का भी हेतु है तथा निन्दा का भी—इसलिए आचार्य केशव ने अपने शिष्यों को यह सम्मत्ति दी है कि काव्य में नग्न-दोष को सहन न करना चाहिए, इतना ही नहीं, काव्य को वस्त्राभूषणों से सजाकर ही रखना चाहिए।

वस्त्राभूषण की यही सजावट कवि का मुख्य कर्म है, केशव ने इसको 'अलंकार' नाम दिया है। अलंकारहीन कविता[2] नग्न है; उच्च जाति, शुभ सामुद्रिक लक्षण, सुन्दर रंग, प्रेमपूर्ण हृदय, तथा मधुर स्वभावयुक्त वनिता[3] भी नग्न रहने पर मन को रुचिकर नहीं लगती, इसी प्रकार उत्तम जाति, लक्षण, वर्ण, रस तथा छन्द वाली परन्तु अलंकारहीन नग्न कविता पाठक के मन को भाती नहीं। दोष-वर्जन के साथ ही साथ अलंकार-प्रयोग की यह विशेषता संस्कृत के पुराने आचार्यों में भी आग्रह की द्योतक है, दण्डी[4] के मत में अलंकारसम्पन्न काव्य चिरस्थायी बन जाता है, भामह[5] ने कहा है कि सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख भूषण बिना मनोरम नहीं लगता, और अग्नि पुराण[6] में अलंकार रहित सरस्वती को विधवा के समान माना है। संस्कृत के इन आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा या प्राण नहीं बतलाया, प्रत्युत अलंकार कवि-हृदय के उल्लास का सूचक है और श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट करता है; अधोवदना सुन्दरी या विधवा युवती को देखकर किस सहृदय के मन को ठेस न पहुंचेगी और सुसज्जित रमणी के अवलोकन मात्र से किस पुरुष के मन में बिजली-सी न दौड़ जायगी? आचार्य केशव ने मृतक तो अर्थहीन[7] काव्य को माना है, अलंकारहीन को वे निर्जीव नहीं कहते—उदास भी नहीं—

---

(१) अंध, बधिर अरु पंगु तजि, नग्न, मृतक मति शुद्ध।३।७।

(२) नग्न जु भूषण हीन।३।८।

(३) जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त॥५।१॥

(४) काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।१।१९। (काव्यादर्श)

(५) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।१।१३। (काव्यालंकार)

(६) अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती।

(७) मृतक कहावै अर्थ बिनु। ३।८।

प्रत्युत नग्न के समान समझते हैं—वह अच्छा नहीं लगता ('न बिराजई')। वामन[1] ने कहा है कि काव्य में जो कुछ सुन्दर है उसे अलंकार कहते हैं और काव्य की प्रतिष्ठा अलंकार पर निर्भर है। आचार्य जयदेव[2] ने, आगे चलकर, अलंकार को काव्य का बहुत-कुछ समझ लिया, और अलंकारहीन काव्य को उसी प्रकार निष्प्राण माना जिस प्रकार उष्णता के बिना अग्नि को। केशव इस मत में अधिक विश्वास नहीं रखते, प्रत्युत पुराने आचार्यों से सहमत दिखलाई पड़ते हैं—एक बार तो ऊपरी शृंगार[3] उनको प्रकृत सुन्दर रूप का अपकर्षक[4] जान पड़ा था।

आचार्य रामचन्द्र[5] शुक्ल ने केशवदास को अलंकारवादी आचार्य माना है, परम्परा भी इसी पक्ष में है। परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस अर्थ में जयदेव अलंकारवादी थे ठीक उसी अर्थ में केशव नहीं कहे जा सकते; केशव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों के अनुयायी हैं जबकि शोभाकारक[6] धर्म मात्र का नाम अलंकार था। पीछे[7] शोभा के दो हेतु माने गये, एक शोभा का जनक था और दूसरा शोभा का वर्द्धक, प्रथम को 'गुण' नाम दिया गया और दूसरे को अलंकार', एक को स्थायी या नित्य धर्म माना गया दूसरे को अस्थायी या अनित्य[8]। तब आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण में गुणों की नित्यता मानी थी और **'अनलंकृती पुनःक्वापि'** कहकर अलंकारों की अनित्यता, जिसका उत्तर आचार्य जयदेव ने **"असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती"** कहकर दिया था। केशव के साथ गुण और अलंकार के पृथक्त्व का यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वे तो इस झगड़े से बहुत पहिले के आचार्यों के अनुयायी थे।

हां, तो केशव के मत में नग्नत्व दोष को दूर करनेवाले धर्म का नाम अलंकार है। अर्थात् अलंकार के अन्तर्गत वस्त्र भी आते हैं तथा आभूषण भी। प्रथम को सामान्य या साधारण अलंकार कहते हैं, द्वितीय को विशिष्ट[9]—ये दोनों रूप प्राचीन आचार्यों के ही

---

(१) काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।
सौंदर्यमलंकारः। (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः)

(२) अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥१।८। (चन्द्रालोक)

(३) काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली,
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं। ९। १२।

(४) तुलना कीजिए—अनलंकृतकांतं ते वदनं वनजद्युति। ३।५१। (भामह)

(५) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६.

(६) काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। २।१। (काव्यादर्श)

(७) रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १६५.

(८) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। ३।१। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।३।२।
पूर्वे नित्याः।३।३। (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः)

(९) कबिन कहे कबितान के, अलंकार द्वै रूप।
एक कहैं साधारणैं, एक विशिष्ट सरूप।५।२।

अनुसार हैं। चौथे प्रभाव में तो कवि-भेद-वर्णन था, पांचवें से सामान्य अलंकार का प्रसंग प्रारंभ होता है और आठवें के अन्त तक चलता है। सामान्य अलंकार को कवि-शिक्षा कह सकते हैं—कब, किसका, किस प्रकार से वर्णन करना चाहिए, इस बात का लोक-शास्त्र तथा कविसमय-सम्मत ज्ञान। वर्णन की सामग्री दो मार्गों से आती है—प्रकृति-वैभव (भूमिश्री) तथा राजवैभव (राज्यश्री); और वर्णन में दो बातों का ध्यान रखा जाता है—रंग (वर्ण) तथा आकृति (वर्ण्य)। इस प्रकार सामान्य अलंकार के चार[१] भेद हो गये। जिनका विवेचन 'कविप्रिया' के चार (पंचम से अष्टम) प्रभावों में है।

आचार्यों ने शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का हेतु[२] माना है। वाग्भट्ट के मत में काव्य का हेतु तो प्रतिभा ही है, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा में संस्कारमात्र करते हैं—"**प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरण-कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कार-कारकौ न तु काव्यहेतू**"। अभ्यास अपने आप नहीं होता, किसी काव्यज्ञ का शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ता है, और उससे शिक्षा ली जाती है। केशव ऐसे ही काव्यज्ञ थे, उन्होंने शिष्यों के लिये ही शिक्षा रूप में 'कविप्रिया' की रचना की है, और सामान्य अलंकार में चार प्रभाव लगा दिये हैं; आज के पाठक के लिए भले ही वे भार-स्वरूप बन गये हों परन्तु कविभवितुकामा के लिये उस समय वे बड़े उपयोगी थे। काव्यशास्त्र के पाठक दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—(१) जो कोरे विद्वान् या आलोचक बन रहे हों, (२) जो काव्यकला सीखना चाहते हों। पहिलावर्ग आजकल के स्कॉलरों तथा पुराने पंडितों का है—आजकल बहुत अधिक, पहिले बहुत कम। दूसरा वर्ग कवियों या प्राचीन अर्थ में 'साहित्यिकों' का था—साहित्य पढ़ने मात्रसे कोई 'साहित्यिक' न बन सकता था, साहित्य-सृष्टि से ही, 'साहित्यिक' का पद मिलता था। पुराने आचार्यों ने 'साहित्यिकों' के लिये ही प्रायः काव्यशास्त्र की रचना की है, इसलिये वहां कविशिक्षा को भी स्थान मिला है—वाग्भट्ट आदि ने प्रथम अध्याय में ही कविशिक्षा का प्रसंग चलाया है और वह भी बड़े विस्तार से। उस सम्प्रदाय के अनुयायी केशव ने भी वैसा ही किया है। 'कविसमयख्यातादि'[३] को तो विश्वनाथ जैसे नव्य आचार्य भी न छोड़ सके।

'कविप्रिया' के उत्तरार्द्ध में (नवम 'प्रभाव' से लेकर सोलहवें 'प्रभाव' तक) 'विशिष्ट' अलंकारों का विवेचन है। इनकी संख्या ३७ है—भेदों को अलग नहीं गिनाया गया; और इनके आठ वर्ग बनाकर इनको आठ 'प्रभावों' में रखा है। इस बात का अभी तक कोई संकेत नहीं मिलता कि इन अलंकारों का क्रम किसी नियम पर आश्रित है अथवा नहीं,

---

(१) वर्ण, वर्ण्य, भू-राज-श्री भूषण केशवदास ।५।३।

(२) व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः ॥ (वाग्भट्ट : काव्यानुशासनम्)
शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।१।३। (काव्यप्रकाश)

(३) दे. साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, छन्द संख्या १८ के अनन्तर।

और इस वर्गीकरण का आधार क्या कोई विशेष सिद्धांत है ? प्रारंभ में अलंकारों की जो नामावली है उसी के क्रम का आगे निर्वाह किया गया है । लक्षण दोहे में हैं और उदाहरण प्रायः कवित्त या सवैये में, उदाहरणों के रूप में केशव ने अपने पुराने छंद भी रखे हैं और नय बनाकर भी, प्रायः एक भेद का एक ही उदाहरण दिया है । उदाहरणों में मौलिकता सर्वत्र दिखलाई पड़ती है । दण्डी से अधिकांश में सहमत होते हुए भी केशव ने अलंकारों के प्रसंग में अलंकार-दोषों की चर्चा नहीं की ।

आठ प्रभावों में अलंकारों के नाम तथा संख्या इस प्रकार है :—

नवम प्रभाव—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा—६

दशम प्रभाव— आक्षेप—१

एकादश प्रभाव—क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निर्दशना, ऊर्ज, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपन्हुति—१३

द्वादश प्रभाव—उक्ति (वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति), व्याजस्तुति, व्याज निन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त—६

त्रयोदश प्रभाव—समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त—८

चतुर्दश प्रभाव—उपमा—१

पंचदश प्रभाव—जमक—१

षोडश प्रभाव—चित्र—१

अब प्रत्येक प्रभाव के मुख्य-मुख्य अलंकारों पर विचार करते हैं ।

नवम प्रभाव

इस प्रभाव में ६ अलंकार हैं, परन्तु उनमें कोई पारस्परिक सामीप्य नहीं है । सर्वप्रथम **'स्वभावोक्ति'** अलंकार है, दण्डी ने भी इस अलंकार को सबसे पहिले उठाया है, लक्षण दण्डी से मिलता-जुलता है, अन्तर यह है कि दण्डी की स्वभावोक्ति केवल रूप[1] का ही साक्षात् प्रकाशन करती है केशव ने रूप के साथ 'गुण'[2] को भी जोड़ दिया है— इस प्रकार केशव ने इसके दो भेद कर दिये हैं । स्वभावोक्ति का पुराना नाम 'जाति'[3] भी है, केशव ने शायद इसको नहीं लिखा—संभव है केशव के लक्षण में 'तासों जान स्वभाव' के स्थान पर 'तासों जाति स्वभाव,[4] भी पाठ हो ।

विभावना के केशव ने दो भेद माने हैं—(१) जहां बिना कारण के कार्योत्पत्ति हो, (२) जहां प्रसिद्ध कारण के बिना अन्य कारण से कार्योत्पत्ति हो । ये दोनों भेद दण्डी के लक्षण में ही छिपे हुए हैं, और **"प्रसिद्ध हेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित् कारणान्तरम्"** (३।११९) कहकर उन्होंने जिस भेद का संकेत किया था उसकी अवहेलना पीछे आचार्य मम्मट ने

(१) नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।२।८। (काव्यादर्श)

(२) जाको जैसो रूप गुण कहिये ताही साज ।९।८।

(३) स्वाभावोक्तिश्च जातिश्च । २।८। (काव्यादर्श)

(४) तासों जान स्वभाव सब कहि बरणत कविराज । ९।८।

कर दी, परन्तु विश्वनाथ ने इसके दो भेद--उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता (सा. द. १०।८७)--किये हैं। कुवलयानन्द में तो ६ भेद मिलते हैं, जिनमें से चतुर्थ भेद केशव की यही 'अन्य विभावना' है।

दण्डी ने हेतु के कारक तथा ज्ञापक दो भेद बतलाकर हेतु अलंकार के भेद किये हैं, परन्तु केशव ने ऐसा न करके इसके केवल ३ भेद (९।१५) माने हैं। हां, केशव के उदाहरण दण्डी से बड़े प्रभावित हैं, "पीछे अकाश प्रकाशै शशी, बढ़ि प्रेम-समुद्र रहे पहिले ही" (९।१८) वाला सवैया दण्डी के उदाहरण[1] का ही छायानुवाद है। दण्डी के प्रभाव से ही केशव ने **विरोध** तथा विरोधाभास को मिला दिया और एक उदाहरण का (कविप्रिया ९।२०) छायानुवाद[2] कर दिया है।

कविप्रिया का **विशेष** अलंकार नव्य आचार्यों की विभावना से मिलता है। हां, पीछे के आचार्यों[3] मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि ने विशेष का जो तीसरा भेद माना है उसमें केशव के विशेष की समानता खोजी जा सकती है। **उत्प्रेक्षा** की केशव ने चलती चर्चा कर दी है; जो दो उदाहरण दिये हैं उनमें से पिछला (९।३२) तो अपन्हुति और सन्देह दोनों के झमेले में डाल देता है, उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का प्रसंग भी नहीं आता।

दशम प्रभाव

'कविप्रिया' का दशम प्रभाव केवल **आक्षेप** अलंकार का वर्णन करता है, इसके विस्तार को देखकर आश्चर्य होगा, परन्तु जब 'काव्यादर्श' में इसके भेदों की अनन्तता[4] की स्वीकृति तथा २४ भेदों की चर्चा पाते हैं तो हमारा रोष कुछ ठंडा पड़ जाता है--केशव ने तो केवल १२ भेद ही लिखे हैं। केशव ने कालसम्बन्धी तीनों प्रतिषेध तथा धर्माक्षेप, संशयाक्षेप, आशीर्वचनाक्षेप दण्डी से लिये हैं, शेष ६ नाम, उनके अपने हैं। दण्डी से सहमत होकर यद्यपि केशव ने तीनों कालों में प्रतिषेध का वर्णन किया है, फिर भी वर्तमान में न माननेवाले[5] मम्मट तथा विश्वनाथ के मत को भी आदर[6] दिया है। ध्यान देना होगा कि संस्कृत के नव्य आचार्यों ने प्रतिषेध केवल दो कालों में माना है और प्रतिषेध के अनेक

---

(१) पश्चात् पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमंडलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणा मुदीर्णो रागसागरः ।२।२५७। (काव्यादर्श)

(२) काव्यादर्श ।२।३३९।

(३) अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति ··· (काव्यप्रकाश) ।१०।१३६।
किंचित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा।
कार्यस्य करणं दैवाद् ....। (सा. द. १०।९६)
किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ।१०१। (कुवलयानन्द)

(४) अथास्य पुनराक्षेप्य भेवानन्त्यादनन्तता। २।१२०।

(५) वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।१०।१०६--७ (काव्यप्रकाश)

(६) कविकुल कोऊ कहत हैं, यह प्रतिषेधहि दोइ। १०।२।

प्रकारों पर विचार नहीं किया, इसलिये 'आक्षेप' के "अनन्त" भेद उनके यहां निहीं मिलते। केशव ने पुरानी बात को ही स्वीकार किया, हां, शिक्षाक्षेप के प्रसंग में बारहमासा लिखना और सभी उदाहरण शृंगार के ही लेना उनके युग का उनपर प्रभाव मात्र दिखलाते है। आक्षेप अलंकार का चमत्कार 'विधि में निषेध' है---ऐसा जान पड़ता है कि हमारे कर्म से दूसरा व्यक्ति सहमत है परन्तु वह सहमत नहीं होता, उसकी स्वीकृति में अस्वीकृति से भी प्रबल निषेध छिपा रहता है। केशव के कुछ उदाहरण निश्चय ही सुन्दर हैं--उसने प्रिय को बहुत समझाया कि विदेश मत जाओ पर वह माना नहीं, तब एक दिन उसने गंभीर होकर कहा कि सचमुच आपको आवश्यक कार्य है तो आप चले जाइए संकोच की कोई बात नहीं, जो चले जाते हैं क्या वे फिर आकर के नहीं मिलते, इसलिये मोह को छोड़ो, मोह तो बढ़ाने से और भी बढ़ता है, हां वहां जाकर सुख से रहना, मेरी याद मत करना, और जब जाओ तो मुझको सोती ही छोड़ जाना, जगाना मत---मैं चैन से सोती रहूंगी जब तुम आओगे तब जगूंगी (१०।१२)। यहां कहते-कहते यह सूचना दे ही दी कि तुम्हारे जाने से पहिले ही मेरे प्राण निकल जावेंगे---कर लो मनचाही निष्ठुरता। 'शिक्षाक्षेप' के बारहमासे वाले उदाहरणों में प्रकृति की उद्दीपकता का वर्णन कर इसी निषेध की व्यञ्जना है, जिन उदाहरणों में स्पष्ट यह कह दिया है कि 'कंत न करहु विदेश मति' (१०।३०) वे उतने सुन्दर नहीं हैं।

ग्यारहवाँ प्रभाव

'क्रम' से लेकर 'अपन्हुति' तक के भिन्न-भिन्न प्रकार के १३ अलंकार एक ही 'प्रभाव' के अन्तर्गत रख दिये हैं। पहिला अलंकार 'क्रम' है, परन्तु यह मम्मट (अथवा दण्डी का भी) 'यथासंख्य' या 'क्रम' नहीं है, लक्षण से तो कुछ स्पष्ट नहीं होता, हां उदाहरणों से यह माना जा सकता है कि केशव का क्रम मम्मट का 'एकावली' अलंकार है---केशव का दूसरा उदाहरण (११।३) मम्मट द्वारा एकावली के प्रसंग में उद्धृत एक छंद[1] का स्पष्ट अनुकरण है। 'गणना' अलंकार 'सामान्य' अलंकारों के साथ रहता तो अधिक अच्छा था, इसमें उदीयमान कवि को यह बतलाया है कि लोक में किस वस्तु की कितनी संख्या मानी गई है, और एक से लेकर दस तक की संख्या की शिक्षा पाठक को मिल जाती है।

आशीरलंकार दण्डी तथा भामह ने माना है, परन्तु केशव ने गुरुजनों के आशीर्वाद मात्र को अलंकार कह दिया है; संस्कृत आचार्य चमत्कार उस स्थल पर मानते हैं जहां उपभोक्ता की 'अभिलषित'[2] वस्तु से उस कथन का सम्बन्ध हो, पर केशव ने इस विशेषता पर ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार दण्डी के 'प्रेयस्' अलंकार का अनुकरण करते हुए भी केशव का 'प्रेम' अलंकार प्रीति का वर्णन मात्र बन गया है।

श्लेष केशव का अपना अलंकार है। सामान्य लक्षण के अनन्तर २ से ५ अर्थ तक

(१) न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्---इत्यादि

(२) आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा। (दंडी)
आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ--- ।३।५५।। (भामह)

वाले छन्दों के उदाहरण हैं। तब "अभिन्न पद" तथा "भिन्न पद" (११।३४) श्लेष के ये दो भेद किये हैं, अभिन्न पद का लक्षण नहीं दिया केवल उदाहरण है, भिन्नपद का लक्षण भी है। भिन्न पद का दूसरा नाम "उपमा श्लेष" भी है—'ऐसे श्लेष प्रायः उपमा के लिये लिखे जाते हैं' (दीन)। 'भिन्न पद' और 'अभिन्न पद' का यह विभाजन 'सभंगपद' तथा 'अभंगपद' के विभाजन से भिन्न है —सभंगपद तथा अभंगपद तो भिन्नपद के ही दो भेद हैं (जैसा कि उसके लक्षण[1] से स्पष्ट है)। केशव ने श्लेष के ५ भेद और किये हैं—अभिन्नक्रिया, भिन्नक्रिया, विरुद्धकर्मा, नियमश्लेष तथा विरोधीश्लेष—परन्तु इनके लक्षण नहीं दिये, केवल उदाहरण हैं। दण्डी ने भिन्नपद तथा अभिन्नपद के अतिरिक्त श्लेष के ७ भेद और किये थे—अभिन्नक्रिया, अविरुद्धक्रिया, विरुद्धक्रिया, सनियम, नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी तथा विरोधी। केशव ने अपनी सामग्री प्रायः काव्यादर्श से ही ली है—१ का नाम बदल दिया है, १ बढ़ा दिया है तथा ३ भेद छोड़ दिये हैं। दण्डी के समान ही केशव ने श्लेष को सर्वत्र अंगी माना है और दूसरे अलंकारों को अंग, फलतः जिन उदाहरणों में दूसरे अलंकारों का चमत्कार है वहां भी श्लेष को मुख्यता दी है—नियमश्लेष के दोनों छंद (श्लेषगर्भित तो हैं ही) श्लेष की अपेक्षा परिसंख्या के अधिक अच्छे उदाहरण बन सकते थे।

सूक्ष्म के लक्षण में दण्डी और मम्मट ने इंगित तथा आकार से (काव्यादर्श २।२६०) अर्थ का प्रकटीकरण माना है (काव्यप्रकाश १०।१२२ वृत्ति)। केशव ने दो परिवर्त्तन किये। i साधनों में "भावप्रभाव" (११।४५) जोड़ दिया, ii और अभिव्यक्ता के स्थान पर गृहीता को अधिक महत्व दे दिया—"जानै जिये की बात"। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों सुधार निरर्थक हैं। दण्डी ने **लेश** अलंकार के दो रूप माने हैं— i जहां प्रकट होनेवाली वस्तु को चतुराई से छिपाया जाय[2], ii जहां लेशतः कृता स्तुति से निन्दा या निन्दा से स्तुति हो[3]। प्रथम रूप दण्डी को स्वीकृत है और कदाचित् इसीलिये केशव ने केवल इसी की चर्चा की है; दूसरा रूप दण्डी ने लिखा अवश्य है परन्तु दूसरों का मत मानकर अपना नहीं—पीछे संस्कृत के आचार्यों (रुद्रट[4] अप्पय दीक्षित[5] आदि) ने इसी को लिखा है प्रथम को नहीं—नव्य आचार्यों (मम्मट, विश्वनाथ) ने इसकी चर्चा नहीं की। **निदर्शन** अलंकार में दण्डी का, लक्षण तथा उदाहरण दोनों में, अनुकरण है। काव्यादर्श में प्रेयस्, ऊर्जस्वी तथा रसवत् एक साथ आये हैं, केशव ने प्रेयस् का नाम बदलकर ऊपर चर्चा कर दी है, ऊर्जा को संक्षिप्त में कहा है, परन्तु रसवत् में रसवर्णन का पर्याप्त विस्तार है।

---

(१) (पद ही में पद काढिये), ताहि भिन्न पद जानि।
(भिन्न अर्थ पुनि पदन के) उपमा श्लेष बखानि ॥११।३६।

(२) लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूप निगूहनम् ।२।२६५।

(३) लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ।२।२६८।

(४) दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य, दोषस्य वा गुणीभावः ।७।१००। (काव्यालंकार)

(५) लेशः स्याद्दोषगुणयो र्गुणदोषत्वकल्पनम् ।१३८। (कुवलयानन्द)

दण्डी तथा केशव ने **अर्थान्तरन्यास** का एक ही लक्षण दिया है, परन्तु भेदों में अन्तर है। केशव ने ४ भेद ही किये हैं—युक्त, अयुक्त, अयुक्तयुक्त, युक्तायुक्त—और प्रत्येक का लक्षण दे दिया है। ये भेद काव्यादर्श में भी हैं परन्तु इनसे पूर्व ४ भेद और हैं—विश्व-व्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, तथा विरोधवान्—केशव ने इनको देना उचित न समझा। काव्यलिंग अलग अलंकार नहीं है, युक्तान्तरन्यास को ही काव्यलिंग समझना चाहिये।

मम्मट ने उपमान से उपमेय में आधिक्य[1] होने पर **व्यतिरेक** अलंकार माना है, परन्तु दण्डी ने "भेदकथनम्" मात्र को व्यतिरेक का आधार कहा था (यद्यपि उपमान की अधिकता का कोई उदाहरण नहीं दिया)। केशव[2] के लक्षण में दण्डी का अनुकरण है, परन्तु 'कविप्रिया' में इसके दो भेद हैं—युक्ति व्यतिरेक तथा सहज व्यतिरेक, जिनका लक्षण नहीं दिया। दण्डी ने इस सम्बन्ध में सादृश्य दो प्रकार का माना था—शब्दोपात्त[3] (साधारण धर्मवाचक इव आदि शब्दों के प्रयोग में) तथा प्रतीत (तुल्य, सम आदि शब्दों के प्रयोग से लक्षण द्वारा जाना गया)—अनुमान से जान पड़ता है कि केशव ने इसी आधार पर व्यतिरेक के दो भेद कर लिये और उनको 'युक्त' तथा 'सहज' नाम दे दिये।

केशव ने **अपन्हुति** के केवल उस भेद को लिया है जिसको छेकापन्हुति कहते हैं, दण्डी में दूसरे भेद भी हैं।

बारहवां प्रभाव

इस प्रभाव में उक्ति के अतिरिक्त पांच अलंकार और हैं; उक्ति कोई अलग अलंकार नहीं प्रत्युत उक्तिमूलक ५ अलंकारों का समुदाय-नाम है। न जाने क्यों इसी प्रभाव में पर्यायोक्ति को अलग से गिनाया है ?

वक्रोक्ति काव्यादर्श में नहीं है; केशव ने इसको स्वतंत्र रूप से लिखा है, परन्तु नव्य आचार्यों के सामान इसको एक शब्दालंकार मात्र न मानकर प्राच्यों के अनुकरण पर व्यंग्य का पर्यायवाची बना दिया है। **अन्योक्ति** उन दिनों सूक्तिकारों का प्रिय चमत्कार था, केशव में भी इसीलिये आ गया है। हां, समासोक्ति का नितान्त अभाव खटकता है। **व्यधिकरणोक्ति** एक नया नाम[4] है, जिसको आजकल 'असंगति' कह सकते हैं—उदाहरण[5] बहुत सुन्दर है।

काव्यादर्श के अनुसार **विशेषोक्ति** अलंकार वहां है जहां गुण, जाति, क्रिया आदि[6]

(१) उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। (का. प्र.)
(२) तामें आनै भेद कछु, होय जु वस्तु समान।११।७८।
(३) शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्यवस्तुनोर्द्वयो : ।२।१८०।
(४) 'व्यधिकरण' शब्द नवीन नहीं हैं। 'समुच्चय' के प्रसंग में रुद्रट ने 'व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये'.....(७, २७) आदि लिखा हैं।
(५) आलिंगन अंग अंग पीड़ियत पद्मिनी के
सौतिन के अंग अंग पीड़नि पिराति है। १२।९।
पूत भयो दशरत्थ के केशव देवन के घर बाजी बधाई।१२।११।
(६) गुण-जाति-क्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्॥

का निष्फलत्व दिखलाया जावे, परन्तु नव्य[१] आचार्यों के अनुकरण पर केशव ने अखंड कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य की असिद्धि में यह अलंकार माना है।

सहोक्ति का लक्षण दण्डी में अपूर्ण है तथा केशव में भी, क्योंकि जब इसके मूल में अतिशयोक्ति[२] होगी तभी चमत्कार आवेगा—सम्बन्धिभेद से जब दो भिन्न गुणों या क्रियाओं की 'सह' शब्द की सामर्थ्य से, एक शब्द से, एककालीनता प्रतिपादित की जावे। उदाहरण निश्चय ही उपयुक्त[३] है।

दण्डी ने केवल 'निन्दा के मिस स्तुति' का ही वर्णन किया था, परन्तु केशव में **व्याज-निन्दा** भी है तथा **व्याजस्तुति** भी और उदाहरण श्लिष्ट भी हैं तथा श्लेषरहित भी।

अमित अलंकार बिल्कुल नया है—जहां साधक की सिद्धि का साधन ही स्वयं भोग कर ले (१२।२६)—नायिका ने सखी को भेजा कि वह नायक को लिवा लावे परन्तु वह स्वयं ही नायक के साथ रमण करने लग गई (१२।२७)। विषादन[४] अलंकार में लगभग यही चमत्कार होता है।

पर्यायोक्ति (अथवा 'पर्यायोक्त') के लक्षण और उदाहरण 'प्रहर्षण' के लक्षण और उदाहरण बन गये हैं, क्योंकि, अदृष्ट कारण से, बिना प्रयत्न के ही इष्ट की प्राप्ति हो जाती है। दण्डी में यह भूल नहीं है, वे इष्टार्थ को साक्षात् न कहकर सिद्धि के लिये प्रकारान्तर[५] से कहने में यह चमत्कार मानते हैं।

युक्त अलंकार तो स्वभावोक्ति ही है, और केशवदास ने लगभग[६] एक ही शब्दा-वली में दोनों के लक्षण दिये हैं, परन्तु उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि स्वभावोक्ति में 'रूपगुण' का वर्णन होता है—शिशु का या बालिका का, युक्त में 'रूपबल' का वर्णन रहता है—युवती या युवक का। एक में कोमलता और सौकुमार्य है, दूसरे में क्षमता तथा बल।

तेरहवां प्रभाव

किसी कार्य को प्रारम्भ कर देने पर दैवयोग से उसका साधन प्राप्त हो जाना[७], दण्डी के मत में **'समाहित'** का लक्षण है, केशव ने न होने वाले कार्य के दैवयोग से हो जाने

---

(१) विशेषोक्तिरखंडेषु कारणेषु फलावचः। (का. प्र.)

(२) सा सहोक्ति र्मूलभूतातिशयोक्ति र्यदा भवेत् ।७२। (साहित्यदर्पण)

(३) बारबुद्धि बारन के साथ ही बढ़ी है बीर,
कुचनि के साथ ही सकुच उर आई है। १२।२१।

(४) इष्यमाणविरुद्धार्थसंप्राप्तिस्तु विषादनम्। १३२। (कुवल०)

(५) अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥२।२९५।

(६) जाको जैसो रूपगुण कहिये ताही साज। (स्वभावोक्ति)
जैसो जाको रूपबल, कहिये ताही रूप। (युक्त)

(७) किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्ति र्या तदाहुः समाहितम् ॥ २।२९८।

में यह चमत्कार माना है। भोजराज का लक्षण[1] भी दण्डी से मिलता है और उसी में चमत्कार अधिक है क्योंकि दैवी सहायता उद्दीपक बन जाती है। दण्डी और केशव के उदाहरण एक ही हैं।

सुसिद्ध अलंकार में कोई व्यक्ति साधन जुटा मरता है परन्तु अन्य व्यक्ति उसका फल भोगता है; **प्रसिद्ध** में साधन एक व्यक्ति जुटाता है परन्तु सिद्धि अनेकों को प्राप्त होती है; **विपरीत,** अलंकार वहां होता है जहां कार्य का साधक ही स्वयं बाधक बन जावे। ये अलंकार केशव की स्वतंत्र सूझ के द्योतक हैं।

दण्डी और केशव के **रूपक** के लक्षण अत्यन्त प्राथमिक अवस्था के से हैं, दोनों ने भेद बतलाने से पूर्व कुछ उदाहरण दे दिये हैं। रूपक[2] के भेद तो अनेक हैं परन्तु केशव ने तीन स्वाभाविक[3] या सरल भेदों की ही चर्चा की है। ये भेद हैं——अद्भुत रूपक, विरुद्धरूपक, तथा रूपक-रूपक। विरुद्धरूपक तथा रूपक-रूपक नाम दण्डी के अनेक भेदों के बीच भी स्थान पा गये हैं। परन्तु केशव का विरुद्धरूपक दण्डी से नहीं मिलता, प्रत्युत रूपकातिशयोक्ति बन गया है। रूपक-रूपक में भी दण्डी की विशेषता नहीं आ पाई। अद्भुत रूपक में व्यतिरेक की ध्वनि ही अद्भुत है, यह दण्डी के किसी भेद से नहीं मिलता।

दण्डी के ही अनुसार रूपक के उपरान्त **दीपक** अलंकार आता है। इसके अनेक भेदों में से केशव ने केवल दो[4] भेदों का वर्णन किया है——मणिदीपक तथा मालादीपक। मणिदीपक किस-किस वर्णन में आना चाहिये, यह बतलाना केशव की एक विशेषता है (१३।२३)। मालादीपक दण्डी में भी है, लक्षण दोनों के समान हैं, उदाहरणों में भेद है।

प्रहेलिका अलंकार केवल पहेली भर है, यह अनेक उदाहरणों[5] से स्पष्ट है।

नव्य आचार्यों ने जिसको 'विषादन' नाम दिया है वही केशव का **'परिवृत्त'** अलंकार है, दण्डी की परिवृत्ति इससे भिन्न है। दूसरे उदाहरण के तीसरे चरण[6] में वास्तविक परिवृत्ति का चमत्कार है भी। जान पड़ता है कि केशव ने 'समन्यूनाधिक'[7] विनिमय के इस रहस्य पर ध्यान न दिया और इस अलंकार का क्षेत्र व्यापक बना बैठे——जिससे विषादन भी इसमें समा गया। उपरिकथित अमित कलंकार तथा इस परिवृत्त अलंकार के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

---

(१) कार्यारम्भे सहायाप्ति र्दैवादेव कृतेह या।
आकस्मिकी बुद्धिपूर्वोभयी वा तत् समाहितम्॥

(२) न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्॥ २।९६। (काव्यादर्श)

(३) ताके भेद अनेक में, तीनै, कहौं सुभाव।१३।१४।

(४) दीपक रूप अनेक हैं, मैं बरनौं द्वै रूप।१३।२२।

(५) देखै सुनै न खाय कछु, पांय न, युवती जाति।
केशव चलत न हारई, बासर गिनै न राति"।१३।१४।(अर्थ——राह=मार्ग)

(६) दै परिरंभन मोहन को मन मोहि लियो सजनी सुखदाई। १३।४१।

(७) परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकै र्भवेत्।१०५। (सा. द.)

चौदहवां प्रभाव

उपमा अलंकार में पूरा एक प्रभाव लगा है और २२ भेदों का वर्णन है। जिनमें से—

१ संशयोपमा	६ मोहोपमा	११ धर्मोपमा
२ हेतूपमा	७ नियमोपमा	१२ निर्णयोपमा
३ अभूतोपमा	८ अतिशयोपमा	१३ असंभावितोपमा
४ अद्भुतोपमा	९ उत्प्रेक्षोपमा	१४ विरोधोपमा
५ विक्रियोपमा	१० श्लेषोपमा	१५ मालोपमा

ये १५ भेद दण्डी से ज्यों के त्यों ले लिये हैं। शेष ७ भेदों में से 'दूषणोपमा', 'भूषणोपमा', 'परस्परोपमा', और 'लाक्षणिकोपमा' दण्डी की क्रमशः 'निन्दोपमा', 'प्रशंसोपमा', 'अन्योन्योपमा' तथा 'समानोपमा' हैं—केशव के नाम दण्डी के नामों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय जान पड़ते हैं। केशव की 'गुणाधिकोपमा' और 'संकीर्णोपमा' क्रमशः, दण्डी की 'बहूपमा' तथा 'ललितोपमा' से मिलती-जुलती है। 'विपरीतोपमा' में उपमा का कोई लक्षण नहीं है।

अलंकार शास्त्र के प्रारंभिक दिनों में उपमा का क्षेत्र बड़ा व्यापक था और आज के बहुत से सादृश्यमूलक अलंकार उस समय स्वतन्त्र अस्तित्व न रखने के कारण उपमा के ही भेदोपभेद थे, केशव में भी स्वभावतः यही प्रवृत्ति है, अतः उनके संशयोपमा, मोहोपमा, अतिशयोपमा आदि भेद क्रमशः संदेह, भ्रम तथा अनन्वय अलंकार ही हैं।

पन्द्रहवां प्रभाव

यमक अलंकार का भी पूरे एक 'प्रभाव' में विस्तार है। लक्षण के अनन्तर आदिपद, द्वितीयपद आदि के उदाहरण दे दिये हैं। यमक के भेद दो प्रकार से किये हैं—(१) अव्यपेत तथा सव्यपेत, (२) सुखकर तथा दुःखकर। दोनों का आधार काव्यादर्श है। सव्यपेत तथा अव्यपेत[1] के भेद पुराने आचार्यों को मान्य थे, परन्तु नव्य आचार्यों ने इनका त्याग कर दिया। मुख, संदेश[2] आदि भेद देना उनको पसंद न आया।

सोलहवां प्रभाव

अंतिम प्रभाव में **चित्र** अलंकार का वर्णन है। यह चित्र एक गहरा समुद्र है, जिसमें भले-भले गोता खा जाते हैं,[3] केशव ने उसके केवल कुछ कणों का ही वर्णन किया है। काव्य के सामान्य नियम यहां लागू नहीं होते, अनुस्वार, विसर्ग, ह्रस्व, दीर्घ आदि को स्वतन्त्र अधिकार है (१६।४), और 'ब'–'व', 'ज'–'य' में भेद नहीं रहता (१६।५)। आगे अनेक प्रकार के लक्षण तथा उदाहरण हैं जिनको पढ़ना बड़े धैर्य तथा साहस का काम है—समझना तथा सीखना तो शायद आजकल असंभव है।

---

(१) अलंकार मंजरी, पृ. ८६ .

(२) वाग्भट्ट : काव्यानुशासनम्, चतुर्थ अध्याय।

(३) केशव चित्र-समुद्र में, बूड़त परम विचित्र।
ताके बूंदक के कणै, बरनत हौं सुनि मित्र ॥१६।१।

केशवदास हिन्दी के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य हैं, संस्कृत अलंकारशास्त्र तथा साहित्य का जितना ठोस ज्ञान उनको था उतना किसी दूसरे को नहीं, और जिस अधिकार तथा प्रौढ़ता से उन्होंने विवेचन किया है उसको किसी दूसरे में पा सकना संभव नहीं है। यदि उनको 'कवि' कहें तो व्यापक अर्थ में ही, क्योंकि केशव में भावुकता की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है—जो आचार्य का प्रमुख गुण है। हिन्दी के पण्डितों ने केशव के आचार्यत्व को बड़ा आदर दिया है, उनकी कृतियों पर टीकायें लिखी हैं तथा उनके मत को ससम्मान उद्धृत किया है।

'कविप्रिया' न किसी ग्रन्थ का अनुवाद है और न सुनी-सुनाई बातों का संग्रह मात्र। जिस युग में अलंकारशास्त्र का इतना चर्वित-चर्वण तथा मंथन-उल्लोडन हो रहा हो उस युग में किसी भी प्रतिभाशाली पण्डित के लिए यह संभव नहीं होता कि अपने समसामयिक या अपने से कुछ पूर्व के आचार्यों का समर्थन करके स्वयं तुच्छ बन जावे, इसीलिए हमारे अभिमानी आचार्य ने रसवादी अलंकारशास्त्रियों की हां-में-हां न मिलाकर पुराने आचार्यों का समर्थन किया है। फिर भी अंधानुसरण नहीं मिलता, कितने ही स्थलों पर वे दण्डी से सहमत न हो सके, कहीं वे मम्मट-विश्वनाथ की मान लेते हैं, कहीं उनका अपना अलग मत है। जहां केशव का मत किसी से नहीं मिलता वहां दोनों ही संभावनायें हैं—(क) उन पर किसी ऐसे संस्कृत-ग्रन्थ का प्रभाव हो जो अभी तक आलोचकों के देखने में नहीं आया (क्योंकि केशव की आलोचना करने से पूर्व अपने कणमात्र संस्कृत-ज्ञान को न भूल जाना चाहिये); (ख) उन्होंने देशकालपात्र को दृष्टि में रखकर आवश्यक कांट-छांट कर दी हो। कविप्रिया की परम्परा, उसके अधिकारी, तथा इस बात को कि यह हिन्दी का सर्वप्रथम प्रौढ़ अलंकार ग्रन्थ है, ध्यान में रखकर यदि मूल्यांकन किया जावे तो आचार्य केशव की प्रतिष्ठा में सन्देह नहीं किया जा सकता।

'कविप्रिया' के विषय-निर्वाह में पूरी वैज्ञानिकता है, और विषयक्रम भी स्वाभाविक एवं पूर्वकविसम्मत है। लक्षण संस्कृत के समान ही कसे हुए तो नहीं हो सकते, परन्तु हिन्दी के दूसरे आचार्यों की तुलना में वे कम शिथिल हैं—वस्तुतः संस्कृत में लिखे लक्षणों के समान इनको भी वृत्ति की अपेक्षा है। उदाहरण मौलिक तो हैं ही उपयुक्त भी हैं, कहीं-कहीं संस्कृत का छायानुवाद है—केशव के उदाहरण कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों में हैं परन्तु संस्कृत के बहुत सारे उदाहरण अनुष्टुप जैसे छोटे छन्दों में थे, फलतः केशव की एक या दो पंक्तियों में ही उनका भाव समा गया, इस दशा में केशव के शेष चरण कभी-कभी पाठक को भुलावे में डाल देते हैं, वह समस्त छन्द में उदाहरण खोजता है परन्तु वस्तुतः वैसा नहीं होता। उदाहरणों में वर्णन की प्रवृत्ति युग-प्रभाव की सूचक है।

विशिष्ट अलंकार में भी केशव की प्रतिभा अपूर्व है। 'स्वभावोक्ति' तथा 'युक्त' अलंकार का भेद बड़ा ध्यान देने योग्य है; गणना, अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध तथा विपरीत अलंकार बिल्कुल नये हैं; क्रम अलग है; और व्यधिकरणोक्ति एक नया नाम है। केशव के परिवृत्ति अलंकार का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया है, उनकी व्याजस्तुति भी दण्डी से व्यापक है; यमक, व्यतिरेक, दीपक आदि के भेदों में केशव की मौलिकता

स्पष्ट है। आक्षेप तथा उपमा के भेदो में केशव ने अनावश्यक का उपयुक्त त्याग किया है। अलंकारों के जो नाम बदले हैं वे भी पुराने नामों की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ते हैं—निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। शब्दालंकारों की कोई चर्चा नहीं है; जिन अलंकारों का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही उनका विवेचन अधिक है। चित्रालंकार के महासमुद्र में से हमारे आचार्य ने, समय की गति को पहिचानकर, केवल कुछ ही कण लिये हैं और उसको सबसे अंतिम 'प्रभाव' में स्थान दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि अलंकारों का क्रम सरलता से कठिनता की ओर बढ़ने का संकेत है।

केशव पर 'प्राच्यों' का ही अधिक प्रभाव है, नव्यों का नहीं। अलंकारों की संख्या, क्रम तथा वर्ग इसी तथ्य के प्रमाण हैं। अलंकारों की संख्या भामह में ४० है, जिनमें से ३ का निरसन तथा १ का तिरस्कार करके भामह ३६ अलंकारों का वर्णन करते हैं; 'आशी' के सहित संख्या ३७ होगी। दण्डी ने ३४ अर्थालंकार तथा यमक और चित्र, योग ३६, का वर्णन किया है; 'आवृत्तिदीपक को अलग मान लें तो संख्या ३७ हुई। उद्भट के अलंकार ४१ हैं; ३ अनुप्रास तथा १ पुनरुक्तवदाभास को अलग कर लीजिए, संख्या ३७ रही। वामन के अलंकार ३१ या ३३ माने जाते हैं। रुद्रट में अलंकारों की संख्या बढ़ने लगती है। यही ध्वनिपूर्वकाल है, जिसका केशव पर गंभीर प्रभाव है; केशव ने अनुप्रास आदि शब्दालंकारों को नहीं अपनाया, उनके वर्णित अलंकार संख्या में ३७ ही हैं।

अलंकारों के नाम तथा क्रम भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं और इससे भी पूर्व वर्गीकरण। जिस प्रकार उद्भट के वर्गीकरण को अवैज्ञानिक कहा जाता है उसी प्रकार केशव के वर्गीकरण को भी। वस्तुतः वर्गीकरण का सर्वदा विश्लेषणात्मक होना अनिवार्य नहीं, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक भी तो हो सकता है। उद्भट का वर्गीकरण भौगोलिक था, केशव का ऐतिहासिक—उनके वर्गों पर ध्यान देने से ध्वनिपूर्वकाल की कहानी आंखों के सामने घूमने लगती है। भामह से रुद्रट तक ही क्यों, भोज तक आचार्यों के अपने-अपने वर्गीकरण हैं; किसी ने स्कूलों को ध्यान में रखकर अलंकारों के वर्ग बनाये तो किसी ने उनको वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के विशेष या भेद कहा; कोई उनको उपमा के प्रपंच कहने लगा तो कोई उनको बाह्य, आभ्यन्तर आदि; कोई आचार्य भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान से भी सन्तुष्ट न रहकर एक दर्जन से अधिक अन्य वर्ग भी बना बैठा। प्रत्येक आचार्य में सचाई माननी ही पड़ेगी। केशव ने दण्डी के अनुकरण पर 'जमक' तथा 'चित्र' सबसे अन्त में रखे हैं, और उनके अलग-अलग 'प्रभाव' बना दिये हैं। उपमा को 'सर्वालंकारशिरोरत्न' भी माना गया है और 'उभयालंक्रिया' (सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, १) मानकर इसका अन्त में वर्णन भी है; केशव ने इसको जमक-चित्र से पूर्व 'प्रभाव' में स्थान दिया है।

नवम से त्रयोदश प्रभावों में ३४ अलंकार हैं। नवम का क्रम भोज के अनुसार है जाति या स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, 'विशेष' भी विरोध-जाति का है; उत्प्रेक्षा भी इसी 'प्रभाव' में है। 'आक्षेप' के लिये अलग 'प्रभाव' आवश्यक ही जान पड़ता

हैं। एकादश, द्वादश, तथा त्रयोदश 'प्रभावों' में २७ अलंकार हैं—पुराने भी तथा नये भी; इस 'प्रभावों' का क्रम भामह के तृतीय परिच्छेद से अनुप्रेरित होकर बीच-बीच में अत्याधान करता गया है। 'उक्ति' नाम का अलंकार भोज में भी था। प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, श्लेष आदि को सभी प्राच्य आचार्यों ने एक साथ रखा है; रूपक और दीपक भामह ने भी इसी क्रम से पास रखे हैं।

केशव ने नवीन अलंकारों की उद्‌भावना की है; कुछ के नाम बदले हैं—केवल तमाशे के लिये नहीं; उनका अध्ययन गाम्भीर्य-सापेक्ष्य है। आचार्य केशवदास की प्रतिभा और पाण्डित्य का मुख्य निदर्शन 'कविप्रिया' का यही विशिष्टालंकार-प्रसंग है। बहुमुखी ज्ञान, अथाह पाण्डित्य, निस्संग विवेचन, तथा उपयुक्त उदाहरण उनके व्यक्तित्व की कुछ झलक दिखा सकते हैं। उनके समय में अलंकारशास्त्र का प्रवाह संस्कृत भाषा में ही चल रहा है; केशव संस्कृत में भी, अनेक आचार्यों के समान, लिख सकते थे, परन्तु 'प्रवीणराय' के प्रति स्नेह या 'बाला-बालकों' के प्रति कर्त्तव्य की भावना उनको 'भाषा' में खींच लाई और भाषा-कवि के लिये इस आचार्य ने एक नया क्षेत्र खोल दिया—बिलकुल अछूता, अनन्त तथा गम्भीर। पाण्डित्य की दृष्टि से वे भाषा-कवियों के शिरोरत्न हैं, और प्रतिभा की दृष्टि से उनको संस्कृत के मान्य आचार्यों के साथ आसन मिल सकता है।

जसवन्तसिंह : भाषा-भूषण

(सं० १७००)

'चन्द्रालोक-शैली' पर कुवलयानन्द का अनुकरण करते हुए हिन्दी में अलंकार-ग्रंथों की रचना तो गोपा की 'अलंकार-चन्द्रिका' से प्रारंभ हो चुकी थी, परन्तु हिन्दी में इस शैली की वास्तविक प्रतिष्ठा उस शताब्दी के अन्त में महाराज जसवंतसिंह द्वारा रचित 'भाषा-भूषण' से ही हुई। 'भाषा-भूषण' अपनी शैली का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। एक ओर तो इसके अनुकरण पर दूसरे अलंकार-ग्रन्थ लिखे गये और दूसरी ओर इसपर टीकाओं की आवश्यकता समझी गई। 'भाषा-भूषण' पर सात प्राचीन टीकायें हैं; जिनमें वंशीधर, रणधीरसिंह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि और हरिचरणदास की टीकायें प्राप्य हैं। दलपतिराय वंशीधर का 'अलंकार रत्नाकर' नामक तिलक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भाषाभूषण में ५ प्रकाश हैं। प्रथम में मंगलाचरण (५ दोहे), द्वितीय में नायक-नायिका भेद (१७ दोहे) तृतीय में हाव-भाव वर्णन (१९ दोहे), चतुर्थ में अर्थालंकार (१५६ दोहे), तथा पंचम में शब्दालंकार (१० दोहे) का वर्णन कर लेखक ने ५ दोहों में ग्रन्थ-प्रयोजन पर अंत में विचार करलिया है। सारा ग्रन्थ केवल दोहा छन्द में लिखा गया है, जो हिंदी में उतना ही लोकप्रिय था जितना कि संस्कृत में श्लोक, आकार की दृष्टि से भी दोहा छोटे छन्दों में है। भाषाभूषण में सब मिलाकर २१२ दोहे हैं, यदि भूमिका तथा उपसंहार के १० दोहों को अलग कर दें तो २०२ दोहों में से १६६ तो अलंकार विषय के हैं तथा शेष ३६ दोहे शेष काव्यांगों के—इससे स्पष्ट है कि लेखक ने इस पुस्तक में अलंकार-विषय को कितना महत्व दिया है। अलंकार विषय के, लक्षणों के साथ, उदाहरण भी हैं परन्तु शेष विषय के उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझा गया। इस पुस्तक में नवरस तथा स्थायी भाव व्यभिचारी भाव के केवल नाम गिना दिये हैं; गुण दोष, शब्दशक्ति, रीति-वृत्ति आदि का कहीं संकेत भी नहीं है। इस भांति यह स्पष्ट है कि भाषा-भूषण अलंकार सम्प्रदाय का ग्रन्थ है; इसमें 'चन्द्रालोक' के समान सभी काव्यांगों की चर्चा नहीं है प्रत्युत 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलंकारविषय को सर्व-सुलभ बनाने का प्रयत्न है। 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषाभूषण' के रचनाकालों में एक शताब्दी से कम का अन्तर है।

भाषा-भूषण की रचना उस व्यक्ति के लिये की गई है जो (संस्कृत का नहीं) 'भाषा'[1] का पंडित तथा काव्य-रसिक हो, और यद्यपि इसमें नायिकाभेद तथा हाव-भाव की भी चर्चा है तथापि प्रधानता अलंकारों की ही है इसलिये इस ग्रन्थ का नाम 'भाषा'

---

(१) ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रन्थ नवीन।
जो पंडित भाषा-निपुन, कविता विषै प्रवीन ॥२१०॥

तथा 'भूषण' के संयोग से 'भाषाभूषण' रखा गया है[1]। संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करके लेखक ने, इस पुस्तक में, शब्द और अर्थ के १०८ अलंकारों को[2] भाषा में लिखा है; आशा यह है कि जो व्यक्ति चित्त लगाकर इस भाषा-भूषण को पढ़ लेगा उसके लिये साहित्य के विविध अर्थ तथा रस सुगम[3] हो जावेंगे।

शब्दालंकार

आचार्य जयदेव ने अलंकारों में सर्वप्रथम शब्दालंकारों का विवेचन किया था, परन्तु अप्पयदीक्षित ने शब्दालंकारों को लिखा तक नहीं। हिन्दी के अधिकतर पुराने आचार्य शब्दालंकारों की ओर सोत्साह नहीं हैं। भाषा-भूषण में शब्दालंकारों की अन्त में चलते-चलते चर्चा कर दी है और केवल अनुप्रास अलंकार को ही विवेच्य समझा है। अक्षरों के संयोग से बहुत से शब्दालंकार बन जाते हैं परन्तु हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति को देखकर[4] लेखक ने केवल ६ का ही विवेचन किया है—और ये सब के सब अनुप्रास ही हैं। अनुप्रास का लक्षण नहीं दिया गया परन्तु व्यवहार से स्पष्ट है कि 'अनुप्रास' का व्यापक अर्थ है और 'यमक' भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है।[5] अनुप्रास के ६ भेद (वस्तुतः ४ ही कहना चाहिये) हैं :—

(क) छेकानुप्रास
(ख) लाटानुप्रास
(ग) यमकानुप्रास
(घ) उपनागरिका वृत्त्यनुप्रास
(ङ) परुषा वृत्त्यनुप्रास
(च) कोमला वृत्त्यनुप्रास

छेकानुप्रास के लक्षण में चन्द्रालोक की छाया नहीं है। काव्यप्रकाश से "वर्णसाम्यम्" तथा "सोऽनेकस्य"[6] और साहित्यदर्पण से "वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्"[7] लेकर अनुप्रास का यह लक्षण किया है :—

[8]आवृत्ति बर्न अनेक की दोय-दोय जब होय।
है छेकानुप्रास, स्वर-समता बिनहू सोय ॥१९८॥

लाटानुप्रास के लक्षण में मम्मट तथा विश्वनाथ दोनों ने ही "भेदे तात्पर्यमात्रतः"[9]

---

(१) अलंकार-संजोग तें, 'भाषा-भूषन' नाम।२११।
(२) अलंकार सब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत पाठ।२०८।
(३) दोहा संख्या २१२
(४) सब्दालंकृत बहुत हे, अच्छर के संजोग।
अनुप्रास षट बिध कहे, जे हैं भाषा-जोग ॥२०९॥
(५) चन्द्रालोक में 'यमक' एक स्वतंत्र अलंकार है; अनुप्रास के और भी कई भेद हैं; तथा अन्य शब्दालंकारों का भी विवेचन है।
(६) वर्णसाम्यमनुप्रासः। सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः।
(७) स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द साम्य अनुप्रास है।
(८) तुलना कीजिए:—वर्णावृत्तिरनुप्रासः (काव्यादर्श)।
(९) शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः। (सा. दर्पण)

को स्वीकार किया है; भाषाभूषण में इसी मत की छाया है—"सब्द अर्थ के भेद सों, भेद बिनाहू सोय।" जयदेव का लक्षण बड़ा ही क्लिष्ट था।

यमकानुप्रास के लक्षण[1] में काव्यप्रकाश के "वर्णानां सा पुनः श्रुतिः" की स्पष्ट छाया है; विश्वनाथ तथा जयदेव ने 'आवृत्ति' का कथन किया था, 'श्रुति' का नहीं। इस लक्षण में एक मौलिकता है—'शब्द का फिर सुनाई पड़ना और (इस फिर सुनाई देने में) अर्थ भिन्न होना—जो "अर्थे सत्यर्थभिन्नानाम्" (काव्य प्रकाश) की आवश्यकता ही नहीं रहने देती।

भाषाभूषण में वृत्त्यनुप्रास सबसे अन्त में लिखा गया है, दूसरे आचार्य इसको लाटानुप्रास से पूर्व स्थान दिया करते थे। 'चन्द्रालोक' में इस भेद की तीन वृत्तियों को नहीं बतलाया गया, 'साहित्यदर्पण' में भी नहीं। हमारे आचार्य पर मम्मट का प्रभाव जान पड़ता है। शब्दालंकारों में जयदेव का प्रभाव नहीं है, मम्मट का तथा दूसरे संस्कृत आचार्यों का अवश्य ही माना जा सकता है।

अर्थालंकार

इस ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य-विषय अर्थालंकार ही है। अलंकार का लक्षण कहीं भी नहीं दिया, और न शब्दालंकार अर्थालंकार का पारस्परिक भेद ही है; अलंकार-दोष का प्रश्न ही नहीं आता। चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द में भी ये सब बातें ज्यों की त्यों मिलती हैं, हमारे आचार्य ने उनका अनुकरण ही किया है।

चतुर्थ प्रकाश में १०२ (या १०१)[2] अर्थालंकार हैं, जिनका क्रम ठीक वही है जो कुवलयानन्द का है—यदि भाषाभूषण के 'चित्र' अलंकार को अलग न गिनें तो शेष १०० अलंकार कुवलयानन्द के पहिले १०० अलंकारों के क्रम से लिखे गये हैं। चन्द्रालोक आदि का क्रम कुछ भिन्न है। अप्पयदीक्षित और जसवन्तसिंह के अलंकारों के नाम भी एक ही हैं, केवल 'कारणमाला' के स्थान पर 'गुम्फ' और 'उत्तर' के स्थान पर 'गूढोत्तर' इसके सामान्य अपवाद हैं। 'गुम्फ'[3] नाम चन्द्रालोक का प्रभाव बतलाता है। 'भाषाभूषण' का चित्र एक अर्थालंकार है जो कुवलयानन्द में वर्णित उत्तर अलंकार के एक भेद चित्रोत्तर का संक्षिप्त नाम है, इसे काव्यप्रकाश वाला प्रसिद्ध शब्दालंकार न समझना चाहिये।

भामह ने 'काव्यालंकार' में प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वित् और समाहित इन चारों को अलंकार माना था, दण्डी तथा उद्भट ने भी इनको स्वीकार किया है। ध्वन्यालोककार का मत है कि जब रसादि[4] अन्य वाक्यार्थ का अंग (उत्कर्षक) बन जावें तो वहां अप्रधान होने के कारण उनको अलंकार मानना चाहिये। मम्मट ने इनको गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत माना है। राजानक रुय्यक ने इन चारों को तो अलंकार माना ही, इनके साथ

---

(१) जमक, शब्द को फिरि स्रवन, अर्थ जुवा सो जानि।२०२।

(२) पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा को अलग-अलग न गिना जाय तो संख्या १०१ होगी।

(३) गुम्फः कारणमाला स्याद् यथाप्राक्प्रान्तकारणैः।५।८७।

(४) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥(२ उद्यो०, ५)

भावोदय, भावसंधि और भावशबलता को भी अलंकार बतलाया। चन्द्रालोक में इनको अलंकार तो नहीं माना,[1] परन्तु दूसरों ने माना है इसलिये इनकी चर्चा कर दी है। विश्वनाथ ने भी इनको स्वीकार किया है और अप्पयदीक्षित ने तो इनके अतिरिक्त आठ प्रमाण अलंकारों का भी विवेचन किया है। जयदेव ने शुद्धि आदि चारों के विषयों में भी यही कहा है कि ये अलग अलंकार[2] नहीं है। भाषाभूषणकार ने जयदेव की यह सम्मति मान ली और इन १५ अलंकारों को अपने ग्रंथ में स्थान नहीं दिया।

उपमा

भाषाभूषण में उपमा अलंकार का लक्षण नहीं दिया और न उपमेय आदि को ही समझाया है। पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा की पहिचान बतलाकर उदाहरण दे दिये गये हैं। पूर्णोपमा के दो उदाहरणों में से प्रथम में छाया तथा द्वितीय में अविकल अनुवाद साहित्य-दर्पण की आर्थी पूर्णोपमा के उदाहरणों से है :—

मधुरः सुधावदधरः, पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।
ससि-सो उज्जल तिय-बदन, पल्लव-से मृदु पानि ।४३।

प्रथम उदाहरण का केवल छायानुवाद ही करना मानो पाठकों की रुचि में परिष्कार करने के लिए है, अन्यत्र भी इसका ध्यान रखा है। लुप्तोपमा के तीन उदाहरणों में से प्रथम में कुवलयानन्द की छाया है, द्वितीय में साहित्यदर्पण की और तृतीय में काव्य-प्रकाश की :—

बिजुरी-सी पंकजमुखी—तडिद्गौरी
कनकलता तिय लेखि—राजते मृगलोचना
वनिता रससिंगार की कारनमूरति—स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना

लेखक ने यह माना है कि शेष तीन अंगों के लोप हो जाने पर केवल उपमेय के रह जाने से त्रिलुप्ता उपमा होगी। मम्मट तथा विश्वनाथ ने एक ही शब्दावली में यह प्रतिपादित किया है कि समास में त्रिलुप्ता उपमा हो सकती है, परन्तु हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति के यह मत अनुकूल नहीं जान पड़ता।

अनन्वय के लक्षण तथा उदाहरण स्वतंत्र हैं; अनन्वय का लक्षण संस्कृत के सभी लक्षणों से सरल है—संस्कृत लक्षणों में अनन्वय वहां माना जाता है जहां एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान बन जावे, प्रस्तुत पुस्तक में उपमेय का उपमान बनना ही अनन्वय की पहिचान बतलाई गई है। **उपमानोपमेय** नया नाम नहीं है, संस्कृत आचार्यों ने इसको उपमेयोपमा कहा था।

चन्द्रालोक में प्रतीपोपमा तथा **प्रतीप** दो अलंकार हैं, कुवलयानन्द में प्रतीप के ५ भेद हैं; प्रस्तुत ग्रन्थ में कुवलयानन्द का ही अनुकरण है। प्रथम प्रतीप के लक्षण तथा उदाहरण दोनों का ज्यों-का-त्यों अनुवाद है :—

---

(१) अलंकारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ।५।११८।
(२) एतेषामेव विन्यासान् नालंकारान्तराण्यमी ।५।११९।

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ।। (कुवलयानन्द)
सो प्रतीप उपमेय कों, कीजै जब उपमानु ।
लोयन-से अंबुज बने, मुख-सो चन्द बखानु ।। (भा. भूषण)

द्वितीय प्रतीप का भी कुवलयानन्द से अनुवाद है; लक्षण का अनुवाद ठीक नहीं हो पाया—मूल में 'अनादर' पाठ था, परन्तु अनुवाद में 'आदर जबै न होइ' पाठ है :—

अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत् ।
अलं गर्वेण ते वक्त्र ! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः । (कुवल.)
उपमेय को उपमान तें, आदर जबै न होइ ।
गरब करति मुख को कहा, चंदहि नीकैं जोइ । (भा. भूषण)

शेष भेदों के लक्षण तो कुवलयानन्द से मिलते हैं; परन्तु उदाहरण स्वतंत्र हैं ।

हमारे लेखक ने **रूपक** का लक्षण नहीं दिया, और न भिन्न-भिन्न भेदों को ही समझाया है । कुवलयानन्द के ही अनुसार रूपक के ६ भेद हैं; उदाहरणों का शब्दानुवाद नहीं किया गया ।

परिणाम अलंकार काव्यप्रकाश में नहीं है, चन्द्रालोक में इसका लक्षण (५।२२), अधिक स्पष्ट शब्दावली में नहीं दिया, यहां लक्षण तथा उदाहरण कुवलयानन्द (२१) के अनुवाद मात्र हैं—लक्षण मूल ग्रन्थ की अपेक्षा सरल है (५७) । **उल्लेख** अलंकार का चन्द्रालोक में एक ही भेद है; कुवलयानन्द में इसके दो भेद माने हैं और प्रथम के उदाहरण में भी कुछ स्वतंत्रता रखी है; यहां इसी का अनुकरण है—प्रथम लक्षण-उदाहरण का तो ज्यों-का-त्यों अनुवाद है और द्वितीय के उदाहरण में अल्पमात्र स्वतन्त्रता है (५९) । जयदेव ने **स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह** इन तीन अलंकारों के लक्षण इनके नामों में ही मान लिये हैं, अप्पयदीक्षित ने न लक्षणों में परिवर्त्तन किया है और न उदाहरणों में । यहां भी ठीक वैसी ही बात है—केवल 'स्मृति', तथा 'भ्रांति' के स्थान पर 'स्मरण' तथा 'भ्रम' नाम पाये जाते हैं, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में इनके नाम' 'स्मरण' तथा 'भ्रांतिमान' हैं । भाषाभूषणकार ने इन तीनों अलंकारों को **"लच्छन नाम प्रकाश"** स्पष्ट शब्दावली में कहा है, जिसका प्रभाव आगे चलकर हिन्दी के कई आचार्यों पर पड़ा, कविराजा मुरारिदान का तो यह सिद्धान्त-वाक्य बन गया ।

जयदेव ने **अपह्नुति** के ५ भेद किये हैं, अप्पयदीक्षित ने लक्षणों और उदाहरणों में प्रायः अनुवाद कर दिया है; प्रथम भेद को चन्द्रालोककार ने अलग नाम नहीं दिया । उसके द्वारा इस अलंकार का मानों स्वरूप ही बतलाया है; अनुकृति-ग्रन्थ में प्रथम भेद को 'शुद्धापह्नुति' नाम दे दिया गया—भाषाभूषण में भी यही बात है । भाषाभूषण के लक्षणों में मूलग्रन्थ की अपेक्षा अनुकृति-ग्रन्थ की शब्दावली को ही स्वीकार किया गया है, शुद्धापह्नुति, तथा पर्यस्तापह्नुति के प्रसंग में यह अन्तर देखा जा सकता है । कुवलयानन्द में एक नया भेद 'हेत्वपह्नुति' माना है, यहां वह भी ज्यों का त्यों ले लिया गया है । उदाहरणों में नाम-मात्र की ही स्वतंत्रता है :—

नायं सुधांशुः, किं तर्हि? व्योमगङ्गासरोरुहम् ।२६।
उर पर नाहि उरोज ये, कनकलता-फल मानि।६२।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः, कान्तः किं? नहि, नूपुरः ।३०।
करत अधर छत, पिय? नहीं सखी सीत-रितु बाय।६६।

भाषा की अपेक्षा संस्कृत के उदाहरण अधिक स्वस्थ हैं, भाषा-उदाहरणों में युग की छाया का प्रभाव स्पष्ट है।

चन्द्रालोक में **उत्प्रेक्षा** का विषय बड़ा चलता हुआ है, फिर भी 'हेत्वादि' कहकर वस्तु तथा फल का संकेत है, और 'गूढ़ोत्प्रेक्षा' नाम से प्रतीयमाना को भी स्वीकार किया है, परन्तु इस ग्रन्थ का लक्षण बड़ा दुरूह है। कुवलयानन्द में,शायद काव्यप्रकाश के अनुकरण पर, संभावना में उत्प्रेक्षा मानी गई है; तीन भेदों के अतिरिक्त प्रत्येक भेद के दो-दो उपभेद भी मिलते हैं। भाषाभूषण में मोटे-मोटे तीन भेदों के ही लक्षण-उदाहरण देकर छुट्टी पा ली है।

अतिशयोक्ति का चन्द्रालोक में लक्षण नहीं है, प्रत्युत ६ भेदों के अलग-अलग लक्षण उदाहरण हैं। कुवलयानन्द में इन भेदों का क्रम बदल गया है और सापह्नवा तथा असम्बन्धा दो नये भेद भी आ गये हैं। यहां क्रम तथा भेदों की संख्या कुवलयानन्द के ही अनुसार है। असम्बन्धातिशयोक्ति को इस आचार्य ने कुछ असावधानी से दूसरी सम्बन्धातिशयोक्ति ही कह दिया है। अधिकतर उदाहरण स्वतंत्र हैं तथा आधार-ग्रंथों से अच्छे हैं :—

(अत्यन्ता) अग्रे मानो गतः पश्चाद् अनुनीता प्रियेण सा।
बाल न पहुंचै अंग लौं, अरि पहिलै गिरि जाइ ।७६।
(भेदका) अहो अन्यैव लावण्यलीला बालाकुचस्थले। (चन्द्रा.)
अन्यदेवास्य गाम्भीर्यम् अन्यद् धैर्यं महीपतेः। (कुवल.)
औरै हँसिबो देखिबो, औरै या की बात ।७२।

इस प्रकार के उदाहरण भाषाभूषण की लोकप्रियता का कारण स्पष्ट करते हैं।

तुल्ययोगिता अलंकार जयदेव ने 'क्रियादि' के द्वारा प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों की तुल्यता में माना है, और इस प्रकार इसके प्रस्तुत-तुल्ययोगिता तथा अप्रस्तुततुल्ययोगिता दो भेद हो सकते हैं। अप्पय दीक्षित ने लक्षण देते हुए 'धर्मैक्य' का सम्बन्ध माना है,जिस पर काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण दोनों का प्रभाव है। दो भेद और माने गये हैं। प्रथम तो, सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रभाव से, वहां पर जहां हित तथा अहित (मित्र तथा शत्रु) में व्यवहारतुल्यता हो। और दूसरा, काव्यादर्श के प्रभाव से, अधिक गणवान् जनों के सदृश प्रतिपादन में। भाषाभूषण में सरस्वतीकंठाभरण वाला भेद सबसे पहिले है, चन्द्रालोक वाला उसके अनन्तर, और काव्यादर्श वाला अन्त में। प्रथम का उदाहरण स्वतंत्र है, दूसरे का कुवलयानन्द से तथा तीसरे का काव्यादर्श तथा कुवलयानन्द के मिश्रण से बनाया गया है। **दीपक** तथा **आवृत्तिदीपक** के लक्षण तथा सभी उदाहरण कुवलयानन्द से ही लिये गये हैं।

प्रतिवस्तूपमा चन्द्रालोक, कुवलयानन्द तथा भाषाभूषण में एक सी ही है। **दृष्टांत** को हमारे आचार्य ने **'लच्छन नाम-प्रमान'** माना है, जिससे 'विम्बप्रतिबिम्ब' वाली बात बिलकुल खो जाती है; यह प्रतिपादन का एक बड़ा दोष है। **निदर्शना** का लक्षण न देना खटकता है, कुवलयानन्द के अनुसार यहां इसके तीन भेद हैं, आदि में तीनों भेदों को समझाया है फिर उनके उदाहरण दिये हैं—ऐसा करने से समझने में कठिनाई होती है, प्रत्येक भेद के लक्षण और उदाहरण साथ होने चाहियें। कुवलयानन्द के अनुसार तीसरी निदर्शना में क्रिया के द्वारा असत् तथा सत् अर्थों के फल का बोध होना बतलाया जाता है[1] हमारे आचार्य ने 'क्रिया' के स्थान पर 'कारज' कर दिया है, उदाहरण भी अधिक स्पष्ट नहीं है :—

तेजस्वी सौं निबल-बल, महादेव अरु मैन।८९।

व्यतिरेक तथा **सहोक्ति** आधारग्रंथों के समान ही हैं, व्यतिरेक का उदाहरण स्वतंत्र होकर अधिक मधुर बन गया है—इस प्रकार की स्वतंत्रता युगप्रभाव की सूचक तथा लोकप्रियता का कारण जान पड़ती है :—

शैला इवोन्नताः सन्तः किं तु प्रकृतिकोमलाः।

मुख है अम्बुज सो सखी, मीठी बात बिसेखि।९०।

विनोक्ति के कुवलयानन्द में ही दो भेद हो गये थे, प्रथम तो वह जहां किसी के बिना प्रस्तुत हीन बतलाया जावे, और दूसरा वह जहां किसी के बिना प्रस्तुत की सुन्दरता का प्रतिपादन हो—चन्द्रालोक में केवल पहिला ही भेद था। यहां लक्षणों में अनुकरण है, उदाहरण स्वतंत्र हैं। दूसरे भेद का इस ग्रंथ में जो उदाहरण है उसमें 'बिना' शब्द का प्रयोग नहीं है :—

बाला सब गुन सरस तू, रंच रुखाई है न।९३।

वस्तुतः 'बिना' शब्द का अर्थग्रहण ही अभीष्ट है, शब्द का रहना अनिवार्य नहीं—अलंकारचन्द्रिकाकार ने कुवलयानन्द के **"बिना शब्दमन्तरेण दर्शितम्"**[2] का यही अर्थ लिया है।

समासोक्ति, परिकर तथा **परिकरांकुर** के लक्षणों के ज्यों-के-त्यों अनुवाद कुवलयानन्द से कर दिये हैं :—

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।६१।

समासोक्ति अप्रस्तुत जु, फुरै सु प्रस्तुत मांझ।९४।

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे।६२।

है परिकर आसय-लिए, जहां बिसेसन होय।९५।

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।६३।

साभिप्राय बिसेष जब, परिकर अंकुर-नाम।९६।

विशेषतः 'परिस्फूर्तिः' का 'फुरै सु' और 'साभिप्राये' का 'आसय-लिए', अनुवाद

(१) अपरां बोधनं प्राहुः क्रिययाऽसत्सदर्थयोः।५५।

(२) तथा च विनोक्तिरित्यर्थग्रहणं, न तु शब्दग्रहणमिति भावः।

देखने योग्य है––यथासंभव शब्दावली भी सुरक्षित रखी गई है । चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की शब्दावलियों में भेद नहीं है।

जयदेव ने **श्लेष** का लक्षण तो नहीं दिया, परन्तु पदश्लेष के दो भेदों खण्डश्लेष तथा भंगश्लेष का विवेचन किया है; और फिर वह अर्थश्लेष पर आ गये हैं। अप्पयदीक्षित ने श्लेष का लक्षण तो दिया है परन्तु मूल में न तो अनेक भेद बतलाये हैं और न अर्थश्लेष का प्रसंग उठाया है। भाषाभूषण में इसी प्रवृत्ति का अनुकरण है, लेखक ने केवल शब्द-श्लेष का परिचय-भर दिया है और रखा है उसको अर्थालंकारों के बीच में––भेदों की यहां गुंजायश ही न थी।

अप्रस्तुतप्रशंसा के जयदेव ने कई भेद किये हैं, परन्तु अप्पय दीक्षित ने उसका एक ही भेद मूल में रखा है। भाषाभूषण में इसके दो भेद हैं, प्रथम तो स्पष्ट है परन्तु दूसरे में 'प्रस्तुत-अंस' का रहना आवश्यक मान लिया गया है, उदाहरण में कोई चमत्कार नहीं है।[1] **प्रस्तुतांकुर** अप्पयदीक्षित ने ही माना है, पंडितराज इसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है; भाषाभूषणकार ने मूल का ज्यों-का-त्यों अनुवाद कर दिया है। अप्रस्तुतप्रशंसा तथा प्रस्तुतांकुर में अन्तर बड़ा सूक्ष्म है। उद्यान में विहार करती हुई नायिका ने, नायक को सुनाकर, भ्रमर से कहा––'हे भ्रमर, मालती पुष्प को छोड़कर तुम कंटक-पूर्ण केतकी के पास क्यों जाते हो'[2]; अर्थात् 'हे नायक कुलीन वधू के रहने पर भी तुम वेश्यागमन क्यों करते हो',[3] यहां दोनों ही अर्थ प्रस्तुत हैं––एक प्रस्तुत से दूसरे प्रस्तुत का द्योतन[4] होता है, अप्रस्तुतप्रशंसा में एक अप्रस्तुत से किसी प्रस्तुत अर्थ का बोध होता था।

पर्यायोक्त के दोनों भेद कुवलयानन्द से लिये गये हैं; एक में भङ्ग्यन्तर के आश्रय से वचन कहा जाता है और दूसरे में किसी व्याज से इष्टसाधन होता है। हमारे लेखक ने पहिले दोहे में दोनों भेदों के लक्षण तथा दूसरे दोहे में दोनो भेदों के उदाहरण दे दिये हैं (१०१ तथा १०२)। चन्द्रालोक का यहां कोई भी प्रभाव नहीं है।

चन्द्रालोक के अनुसार **व्याजस्तुति** अलंकार में निन्दा और स्तुति से क्रमशः स्तुति और निन्दा होती है, उदाहरण केवल निन्दा द्वारा स्तुति का ही दिया गया है। कुवलयानन्द में दोनों के अलग-अलग उदाहरण हैं। भाषाभूषण में केवल पहिले भेद के ही लक्षण तथा उदाहरण हैं; दूसरे भेद का लक्षण तथा उदाहरण **'व्याजनिन्दा'** के नाम से केवल वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति में कुवलयानन्द से अनुदित होकर आया है। अप्पयदीक्षित

(१) धनि यह चरचा ज्ञान की सकल समै सुख देत।९९।

(२) किं भृङ्ग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया। (कुवल.)

(३) इह हि प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिद् भृङ्गं प्रत्येवाहेति वाच्यार्थस्यापि प्रस्तुतत्वम्। अनेन प्रस्तुतेन वाच्यार्थेन कुलवध्वाः सौन्दर्यादिगुणशालिन्याः सत्त्वेऽपि वेश्यायाः समागमनेन किमिति उपालम्भरूपप्रस्तुतार्थप्रतीतिरिति प्रस्तुताङ्कुरा-लङ्कारः। (चन्द्रालोक की पौर्णमासी टीका)

(४) प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः। (कुवल.)

ने निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा दोनों में एक ही अलंकार 'व्याजस्तुति' माना है; 'व्याजनिन्दा' तो निन्दा से किसी अन्य की निन्दा में माना जायगा[1]। भाषाभूषण में तीनों बातें परस्पर मिल गई हैं।

आक्षेप के तीनों भेद कुवलयानन्द के अनुसार बतलाकर फिर क्रमशः उनके उदाहरण दे दिये हैं; चन्द्रालोक में निषेधाभास नहीं था। चन्द्रालोक में विरोध तथा विरोधाभास अलंकार अलग-अलग माने हैं; परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में दोनों में अभेद था, शायद इसीलिये कुवलयानन्द और उसके अनुकरण पर भाषाभूषण में केवल **विरोधाभास** अलंकार ही है।

विभावना का चन्द्रालोक में एक ही भेद था, परन्तु यहां कुवलयानन्द के अनुसार ६ भेद दिये गये हैं। **विशेषोक्ति** तथा **असंभव** भी उसी प्रकार हैं। **असंगति** के कुवलयानन्द के अनुसार तीन भेद हैं, चन्द्रालोक के अनुसार केवल एक ही नहीं---एक साथ लक्षण देकर फिर एक साथ सारे उदाहरण रख दिये गये हैं। **विषम** तथा **सम** अलंकारों में कुवलयानन्द के अनुसार तीन-तीन भेद मिलते हैं और लक्षणों को एक साथ तथा सारे उदाहरणों को एक साथ रखा है। **विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात,** आदि के विषय में भी यही बात जाननी चाहिये।

कारणमाला का नाम यहां 'गुम्फ' है जो चन्द्रालोक से कुवलयानन्द में होता हुआ यहां आया है। अप्पयदीक्षित ने वृत्ति में इसी लक्षण में दो भेद निकाले---(क) पूर्व-पूर्व के पद कारण और उत्तरोत्तर के कार्य हों, (ख) पूर्व-पूर्व के पद कार्य और उत्तर-उत्तर के कारण हों; और दूसरे भेद का उदाहरण[2] स्वयं दिया है। यदि भाषाभूषणकार ने यह वृत्ति भी पढ़ी होती तो वह इतने स्वाभाविक भेद तथा उदाहरण को न छोड़ता। **एकावली** में भी यही हुआ कि यद्यपि कुवलयानन्दकार ने वृत्ति में दूसरे भेद का उदाहरण दे दिया है, हमारे आचार्य ने उसकी उपेक्षा कर दी है। आधार ग्रंथ में एकावली का लक्षण इस प्रकार है :---

गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता।५।८८।

'गृहीतमुक्तरीति' का अर्थ है "**उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषणभावो वा**" (कुवलयानन्द), भाषाभूषण में इस पद के स्थान पर "गहत मुक्तपद रीति" रखा गया है जो क्लिष्ट शाब्दिक अनुवाद ही कहा जा सकता है।

मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, आदि भी कुवलयानन्द के अनुसार हैं। यथासंख्य के उदाहरण का अनुवाद[3] बड़ा अस्पष्ट है, पर्याय का प्रथम उदाहरण कुवलयानन्द की वृत्ति में बालभारत से उदाहृत छन्द के एक चरण[4] का छाया-

---

(१) निन्दाया निन्दया व्यक्ति र्व्याजनिन्देति गीयते।७२।

(२) भवन्ति नरकाः पापात्, पापं दारिद्र्यसम्भवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन, तस्माद् दानपरो भवेत्॥

(३) करि अति मित्त बिपत्ति को, गंजन रंजन भंग।१४०।

(४) पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्।

नुवाद है और दूसरे भेद का उदाहरण चन्द्रालोक के उदाहरण का अनुवाद है, विकल्प का उदाहरण भी मूल से नहीं लिया गया प्रत्युत कुवलयानन्द के वृत्तिभाग[1] का अविकल अनुवाद है। प्रत्यनीक के लक्षण[2] का अनुवाद दुरूह हो गया है, उसमें 'ता हित सों' पद व्याख्या के बिना स्पष्ट नहीं हो पाता। अर्थापत्ति का लक्षण[3] चन्द्रालोक का सरल था, परन्तु कुवलयानन्द में 'कैमुत्य'[4] शब्द का प्रयोग करके दुरूहता ला दी है, भाषाभूषण के एक संस्करण में यह शब्द ज्यों-का-त्यों रखा हुआ है, अन्यत्र उसके स्थान पर 'कहा...बात' वाक्य का प्रयोग है—इससे तो साहित्यदर्पण का 'दण्डापूपिकान्याय' ही अच्छा था।

विकस्वर, प्रौढोक्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण (३ भेद) तथा **विषाद** कुवलयानन्द के अनुसार हैं—विषादन का उदाहरण अश्लील-सा बन गया है। **उल्लास** के ४ भेद हो सकते हैं, कुवलयानन्द में चारों के उदाहरण हैं, परन्तु यहां केवल एक का। **अवज्ञा** में चन्द्रालोक का और **अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्‌गुण, पूर्वरूप, अतद्‌गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेषक, गूढोत्तर** आदि में कुवलयानन्द का प्रभाव है। भाषाभूषण का चित्रालंकार वस्तुतः कुवलयानन्द का चित्रोत्तर अलंकार है जिसको उत्तरअलंकार का ही एक भेद माना जा सकता है (कुवलयानन्द, १५०)। शेष अलंकार भी कुवलयानन्द के समान हैं।

वक्रोक्ति चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द दोनों में अर्थालंकार माना गया है, भाषाभूषण में भी वही अनुकरण है। **उदात्त** भी दोनों स्थलों पर एक-सा है, भाषाभूषण में न तो लक्षण पूरा है और न लक्षण का अनुवाद स्पष्ट :—

उदात्तमृद्धिचरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।
उपलच्छन वै सोधिए, अधिकाई सु उदात्त।१९१।

उदाहरण से कुछ भी सहायता नहीं मिलती :—

तुम जाके बस होत हौ, सुनत तनक-सी बात।१९१।

मूल्यांकन

भाषाभूषण अलंकार सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, इसलिये चन्द्रालोक से सुपरिचित होते हुए भी इसने सामान्यतः कुवलयानन्द का अनुकरण किया है—श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, विरोधाभास आदि के विषय में जसवन्तसिंह ने जयदेव की अपेक्षा अप्पयदीक्षित को अधिक माना है। किसी अलंकार के जहां कई भेद हों, वहां सामान्यतः कुवलयानन्द की ही कृपा

(१) अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति।
करि है दुख को अन्त अब, जम कै प्यारो कंत।१४५।

(२) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
प्रत्यनीक सो, प्रबल रिपु ता हित सों करि जोर।१५०।

(३) अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम्।५।३७।

(४) कैमुत्यन्याय का अर्थ है 'उसका क्या' (वह क्या)—जब ऐसा हो गया तो फिर उसका क्या प्रश्न (वह तो अपने आप ही होगया)।

समझनी चाहिये (देखिए उल्लेख, विभावना, असंगति आदि)। ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं जहां कुवलयानन्द की बात न मानकर चन्द्रालोक से सहमति दिखलाई हो (दे. उल्लास)। इस पुस्तक में अलंकारों का क्रम तथा उनके नाम तो कुवलयानन्द के अनुसार हैं ही, अर्थालंकारों की संख्या भी उसके अनुसार १०० है[1]—रसवत् आदि भावोदय आदि तथा प्रत्यक्ष[2] आदि १५ तथा संसृष्टि आदि ४ अप्पयदीक्षित ने अपने मत से नहीं लिखे प्रत्युत दूसरे आचार्यों के अनुसार इनकी चर्चा कर दी है, इसीलिये जसवंतसिंह ने इनका नाम लेना भी उचित न समझा। अस्तु भाषाभूषण को चन्द्रालोक की अपेक्षा कुवलयानन्द की भाषा-छाया कहा जावे, तो अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है।

इस पुस्तक में मूल चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द का ही सहारा नहीं है, संस्कृत के दूसरे ग्रन्थों का भी प्रभाव है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि शब्दालंकार मम्मट तथा विश्वनाथ से आये हैं और अनुप्रास के लक्षण में दण्डी तक की शब्दावली पाई जाती है। कुवलयानन्द की वृत्ति इस आचार्य ने ध्यानपूर्वक पढ़ी थी या नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है? विकल्प का उदाहरण वृत्ति से ही आया है, परन्तु कारणमाला के प्रसंग में उसने वृत्ति पर ध्यान नहीं दिया, यह हम ऊपर कह चुके हैं।

भाषाभूषण ने सभी अलंकारों के लक्षण नहीं लिखे, उनका वर्णन कर दिया है—उपमा, रूपक, निदर्शना आदि के विषय में लक्षण न बतलाना खटकता है। प्रायः सभी लक्षण संस्कृत से अनूदित हैं, लक्षणों के अनुवाद में लेखक शब्दावली को भी यथावत् रखना चाहता है इसलिये कुछ अनुवाद क्लिष्ट और अस्पष्ट बन गये हैं (दे. एकावली, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, उदात्त आदि)। फिर भी कुछ लक्षण तो बड़े स्पष्ट हैं (दे. अनन्वय, परिणाम)। ऐसे स्थल कम ही हैं जहां पाठक को शिकायत करनी पड़े; उत्प्रेक्षा का अनादर, दृष्टांत का लक्षण, तथा व्याजस्तुति-व्याजनिन्दा का घपला कभी-कभी ऐसा मौका देते हैं।

अलंकारों के उदाहरण अनुवाद-मात्र नहीं हैं, कहीं-कहीं छायानुवाद हैं और कहीं-कहीं स्वतंत्र। छायानुवाद का कारण यह जान पड़ता है कि लेखक अपने पाठक को शृंगार का सामान्य परन्तु शिष्ट उदाहरण बतलाना चाहता था जिससे उसको स्मरण रखना अधिक संभव हो सके—मूल की अपेक्षा छाया सदैव सरस, मधुर तथा आकर्षक है। (दे. अपह्नुति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि)। भाषाभूषण के उदाहरण ही लेखक की प्रतिभा का ठीक-ठीक परिचय दे सकते हैं। अस्वस्थ उदाहरण आश्चर्य की बात है (दे. विषादन)।

लक्षण-उदाहरण-समन्वय दो प्रकार से किया गया है। लक्षण और फिर उसका उदाहरण एक ही छंद में आ जावे—ऐसा क्रम नितांत स्वाभाविक है और भाषाभूषण में ऐसा हुआ भी है। परन्तु जहां किसी अलंकार के अनेक भेद हैं (विशेषतः उन अलंकारों के प्रसंग में जहां चन्द्रालोक में तो एक ही भेद है परन्तु कुवलयानन्द में अधिक भेद हो गये हैं) वहां लेखक ने आदि में सभी भेदों को अलग-अलग समझा दिया है फिर एक साथ क्रमशः सब भेदों के उदाहरण दे दिये हैं (दे. निदर्शना, पर्यायोक्त, आक्षेप, असंगति आदि)। इस

(१) इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः। (कुवल., १६९)
(२) एवं पञ्चदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः। (वही, १७१)

प्रवृत्ति में युग का प्रभाव तो स्पष्ट है, परन्तु इससे पुस्तक की उपादेयता तथा लोकप्रियता को आघात पहुंचता है।

साहित्य के उस युग में अनुवाद में अधिक कसावट की आशा नहीं की जा सकती और भाषाभूषण के विषय में हम यह मानकर भी नहीं चल सकते कि यह अनुवाद-मात्र ही है—जिसे हम अनुवाद का दोष समझते हैं, संभव है वह लेखक का अभीष्ट आधार-ग्रंथ से मतभेद हो। कम से कम उदाहरणों के विषय में हमको ऐसा ही सोचना चाहिये। मीलित के लक्षण-उदाहरण में यह श्लोक है :—

मीलितं बहु सादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते।

रसो नालक्षि लाक्षाया श्चरणे सहजारुणे॥

इसमें 'बहु सादृश्यात्', 'भेदवत्', तथा 'सहजारुणे' पर जोर देकर अनुवाद इस प्रकार होगा :—

मीलित बहु सादृश्यतें, भेद न परै लखाय।

सहज-अरुन तिय-चरन पर, जावक लख्यौ न जाय॥

परन्तु हमारे आचार्य का अनुवाद यह है :—

मीलित सोइ सादृश्य तें, भेद जबै न लखाय।

अरुन-बरन तिय-चरन पर, जावक लख्यो न जाय।१७४।

यह अनुवाद उतना उपयुक्त नहीं है।

भाषाभूषण अपने ढंग का बड़ा उपादेय ग्रन्थ है। इसके लेखक में सारग्राहिता के साथ-साथ सरसता तथा मधुरिमा भी है। छाया-ग्रंथ होते हुए भी इसमें पची हुई मौलिकता है। लक्षण कसे हुए तथा उदाहरण उपयुक्त हैं। कुवलयानन्द की आत्मा मानो भाषा में अवतरित हो गई हो।

मतिराम : ललित-ललाम

(सं० १७१८–१९)

पं. कृष्णबिहारीमिश्र के अनुसार सं. १७१८-१९ में तथा डा. भगीरथ मिश्र के अनुसार सं. १७१६ से १७४५ के बीच कविवर मतिराम ने बूंदी के महाराज भावसिंह के लिये 'ललित-ललाम' नाम का अलंकार-ग्रन्थ लिखा। इससे पूर्व वे साहित्यशास्त्र के दो ग्रंथ और लिख चुके थे--नायिका-भेद का "रसराज" तथा छंदशास्त्र का "छंदसार-पिंगल"। मतिराम ने आगे चलकर[1] सं. १७४७ में "अलंकारपंचाशिका" नाम की एक अलंकार-पुस्तक भी लिखी, जिसमें लक्षण संस्कृत के आधार[2] पर हैं तथा उदाहरण भाषा में कवि के मौलिक हैं।

ललित-ललाम ४०१ छंदों का अलंकार-ग्रंथ है, जिसमें कम से कम आधे दोहे हैं, शेष कवित्त-सवैये। मंगलाचरण के ५ छंदों के अनन्तर, १७ दोहों में बूंदी-वर्णन है, फिर १५ छंदों में नृपवंशवर्णन किया गया है। भावसिंह की रीझ[3] तथा खीझ दोनों ही अपूर्व थीं, उन्हीं को रिझाने के लिये मतिराम ने 'कविता भूषन-धाम'[4] इस ललित-ललाम नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में कवि ने उन अर्थालंकारों का वर्णन किया है जिन पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाले कवि की वाणी जगत् में सानन्द विलास[5] कर सकती है। ग्रन्थ की समाप्ति पर मतिराम ने अपने आश्रयदाता को (शायद ग्रन्थ के ही सहारे) चिरंजीव[6] होने का आशीर्वाद दिया है, और पाठक को इस बात का आश्वासन दिया है कि इस ग्रन्थ की रचना संसार के हितार्थ ही हुई है, जो व्यक्ति इसको कंठ्य[7] कर लेगा उसका सभाओं में बड़ा सम्मान होगा।

नाम तथा क्षेत्र

इस ग्रन्थ का नाम नितान्त निराला है, परन्तु उसका शब्दार्थ निराला नहीं; 'ललाम'

---

(१) मतिराम-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ. २२४

(२) संसकिरत कौ अर्थ लै, भाषा शुद्ध विचार।
उदाहरण क्रम ए किए, लीजो सुकवि सुधार॥

(३) रीझ हू खीज मैं राव सता-सुत, कीरति मैं अति जोति चढ़ावै।३७।

(४) भावसिंह की रीझ कौं, कविता भूषन-धाम।
ग्रन्थ सुकवि मतिराम यह, कीनौं ललित-ललाम।३८।

(५) रुचिर अर्थ भूषन इते, रचि जानै 'मतिराम'।
ताकी बानी जगत मैं, बिलसै, अति अभिराम॥३९९॥

(६) जग चिरंजीव तब लगि सुखद, कहत सकल संसार धनि॥४००॥

(७) कंठ करै जो, सभनि मैं, सोभै अति अभिराम।
भयो सकल संसार हित, कविता 'ललित ललाम'॥४०१॥

का अर्थ है सुन्दर, सौंदर्य या अलंकार; और 'ललित' का अभिप्राय है सुकुमारोपयोगी—अप्पयदीक्षित ने[1] भी अपने 'लक्ष्यलक्षणसंग्रह' को 'ललित' ही बनाया था; इस प्रकार 'ललित-ललाम' का अर्थ हुआ 'ऐसा अलंकार ग्रन्थ जो सुकुमार-बुद्धि पाठकों के लिए उपयोगी हो'। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस कवि को नाम बदलने का शौक था और पर्यायवाची शब्द (जैसे 'अलंकार' के स्थान पर 'ललाम') रखकर वह परिवर्त्तन किया करता था।

इस ग्रन्थ के ३६० छन्दों में अलंकार-विषय है। ४ रसवत् आदि, ३ भावोदय आदि, तथा ८ प्रमाण अलंकारों को तो यहां स्थान मिला ही नहीं, शब्दालंकारों की भी चर्चा नहीं है। इन अर्थालंकारों की सूची कहीं भी (केशव के समान प्रारम्भ में या भूषण के समान अन्त में) नहीं दी। इन अलंकारों की संख्या तथा क्रम कुवलयानन्द के ही अनुसार है, केवल एक अलंकार 'काव्यलिंग' ललित-ललाम में नहीं मिलता; भाषाभूषण आदि के समान चित्र अलंकार भी इस पुस्तक में स्थान पा गया है।

अलंकारों के नाम तथा भेद

अलंकारों के महत्त्व तथा कुछ अलंकारों के स्वतंत्र अस्तित्व को लेकर आचार्यों में मतभेद रहा है, परन्तु अलंकारों के नामों में स्वच्छन्दता की आवश्यकता नहीं समझी गई—स्मृति तथा स्मरण, भ्रान्ति तथा भ्रम का हेरफेर तो नितान्त सामान्य है; संस्कृत में 'स्वभावोक्ति' तथा 'जाति' ये दो नाम ही एक दूसरे के पर्याय थे। यहां चार अन्य अलंकारों के नाम भी पर्यायवाची शब्दों की सहायता से बदलकर कैतवापह्नुति का छलापह्नुति, प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का गुप्तोत्प्रेक्षा, अन्योन्य का परस्पर, तथा कारणमाला का हेतु-माला कर दिया गया है। इस परिवर्त्तन का कोई भी कारण समझ में नहीं आता, जान पड़ता है कि यह कवि की रुचि-मात्र का ही परिचायक है।

'विशेषक' के स्थान पर 'विशेष' ही लिखा है तथा 'विषादन' के स्थान पर 'विषाद', जो अधिक खटकता भी नहीं; परन्तु 'विशेष' नाम का एक दूसरा अलंकार भी इस पुस्तक में स्वीकार किया गया है; अतः ऊपरी रूप से पाठक को 'विशेष' नाम के दो भिन्न-भिन्न अलंकार मिलते हैं—यह ग्रन्थ का एक दोष है।

अलंकारों के भेद सर्वत्र कुवलयानन्द के आधार पर नहीं हैं, किसी एक पुस्तक का आधार भी नहीं माना जा सकता। व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अल्प के भेद यहां नहीं दिये गये—अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों की अवहेलना पर ध्यान देना पड़ेगा। विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास तथा भाविक के भी भेद नहीं लिखे, परन्तु दो-दो उदाहरण दे दिये हैं जिनसे अलग-अलग भेद स्पष्ट हो जाते हैं—विनोक्ति का प्रथम उदाहरण चन्द्रालोक में वर्णित हीनत्व प्रतिपादन वाला है, और दूसरा कुवलयानन्द में बढ़ाया गया शोभनत्व प्रतिपादन वाला; अर्थान्तरन्यास का प्रथम उदाहरण सामान्य से विशेष का समर्थन करता है और दूसरा विशेष से सामान्य का; भाविक का प्रथम उदाहरण भूतार्थ का है तथा दूसरा भविष्यदर्थ का। लेश तथा तुल्ययोगिता के दो-दो भेदों का ही उल्लेख है।

---

(१) ललितः क्रियते तेषां लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ।४। (कुवलयानन्द)

अलंकारों के लक्षण

मतिराम ने सभी अलंकारों के लक्षण दोहों में लिखे हैं, एक अलंकार के लिए अथवा एक भेद के लिये एक दोहा प्रयुक्त होता है। दोहे के अन्तिम दो चरणों में अलंकार का नाम तथा प्रायः कवि का नाम है, और आदि के दो चरणों में उस अलंकार या भेद का लक्षण। इस प्रकार भाषाभूषण तथा ललित-ललाम दोनों की लक्षणशैली में कोई भेद नहीं। इस पुस्तक में भाषाभूषण का अनुकरण होने पर भी उसकी शब्दावली को ज्यों-का-त्यों नहीं अपनाया गया।

संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव अलंकारों के लक्षणों पर मिलता है। चन्द्रालोक, कुवलयानन्द के अतिरिक्त काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है—उपमा तथा उत्प्रेक्षा के प्रसंग विशेषतः इन्हीं से प्रभावित हैं। कारणमाला, सार तथा परिवृत्ति के ये स्थल देखिए :—

(क) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता। (काव्यप्रकाश)
परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता। (साहित्यदर्पण)
पूरब-पूरब हेतु जहं, उत्तर-उत्तर काज। (ललितललाम)

(ख) उत्तरोत्तर मुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः। (काव्यप्रकाश)
उत्तरोत्तर मुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। (सा. दर्पण)
उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। (ल. ललाम)

(ग) परिवृत्ति विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः। (का. प्र.)
परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकै र्भवेत्। (सा. द.)
घाटि बाढ़ि द्वै बात को, जहां पलटिबो होय। (ल. ल.)

मतिराम सर्वत्र शब्दावली को सुरक्षित नहीं रख पाये हैं।

यदि दोहे के चारों चरण लक्षण को बतलाते तो कसावट अधिक आ सकती थी, परन्तु सुविधा होते हुए भी इस कवि ने दूसरों का अनुकरण किया और लक्षण इतने संक्षिप्त लिखे कि वे अस्पष्ट बन गये। कुछ प्रसंग देखे जा सकते हैं :—

(क) अनन्वय—**'जहां एक ही बात कौं उपमेयो उपमान'**, यह लक्षण अनन्वय के स्वरूप को स्पष्ट नहीं करता—'एक ही बात को उपमेय तथा उपमान बनाना' अनन्वय नहीं है; उपमेय को ही उपमान बनाना अनन्वय है; यदि यह कहा जाय कि 'यह कमल उस कमल के समान सुन्दर है' तो इस वाक्य में अनन्वय न होगा, क्योंकि इस अलंकार में आग्रह उसी वस्तु का रहता है, उसी बात का नहीं।

(ख) भेदकातिशयोक्ति—**'औरै यों करि कै जहां बरनत सोई बात'**—मतिराम का अभिप्राय यह है कि यह अलंकार वहां माना जायगा जहां किसी वस्तु का वर्णन करते समय यह कहा जाय कि आज तो यह कुछ और ही मालूम पड़ती है; परन्तु प्रयुक्त शब्दावली से यह भाव स्पष्ट नहीं होता।

(ग) समासोक्ति—**'जहं प्रस्तुतमैं होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान'**—यह **'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्'** (चन्द्रालोक) का शिथिल अनुवाद है, परन्तु

('परिस्फूर्तिः') में जो व्यंजना है वह 'ज्ञान' में न आ सकी।

(घ) विरोधाभास—'**जहं विरोध सो लगत है, होत न सांच विरोध**'—यह लक्षण भी शास्त्रीय नहीं है, इसमें असंगति, विभावना, विशेषोक्ति आदि सब समा सकते हैं।

(ङ) एकावली—मतिराम ने लिखा है:—

एक अर्थ लै छोड़िए, और अर्थ लै ताहि।

अर्थ पांति इमि कहत है, एकावली सराहि।२५९।

इस दोहे से भी कुछ स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार काव्यार्थापत्ति, विकस्वर, प्रौढोक्ति, मिथ्याध्यवसित आदि के विषय में भी समझना चाहिए।

उपमा-चक्र—

ललित-ललाम का प्रारंभ उपमा अलंकार से होता है, उपमेय और उपमान का लक्षण देने के उपरान्त जयदेव की छाया में उपमा का लक्षण इस प्रकार है:—

जहां बरनिए दुहुनि की, सम छवि को उल्लास।

(उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः)।

तदनन्तर दो उदाहरण हैं—एक आश्रयदाता का, दूसरा शृंगार का:—

(क) ऐसे सब खलक तैं सकल सकिलि रही,

राव में सरस जैसें सलिल दरयाव में।४१।

(ख) यों मतिराम भयो हिय में सुख बाल के बालम सौं दृग जोरें।

ज्यों पट में अति ही चटकीलो चढ़ै रंग तीसरी बार के बोरें।।४२।।

परन्तु दोनों ही उदाहरणों में शंका हो सकती है। आचार्य विश्वनाथ ने उपमा के लक्षण में "वाक्यैक्य"[1] का होना आवश्यक माना है; जहां सादृश्य के लिए दो वाक्यों की अपेक्षा होती है वहां सादृश्य दो वस्तुओं में नहीं होता, दो वाक्यों में या दो कथनों में होता है, जैसा कि यहां है। ऊपर के उदाहरणों में साधारण धर्म अलग-अलग दो वाक्यों में रखे हुए हैं, इसलिए उपमा अलंकार का क्षेत्र नहीं रह जाता।

पूर्णोपमा के भी दो उदाहरण हैं। कवित्त का अन्तिम चरण है:—

गाढ़े ह्वै गढ़े हैं न निसारे निसरत

मैन-बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं।४४।

वर्णन 'लोचन-रसाल' का चला आ रहा है, अप्रस्तुत है 'मैनबान'; चारों अंग हैं इसलिए पूर्णोपमा हो जायगी। परन्तु इस छन्द में अधिक चमत्कार दूसरे अलंकारों का है—'बिसारे न बिसारे' में यमक, तथा 'न बिसारे बिसरत हैं,' में विशेषोक्ति है। उपमा का चमत्कार दूसरे चमत्कारों के सामने दब जाता है। विषय के प्रतिपादक आचार्य को चाहिए कि वह ऐसा उदाहरण उपस्थित करे जो केवल उसी चमत्कार का द्योतक हो, अन्य का नहीं। मतिराम ने पूर्णोपमा के दूसरे उदाहरण[2] में भी इस बात का ध्यान नहीं रखा।

पूर्णोपमा के लक्षण में भी शिथिलता है:—

---

(१) साम्यं वाच्य मवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। (साहित्यदर्पण)

(२) लाज तजे हू दुहुनि के, सलज सूर-से नैन।४५।

वाचक अरु उपमेय जहं, साधारन उपमान।

पूरन उपमा कहत हैं, तहं मतिराम सुजान ।।४३।।

'साधारण धर्म' के स्थान पर केवल 'साधारन' शब्द रख देना और वह भी 'उपमान' के पास ही, पाठक को भुलावे में डाल देता है—पाठक समझता है कि कवि 'साधारन उपमान' के विषय में कुछ कहना चाहता है।

परम्परा के अनुकरण पर इस पुस्तक में लुप्तोपमा के चार में से तीन अंगों का लोप कर दिया है,कुशल यही है कि सभी भेदोपभेदों के उदाहरण नहीं रखे। मतिराम ने उपमा के अनेक भेदों का कथन किया है; मालोपमा, रसनोपमा, तथा उपमेयोपमा के लक्षणों में काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की छाया स्पष्ट है:—

(क) जहां एक उपमेय कौं, होत बहुत उपमान।
मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। (सा. द.)

(ख) जहां प्रथम उपमेय सो, होत जात उपमान।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता। (सा. द.)

(ग) जहां होत हैं परस्पर, उपमेयो उपमान।
पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता। (सा. द.)
विपर्यास उपमेयोपमा तयोः। (का. प्रकाश)

(घ) जहां एक ही बात कौं, उपमेयो उपमान।
उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः। (सा. द.)

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति

मतिराम ने उत्प्रेक्षा का लक्षण मम्मट तथा विश्वनाथ के आधार पर ही लिखा है:—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा। (काव्यप्रकाश)

भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा। (साहित्यदर्पण)

जहं कीजे संभावना, सो उत्प्रेक्षा जानि।१००।

जो ६ भेद किये गये हैं उनके उदाहरण उपयुक्त हैं, परन्तु अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण विचारणीय है। यह भेद वहां माना जाता है जहां उत्प्रेक्षा की विषयभूत वस्तु का कथन न हो। परन्तु उदाहरण में:—

तेरे अंग-अंग मैं मिठाई औ लुनाई भरी,
मतिराम कहत प्रगट यह पाइए।
नायक के नैननि मैं नाइए सुधा सो, सब
सौतनि के लोचननि लौन-सो लगाइए।१०४।

'सुधा-सो' तथा 'लौन-सो' में अनुक्तविषया हो सकती है, परन्तु ऊपर के चरण म 'मिठाई औ लुनाई' रूपी कारण दिया हुआ है जिस पर उत्प्रेक्षा का यह चमत्कार स्थित है। फलतः पाठक का ध्यान 'क्रम' तथा 'उल्लेख' अलंकारों पर जाता है—मिठाई से सुधा, तथा लुनाई से लौन में क्रम है; एवं एक ही नायिका अपने अंगों से एक की आंखों में अमृत बरसाती है तथा दूसरियों की आंखों में नमक छिड़कती है, इसलिए उल्लेख अलंकार है।

गुप्तोत्प्रेक्षा (गूढोत्प्रेक्षा या गम्योत्प्रेक्षा) का उदाहरण अवश्य सुन्दर है। नायिका नायक के मुख की ओर जब टकटकी लगाकर देखने लगी तो सात्विक भावों का उदय हो आया---उसकी दृष्टि में स्थिरता आ गई और माथे पर स्वेद छा गया। कवि की संभावना है कि ऐसी दशा 'रीझ के भार' के कारण हुई:—

बाल रही इकटक निरखि, ललित लाल मुख इंदु।

रीझ भार अंखियां थकीं, झलके श्रम जलबिंदु।११०।

अतिशयोक्ति का लक्षण नहीं दिया, परन्तु सभी भेदों का अलग-अलग वर्णन है। रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण में दो दोहे हैं परन्तु बड़े अस्पष्ट:—

इन्द्रजाल कंदर्प को, कहै कहा मतिराम।

आगि लपट, वर्षा करै, ताप धरै घनस्याम ॥११२॥

'आगि लपट', 'वर्षा', तथा 'ताप', किसी के उपमान प्रसिद्ध नहीं हैं---बिरहानल, अश्रुप्रवाह तथा विरहताप के स्थान पर इनका प्रयोग मानने से उपमेय-उपमान-भाव नहीं बनता। दूसरे उदाहरण में:—

आलबाल घन समय कौ, ग्रीषम ऋतु की बेलि ॥११३॥

परम्परा से नायिका के लिए 'बेलि' शब्द का व्यवहार तो मिलता है परन्तु सात्त्विक भावों के लिए आलबाल का प्रयोग सुन्दर होते हुए भी क्लिष्ट है---अप्रसिद्ध है।

ललित-ललाम में असम्बन्धातिशयोक्ति को अलग भेद न मानकर सम्बन्धातिशयोक्ति के ही अन्तर्गत रखा है। लक्षण पहिले 'योग में अयोग' का है तब 'अयोग में योग' का, परन्तु उदाहरण पहिले 'अयोग में योग' का है तब 'योग में अयोग' का। दूसरे उदाहरण में अत्युक्ति का चमत्कार ही मुख्य है, प्रतिपाद्य विषय छिप जाता है:—

कैसे वह बाल, लाल, बाहर बिजन आवै,

बिजन-बयारि लागे लचकत लंक है ॥१२१॥

अप्रस्तुतप्रशंसा तथा व्याजोक्ति

मतिराम और भूषण ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार को समझा ही नहीं, वे 'प्रशंसा' का प्रचलित अर्थ ले बैठे; इनके लक्षण हैं:—

अप्रस्तुतै प्रसंसिए, प्रस्तुत लीने नाम। (मतिराम)

प्रस्तुत लीन्हे होत जहं, अप्रस्तुत परसंस। (भूषण)

काव्यप्रकाश[1] तथा साहित्यदर्पण[2] में यह अलंकार वहां माना गया है जहां अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान हो, चन्द्रालोक के लक्षण का भी यही भाव है---**अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा**; और कुवलयानन्द[3] की शब्दावली में भी कोई अन्तर नहीं। संस्कृत लक्षणों से यह स्पष्ट है कि इस अलंकार के नाम में 'प्रशंसा' का अर्थ 'कथन' अथवा 'वर्णन'

---

(१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।१०।९८।

(२) अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते.....।१०।७७।

(३) अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुताश्रया।६६।

मात्र है, 'कीर्त्तिगान' नहीं। मतिराम तथा भूषण इस रहस्य को न समझ पाये, मतिराम के उदाहरण में उनकी प्रशंसा-मात्र है जो उपस्थित नहीं (=अप्रस्तुत) हैं:—

ते धनि जे ब्रजराज लखैं, गृह-काज करैं अरु लाज संभारैं।१७४।

व्याजस्तुति के विषय में भी आचार्य एकमत नहीं रहे। जयदेव[1] ने निन्दा और स्तुति के द्वारा क्रमशः स्तुति तथा निन्दा में इस अलंकार की स्थिति मानी, अप्पयदीक्षित ने इसको भिन्नविषया भी माना और वैधर्म्य के द्वारा भी—इस प्रकार निन्दा से स्तुति, स्तुति से निन्दा, स्तुति से (दूसरे की) स्तुति, और निन्दा से (दूसरे की) निन्दा; ये ४ प्रकार के उदाहरण बनने लगे। जसवंतसिंह ने व्याजस्तुति तथा व्याजनिन्दा के दो भेद किये हैं और उदाहरण प्रथम तथा चतुर्थ रूपों के दिये हैं; दूलह ने अलंकार का नाम 'व्याजोक्ति' रखा और प्रथम तीन भेदों को 'व्याजस्तुति' कहा तथा अंतिम को 'व्याजनिन्दा'; पद्माकर ने भी यही किया है। मतिराम ने भी दो भेद किये और प्रथम भेद के साथ प्रथम दो रूपों के उदाहरण रख दिये, दूसरे भेद के नीचे केवल निन्दा में निन्दा का। भूषण ने केवल प्रथम दो रूपों का ही वर्णन किया है।

अलंकारों के उदाहरण

इस शैली के लेखकों की विशेषता उदाहरणों में ही है—लक्षण तो, इनके सुविधा रहते हुए भी, अस्पष्ट हैं; उदाहरण बड़े-बड़े छन्दों में एक से अधिक भी हैं। मतिराम के उदाहरण प्रायः कवित्त-सवैयों में हैं, दोहों में प्रायः कम ही। जिन अलंकारों में उनका चित्त कम रमा उनके उदाहरण दोहों में बना डाले हैं—अल्प, विशेषक, प्रत्यनीक, प्रौढोक्ति ललित, उल्लास, लेस, मुद्रा, उन्मीलित, चित्र तथा गूढोक्ति आदि। दूसरी ओर, कुछ अलंकारों के एक से अधिक उदाहरण भी हैं—अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, परिकर, विशेषोक्ति, अवज्ञा आदि। अवज्ञा के तो ३ उदाहरण हैं। जहां आवश्यकता से अधिक उदाहरण हैं वहां एक बात कही जा सकती है कि एक उदाहरण आश्रयदाता से संबंध रखता है तथा दूसरा शृंगार रस का प्रायः कवि का पहिला रचा हुआ है।

जो उदाहरण कवित्त या सवैयों में दिये गये हैं उनके पहिले तीन चरणों से अलंकार का प्रायः सम्बन्ध नहीं होता, केवल चौथा चरण ही पर्याप्त समझा जा सकता है। इतना ही नहीं अनावश्यक चरण पाठक को भ्रम में भी डाल सकते हैं; यह वर्णनप्रियता आचार्यत्व में सर्वत्र बाधक है। तृतीय आक्षेप के उदाहरण में एक कवित्त तथा एक दोहा है, परन्तु केवल दो चरण ही[2] पर्याप्त थे, जितना उनसे स्पष्ट होता है उतना सबको पढ़कर ग्रहण करने से नहीं।

ललित-ललाम के स्मृति, भ्रम, संदेह, समासोक्ति, विभावना, परिवृत्ति, अवज्ञा

---

(१) **उक्ति र्व्याजस्तुति निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।५।७१।**

(२) **आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीति वाके चित्त,**
ऐसे में चलौ तौ लाल रावरी बड़ाई है।
सोवति न रैन-दिन रोवति रहति बाल,
बूझें तें कहति सुधि मायके की आई है।।१९२।

आदि अलंकारों से भी सन्तोष नहीं होता। स्मृति, भ्रम तथा सन्देह अलंकार वहीं होंगे जहां उपमेय-उपमान भाव होगा, मतिराम ने इस रहस्य को न समझा। लक्षण[1] में तो लिख दिया है कि एक वस्तु को देखकर उसके समान अन्य वस्तु के स्मरण आदि में ये अलंकार होते हैं, परन्तु उदाहरण में इस सादृश्य का ध्यान न रखा।

समासोक्ति का लक्षण तो ठीक है परन्तु उदाहरण सदोष है, उसमें मन का मानवीकरण है जिससे किसी अप्रस्तुत वियोगी का संकेत नहीं मिलता—'वियोगी' शब्द के रख देने से यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है:—

कहा कहौं लाल, तलबेली तलफत परचो,
बाल अलबेली को बियोगी मन लाज को।१६३।

प्रथम विभावना में कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती है, कवि का लक्षण ठीक है, परन्तु उदाहरण नहीं:—

लाजभरी अंखियां विहंसी बलि, बोल कहें बिन उत्तर दीनौं।१९७।

यह चन्द्रालोक के परिणाम अलंकार में दिये गये उदाहरण का छायानुवाद सा जान पड़ता है:—

कान्तेन पृष्टा रहसि, मौनमेवोत्तरं ददौ।५।२२।

परिवृत्ति अलंकार का लक्षण तो न्यूनाधिक का विनिमय है, परन्तु चमत्कार वहां रहता है जहां संबंधित व्यक्तियों का स्वयं प्रयास हो, इसीलिए विश्वनाथ[2] का उदाहरण जयदेव[3] के उदाहरण से अधिक आकर्षक है। मतिराम के उदाहरण में प्रयत्न तीसरे ही व्यक्ति का है, विनिमय करने वाले तो चुपचाप देखते रहते हैं:—

गायन कौं बकसी कसाइनि की आयु सब,
गायनि की आयु सो कसाइनि कौं बकसी।

अवज्ञा अलंकार में एक के गुण या दोष से दूसरे को लाभ या हानि न प्राप्त होने का कथन होता है; यह अलंकार उल्लास का विपरीत है। मतिराम का लक्षण ठीक है—**"औरै के गुन दोष तें औरै के गुन दोष जहं न"**। परन्तु उदाहरण वही है जो अर्थान्तरन्यास का भी उदाहरण था—विशेष द्वारा सामान्य का कथन। ध्यान रखना होगा कि अवज्ञा में सामान्य-विशेष भाव सदा आवश्यक नहीं है।

कुछ सुन्दर उदाहरण

इस परम्परा के कवियों को वर्णन से विशेष प्रेम था इसलिए इन्होंने लक्षण की अपेक्षा उदाहरण में कौशल अधिक दिखलाया है। रोचक तथा उपयुक्त उदाहरण विषय को स्पष्ट, सुगम तथा ग्राह्य बना देते हैं, इसलिए उनके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मतिराम के कुछ उदाहरण बहुत सफल हैं:—

---

(१) एक वस्तु लखि आन को, सुमरन-भ्रम-संदेह।८०।

(२) दत्वा कटाक्षमेणाक्षी, जग्राह हृदयं मम।
मया तु हृदयं दत्वा, गृहीतो मदनज्वरः।

(३) जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रुयोषिताम्।

(क) सहोक्ति में 'सह' अथवा उसके पर्यायवाची शब्द के प्रयोग द्वारा चमत्कार-वर्द्धक संयोग दिखलाया जाता है; प्रायः एक वस्तु मूर्त्त होती है दूसरी अमूर्त । मतिराम के उदाहरण में:—

संपत्ति के साथ कवि सौधनि बसत, बन
दारिद बसत साथ वैरि-वनितान के।१५८।

वैभव तथा शौर्य की व्यंजना तो है ही, संपत्ति (रमणी) के साथ कवियों का सुख-भोग बतलाकर गुणग्राहकता का सुन्दर संकेत है, तथा दारिद्रय (पुरुष) का शत्रु स्त्रियों के साथ घर बसाकर रहना शत्रुओं की नाक ही काट देता है।

(ख) पर्यायोक्ति अलंकार का दूसरा भेद किसी बहाने अपने कार्य की सिद्धि में आता है। शृंगारी कवियों ने इसके उदाहरण में सखियों को चकमा देकर कृष्ण का राधा से मिलना दिखलाया है। मतिराम का भी यही उदाहरण है परन्तु दूसरों से अधिक स्पष्ट तथा सरस:—

मनमोहन आय गए तित ही जित खेलत बाल सखी-जन मैं,
तहं आपु ही मूंदे सलोनी के लोचन, चोर-मिहीचनी खेलन मैं।
दुरबै कौं गईं सगरी सखियां, मतिराम कहै इतने छन मैं।
मुसकाय के राधिके कंठ लगाय, छिप्यौ कहूं जाय निकुंजन मैं।१८१।

ध्यान रखना होगा कि इस अलंकार का सारा सौंदर्य वर्णन पर ही निर्भर है,इसलिए इसका उदाहरण बड़ा ही होगा।

(ग) द्वितीय विषम—लोक में कारण-कार्य की एकरूपता होती है, विषम इस एकरूपता के स्थान पर विरूपता का कथन करता है; अर्थात् यहां कारण से भिन्न प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होती है। ललित-ललाम के उदाहरण में सुन्दरी नायिका ने एक श्वेत साड़ी पहिनकर ही सौतों का मुख काला तथा नायक का मुख सुखानुरक्त कर दिया:—

सेत सारी ही सौं सब सौतें रंगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सौं स्याम रंगे लाल रंग मैं।२२५।

(घ) अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है। जहां विशेष से सामान्य का समर्थन है वहां वक्ता विशेष कथन को अपने अनुभव का फल भी बना सकता है, ऐसी दशा में समर्थन बड़ा गंभीर एवं प्रभावशाली बन जाता है। परकीया ने उपपति से प्रेम किया और वह जानती थी कि प्रेम के लिए त्याग आवश्यक है, वह त्याग करती गई—उसने लोकलज्जा त्याग दी, घर के कामकाज से मुख मोड़ लिया, गुरुजनों के भय की भी कोई चिन्ता न की, परिचितों के द्वारा की गई निन्दा को भी अनसुना कर दिया—परन्तु अन्त में मिला क्या ? क्या उपपति ने उसके प्रेम का मूल्य समझा ? सत्य है अपना-अपना है, और पराया सदा पराया ही:—

रावरे नेह कौं लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए।
डारि दियौ गुरु लोगन कौ डरु गांव चवाई मैं नाम धराए।
हेत कियौ हम जो तो कहा तुम तो मतिराम सबै बिसराए।
कोऊ अनेक उपाय करौ, कहूं होत हैं आपने, पीव पराए।२९०।

दूसरों का ऋण

ललित-ललाम विशेष अध्ययन का फल नहीं जान पड़ता, कवि ने संस्कृत ग्रन्थ यदि पढ़े भी हों तो भी उनको सीधा आधार उसने नहीं बनाया; काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की जितनी भी छाया मिलती है वह कवि के पक्ष में नहीं जाती—केवल वातावरण का ही परिचय देती है। हां, मतिराम ने अपने से पूर्व के हिन्दी ग्रन्थ अवश्य देखे होंगे। प्रसिद्ध लोगों में केशव तथा जसवन्तसिंह ही तो इनसे पहिले हैं। जसवन्तसिंह का प्रभाव हम शैली में मान सकते हैं, अलंकारों की संख्या तथा क्रम के विषय में ऊपर कहा जा चुका है; यह भी हम दिखला चुके हैं कि शब्दावली भिन्न होने पर भी जसवंतसिंह से मतिराम ने लक्षण लिखना सीखा। केशव की छाया अन्य क्षेत्रों में नहीं है परन्तु चित्र अलंकार केशव की ही शब्दावली में मतिराम ने लिखा है:—

को कहिये सुरतात, को कामी हित 'सुरत-रसु'। (केशव)
सरद-चंद की चांदनी, को कहिए प्रतिकूल ?
सरद-चंद की चांदनी, कोक हिए प्रतिकूल ॥ (मतिराम)

'को कहिए' का यह चमत्कार पद्माकर ने भी अपना लिया था:—

को कहिए निसि में दुखी ? कौन नील तिय-बास ?

मूल्यांकन

ललित-ललाम अलंकार विषय का वर्णन-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें काव्य, अलंकार या काव्य में अलंकार के स्थान विषय पर विचार नहीं किया गया। कवि की कोई अपनी मान्यता नहीं है। शब्दालंकारों तथा १५ अन्य अलंकारों को इस पुस्तक में स्थान क्यों नहीं मिला, इसका कोई साम्प्रदायिक कारण नहीं है, इसे संयोग-मात्र कहकर ही काम चल सकता है। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि मतिराम को अलंकार से विशेष स्नेह नहीं, वे तो इस बहाने अपने आश्रयदाता को रिझाना चाहते हैं।

इस पुस्तक के लक्षण दूसरों से प्रभावित होते हुए भी शिथिल हैं। लक्षण के लिए पूरे दोहे का प्रयोग हुआ है परन्तु अंतिम दो चरण बिलकुल व्यर्थ हैं। मतिराम के उदाहरण अवश्य मनोहर हैं, उनमें एक प्रकार की सफाई मिलती है जिसका दूसरे कवियों में अभाव है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन उदाहरणों में जितना कवित्व है उतना आचार्यत्व भी; क्योंकि कुछ उदाहरण शिथिल तथा अनुपयुक्त हैं। मतिराम के उदाहरण भले ही अलंकार का ठीक-ठीक रूप उपस्थित न करते हों, परन्तु उनको याद कर लेने को मन विवश हो जाता है।

भूषण : शिवराज-भूषण

(सं०१७३०)

शिवराज भूषण (सं. १७३०)[1] में कई विचित्रताएं हैं, जिनमें से मुख्य है उदाहरणों में वीर भाव के छन्दों को लिखना। यह ग्रन्थ भूषण कवि ने अपने आश्रयदाता तथा उस समय हिन्दू जाति के गौरव महाराज शिवाजी की प्रशंसा में ही लिखा था। आश्रयदाता 'शिवराज' तथा प्रशंसक 'भूषण' दोनों के नामों के उचित संयोग से इस ग्रन्थ का नामकरण हुआ है। शिवराजभूषण में ३८२ छन्द हैं—दोहे तथा कवित्त या सवैये। प्रारंभ में ३० छन्दों में गणेश, भवानी तथा सूर्य की स्तुति के अनन्तर राजवंश, राजवैभव, तथा कविवंश का वर्णन करके प्रतिपाद्य विषय का क्रम चलता है।

सिद्धांत

भूषण ने इस ग्रन्थ की रचना क्यों की, इस प्रश्न का उत्तर वे स्वयं ही दे देते हैं कि शिवराज के चरित्र[2] ने उनको इस रचना की प्रेरणा दी अर्थात् इस ग्रंथ का उद्देश्य अलंकारों का सम्यक् निरूपण नहीं है प्रत्युत शिवाजी के चरित्र का संकीर्तन है। जब तक विश्व में पंचतत्व विद्यमान हैं तब तक (इस ग्रन्थ के सहारे) शिवाजी का यश प्रकाशित[3] रहेगा। इस ग्रन्थ में किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है प्रत्युत कवियों में जिस प्रकार की परम्परा चली आ रही थी उसी का अनुसरण करके भूषण ने इसकी रचना की है।[4]

शिवराजभूषण में अर्थालंकारों के अनन्तर शब्दालंकार हैं, (चित्र अलंकार भी है), संकर का विवेचन है, तब अन्त में 'ग्रन्थालंकार-नामावली' दी गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर १०५ अलंकारों का विवेचन है; उत्तम ग्रन्थों का अनुकरण तो किया ही है कहीं-कहीं अपने मत में भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई[5]। १०५ की इस संख्या में अलंकारों के भेद भी गिना दिये हैं, यदि कवि की बात ही मान लें तो ९९ अर्थालंकार हैं, ४ शब्दालंकार तथा चित्र और संकर। 'ग्रन्थालंकार-नामावली' इस पुस्तक का सबसे हीन भाग है, छन्द

---

(१) सुभ सत्रहसै तीस पर, बुध सुदि तेरसि मान।
भूषण सिव भूषण कियो, पढ़ियौ सुनौ सुजान। ३८०।

(२) सिव चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषण के चित्त।
भांति भांति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त।२९।

(३) पुहुमि, पानि, रवि, ससि, पवन जब लौं रहै अकास।
सिव सरजा तब लौं जियौ भूषन सुजस प्रकास।३८२।

(४) सुकविन हूं की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
भूषण भूषनमय करत, शिवभूषण सुभ ग्रन्थ।३०।

(५) युत चित्र संकर एक सत, भूषन कहे अरु पांच।
लखि चारु ग्रन्थन निज मतो युत सुकवि मानहुं सांच।३७९।

बनाने के लिए भर्ती के शब्दों का योग तथा नामों की तोड़-मरोड़ बहुत खटकती है। 'उपमा-प्रतीप' तथा 'प्रतीप' दोनों की उपस्थिति[1] से दो अलग अलंकारों का भ्रम होता है, 'विशेष' का नाम ३ बार आता है---विशेष, विशेषक, तथा सामान्य-विशेष। सूची में 'अनुगुण' पहिले है तथा 'अतद्‌गुण' पीछे, परन्तु ग्रन्थ में ऐसा नहीं है। सूची में अनुप्रास अलंकार लिखा है, परन्तु पुस्तक में इसके दोनों भेद अलग-अलग माने गये हैं।

ग्रंथ के प्रारंभ में भूषण लिखते हैं कि अलंकारों में उपमा को सबसे उत्तम देखकर सब लोग सर्वप्रथम इसी का वर्णन करते हैं[2]। संस्कृत के आचार्यों ने भी उपमा को सब अलंकारों का शिरोरत्न[3] कहकर इसकी महत्ता स्वीकार की है, और प्रायः सभी ने अर्थालंकारों के आदि में ही इसका विवेचन किया है। संभव है भूषण का भी आशय उपमा अलंकार को सर्वोत्तम मानने से यही है कि उपमा सबसे पुराना अलंकार है और अधिकतर अलंकार इससे प्रभावित हैं; उपमा को अनेक अलंकारों का मूल मानना कवि का अभीष्ट नहीं जान पड़ता।

स्वभावोक्ति अलंकार के विषय में भी आचार्यों ने काफी टीका-टिप्पणी की है, कुछ लोगों ने इसमें अलंकारत्व नहीं भी माना, कुछ ने इसका नाम 'जाति' रखा है। भूषण ने इसके दोनों नाम दिये हैं---स्वभावोक्ति तथा जाति; परन्तु किसी सिद्धान्त के प्रति झुकाव नहीं दिखलाई पड़ता।

मतिराम का ऋण

यदि ललित-ललाम तथा शिवराजभूषण का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो कम से कम एक-चौथाई अलंकारों के लक्षण एक ही शब्दावली में मिलते हैं। कुछ लक्षण तो भूषण ने अपने भाई मतिराम से ज्यों के त्यों ही ले लिये हैं। नीचे कुछ ऐसे लक्षण देखिए जिनकी शब्दावली का स्वरूप तथा क्रम उधार लिया हुआ ही नहीं चुराया हुआ भी है:---

(क) जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
जाकी समता दीजिए, ताहि कहत उपमान॥ (मतिराम)
जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
जाकी सरवरि कीजिए, ताहि कहत उपमान॥ (भूषण)

(ख) जहां एक उपमेय कौं, होत बहुत उपमान।
तहां कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान॥ (मतिराम)
जहां एक उपमेय के, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान॥ (भूषण)

(ग) जहां और संका भए, करत झूठ भ्रम दूरि।
भ्रान्तापह्‌नुति कहत हैं, तहां सुकवि मति भूरि॥ (मतिराम)

---

(१) उपमा अनन्वै कहि बहुरि, उपमा-प्रतीप प्रतीप।३७१।

(२) भूषण सब भूषननि में, उपमहि उत्तम चाहि।
याते उपमहि आदि दै, बरनत सकल निबाहि।३१।

(३) अलंकार-शिरोरत्नं, सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥ (राजशेखर)

संक और को होत ही, जहं भ्रम कीजत दूरि ।
भ्रान्तापह्नुति कहत हैं, तहं भूषन कवि भूरि ॥ (भूषण)

(घ) जहां और की संक तें, सांच छपावत बात ।
छेकापह्नुति कहत हैं, तहां बुद्धि अवदात ॥ (मतिराम)
जहां और को संक करि, सांच छपावत बात ।
छेकापह्नुति कहत हैं, भूषन कवि अवदात ॥ (भूषण)

(ङ) सदृश वाक्य जुग अर्थ को, जहां एक आरोप ।
बरनत तहां निदर्शना, कविजन मति अति चोप ॥ (मतिराम)
सदृश वाक्य जुग अर्थं को, करिए एक अरोप ।
भूषन ताहि निदर्सना, कहत बुद्धि वै ओप ॥ (भूषण)

(च) जो यौं होय तु होय यौं, जहं संभावन होय ।
संभावन तासौं कहत, विमल ज्ञान मति धोय ॥ (मतिराम)
जु यौं होय तो होय इमि, जहं संभावन होय ।
ताहि कहत संभावना, कवि भूषन सब कोय ॥ (भूषण)

(छ) औरें के गुन-दोष तें, औरे को गुन-दोष ।
बरनत यौं उल्लास हैं, जे पंडित मति कोष ॥ (मतिराम)
एकहिं के गुन दोष तें, औरै को गुन दोस ।
बरनत हैं उल्लास सो, सकल सुकवि मति पोस ॥ (भूषण)

(ज) जहां आपनौ रंग तजि, लेत और को रंग।
तद्गुन तहं बरनन करत, जे कवि बुद्धि उतंग (मतिराम)
जहां आपने रंग तजि, गहै और को रंग।
ताको तद्गुन कहत हैं, भूषन बुद्धि उतंग ॥ (भूषण)

उपर्युक्त लक्षणों में यदि कोई परिवर्तन है तो यही कि मतिराम के दोहों में उनके नाम का वाचक 'मति' शब्द आता है, परन्तु उसके स्थान पर भूषण ने अपना नाम कर दिया है, या कहीं-कहीं व्याकरण का कुछ हेर-फेर है । अक्रमातिशयोक्ति, दीपक, व्याजस्तुति, द्वितीय असंगति, सम, अधिक, तथा भाविक के लक्षणों में भी दोनों कवियों में बहुत थोड़ा ही अन्तर है। लक्षणों में प्रभाव का तो फिर कहना ही क्या है ?

नकल करने पर भी भूषण में वह सफाई नहीं है जो मतिराम में है, कारण बहुत से हो सकते हैं, जिनमें से मुख्य भूषण के काव्य का अक्खड़पन है। उल्लेख अलंकार के लक्षण में उल्लेख शब्द तीन बार आकर अरुचिकर बन जाता है:—

कै बहुतै, कै एक जहँ, एक वस्तु को देखि ।
बहु विधि करि उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेख ॥

इसी प्रकार 'भूषण' शब्द का अतिप्रयोग भी पाठक के मन को विचलित कर देता है— कहीं यह कवि का नाम है, कहीं अलंकार का, और कहीं केवल भरती का।

जयदेव का ऋण :

संस्कृत ग्रंथों में से भूषण पर सबसे अधिक प्रभाव जयदेव के चन्द्रालोक का है। भूषण ने कुछ ऐसे अलंकार लिखे हैं जो चन्द्रालोक में तो हैं परन्तु दूसरे समसामयिक ग्रन्थों में नहीं हैं; जैसे प्रतीपोपमा, ललितोपमा, भाविकछवि। प्रतीपोपमा तथा प्रतीप चन्द्रालोक में अलग-अलग माने गये हैं, परन्तु हिन्दी के लेखकों ने कुवलयानन्द की बात मानकर प्रतीपोपमा को उड़ा दिया और प्रतीप के कई भेद कर दिये। भूषण ने वर्णन तो इस प्रकार किया है मानो कुवलयानन्द के अनुकूल हो परन्तु नाम प्रतीपोपमा भी दे दिया है[1] (और सूची में प्रतीप तथा प्रतीपोपपमा दो नाम अलग-अलग[2] हैं), जिसका लक्षण चन्द्रालोक से ही अनूदित है:—

जहं प्रसिद्ध उपमान को, करि बरनत उपमेय।
विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता ॥

ललितोपमा भी चन्द्रालोक का है; भूषण ने लक्षण में जयदेव का अनुवाद ही दे दिया है:—

जहं समता को दुहुन की, लीलादिक पद होत।
ताहि कहत ललितोपमा, सकल कवित्त के गोत ॥
उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा।

भूषण और भी आगे बढ़े और 'लीलादिक' पद की व्याख्या भी कर दी—यह बतला दिया कि कौन-कौन से पद 'लीलादिक' के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं:—

बहसत, निदरत, हंसत जहं, छवि अनुहरत बखानि।
सत्रु मित्र इमि औरऊ, लीलादिक पद जानि ॥५८॥

भाविक अलंकार तो सबने लिखा था परन्तु भाविकछवि केवल चन्द्रालोक में ही मिलता है। भूषण ने अपने लक्षण को जयदेव से अनुवाद करके लिखा है[3], परन्तु उदाहरण में भेद है—जयदेव ने दूर स्थित नायिका के हृदय में नायक का निवास बतलाया है, भूषण ने शिवाजी के दूरस्थित सैनिकों की सूरत को सूरतनगर में दिखला दिया है।[4]

अनुमान अलंकार जयदेव ने वहां माना है जहां कार्य से कारण का अनुमान किया जावे, भूषण ने यह दो प्रकार का बतलाया है—एक, जहां कार्य से कारण का ज्ञान है; दो जहां कारण से कार्य का ज्ञान हो। प्रथम भेद का उदाहरण जयदेव के उदाहरण से प्रोत्साहित है:—

---

(१) तहं प्रतीप उपमा कहत, भूषन कविता प्रेय ।४१।

(२) उपमा अनन्वै कहि बहुरि, उपमा प्रतीप प्रतीप ।३७१।

(३) जहं दूरस्थित वस्तु को, देखत बरनत कोय ॥
देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः ॥

(४) त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात् पंचेषुरीक्ष्यसे।
रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सैनिक सूरति सूरति घेरी ॥

अस्ति किंचिद्, यद् अनया मां विलोक्य स्मितं मनाक् ।३६।
चित्त अनचैन, आंसू उमगत नैन देखि,
बीबी कहैं बैन मियां कहियत काहे नै ।
सिवाजी की संक मानि गए हौ सुखाय तुम्हें
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहि नै ।।३५०।।

विरोध तथा विरोधाभास भी भूषण ने जयदेव के अनुसार ही दो अलग अलंकार माने हैं, लक्षणों में ज्यों-का-त्यों अनुवाद है:—

(क) विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु ।।
द्रव्य क्रिया गुन में जहां, उपजत काज विरोध ।।
(ख) श्लेषादिभू-र्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता ।।
जहं विरोध सो जानिये, सांच विरोध न होय ।।[1]

जयदेव ने कारणमाला अलंकार के प्रसंग में गुम्फ शब्द का प्रयोग किया था, फलस्वरूप कुछ कवियों ने गुम्फ ही इस अलंकार का नाम मान लिया; भूषण ने भी इसको गुम्फ ही कहा है।

शिवराजभूषण के बहुत-से लक्षण भी चन्द्रालोक के लक्षणों से अनूदित हैं। निम्नलिखित अलंकारों से इस मत की पुष्टि होगी :—

(क) उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।।
जहां दुहुन की देखिए, सोभा बनति समान ।।
(ख) सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरंजनः ।।
वस्तुन को भाषत जहां, जनरंजन सहभाव ।।
(ग) विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः ।।
जहां करत हैं जतन, फल चित्त चाहि विपरीत ।।
(घ) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।।
जहं जोरावर सत्रु के, पक्षी पै कर जोर ।।
(ङ) परिणामोऽन्ययोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति ।।
जहं अभेद कर दुहुन सों, करत और स्वे काम ।।
(च) वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।।
वाक्यन को जुग होत जहं, एकै अरथ समान ।।
(छ) वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना ।।
सदृश वाक्य जुग अर्थ को, करिए एक अरोप ।।

इस प्रकार के दूसरे लक्षणों में अनुवाद भी है, परन्तु हमने केवल ये प्रसंग लिये हैं जिनमें इतना अधिक अनुकरण है कि छायामात्र कहकर भी सन्तोष नहीं किया जा सकता।

---

(१) भूषण का लक्षण अधूरा है, इसमें आभास के आधार पर विचार ही नहीं किया गया, परन्तु उदाहरण श्लेष पर ही आश्रित है।

शब्दालंकार, चित्र तथा संकर

भूषण ने शब्दालंकारों का भी विवेचन किया है, अर्थालंकारों के अनन्तर उन्होंने शब्दालंकारों का नया प्रसंग उठाया है[1]। अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र का वर्णन है। अनुप्रास के दो भेद छेक तथा लाट हैं; छेकानुप्रास के ८ उदाहरण हैं, और लाटानुप्रास का केवल एक—उपभेदों की चर्चा नहीं है; छेक के भीतर ही वृत्त्यनुप्रास भी समा गया है। लक्षण उपयुक्त नहीं है। यमक का लक्षण है—**"भिन्न अरथ फिरि-फिरि जहां, ओई अच्छर वृन्द"**, परन्तु उदाहरण से ज्ञात होता है कि अर्थहीन पदों की आवृत्ति में भी भूषण यमक अलंकार मानते थे। पुनरुक्तवदाभास को भूषण ने यों ही चलता कर दिया है। ध्यान रखना होगा कि कुवलयानन्द में शब्दालंकार नहीं हैं, चन्द्रालोक में कुछ का वर्णन है परन्तु पुनरुक्तिवदाभास वहां भी नहीं है। काव्यप्रकाशकार ने इसको शब्द का भी माना है तथा शब्दार्थ उभय का भी, साहित्यदर्पण में इसको इतना महत्त्व मिला कि इसका विवेचन सबसे पहिले किया गया। भूषण का लक्षण साहित्यदर्पण से ही प्रभावित जान पड़ता है:—

भासति है पुनरुक्ति सी, नहिं निदान पुनरुक्ति ।३६५।
आपाततो यदर्थस्य, पौनरुक्त्यन्यावभासनम् ।१०।२।

भूषण के प्रथम चरण तथा विश्वनाथ के द्वितीय चरणमें साम्य देखिए —
"भासति है पुनरुक्ति-सी", और **"पौनरुक्त्यावभासनम्"**।

चित्र का लक्षण नहीं दिया, और केवल एक भेद कामधेनु का नाम लेकर अन्य का संकेत भर कर दिया है। भूषण ने कामधेनु भेद को ही क्यों मुख्य माना, यह कहना कठिन है; प्रायः कवियों ने पद्मबन्ध, खड्गबन्ध आदि को मुख्य स्थान दिया है।

अपनी श्रेणी के दूसरे कवियों के समान भूषण भी संकर का यथार्थ स्वरूप न समझते थे; **"भूषण एक कवित्त में भूषण होत अनेक"** द्वारा तो लक्षण दिया गया है और संकर और संसृष्टि का भेद नहीं बतलाया गया। उदाहरणों में अलंकार तिलतन्दुलन्याय से मिले हुए हैं, नीरक्षीर-न्याय से नहीं; इसलिए भूषण के उदाहरण संकर के न होकर संसृष्टि के हैं।

अर्थालंकार

शिवराजभूषण में अर्थालंकार ही मुख्य हैं, परन्तु ग्रन्थ का आकार बड़ा होते हुए भी विवेच्यमान अलंकारों की संख्या अधिक नहीं है। समसामयिक ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें युक्ति, प्रतिषेध, मुद्रा, विधि, अल्प, ललित, प्रस्तुतांकुर, सार, कारकदीपक, विकस्वर, सूक्ष्म, रत्नावली, गूढोत्तर, गूढोक्ति तथा विवृतोक्ति—ये१५अलंकार कम हैं। जान पड़ता है कि भूषण ने कुवलयानन्द को नहीं देखा, अन्यथा प्रस्तुतांकुर जैसे अलंकार को वे न भूलते। भूषण की सूची का मेल चन्द्रालोक से ही अधिक है, परन्तु जो सार तथा विकस्वर चन्द्रालोक में है, वे यहां न आ सके। अल्प, कारकदीपक, गूढोक्ति, प्रस्तुतांकुर, प्रतिषेध, मुद्रा, युक्ति,

---

(१) **अब शब्दालंकार ये, कहियत मति अनुसार ।३५२।**

रत्नावली, ललित, विधि तथा विवृतोक्ति—ये ११ अलंकार ऐसे हैं जो न चन्द्रालोक में हैं न शिवराजभूषण में, परन्तु कुवलयानन्द के प्रभाव से हिन्दी के अन्य ग्रन्थों में इनको स्थान मिला है।

अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अतिशयोक्ति के पूरे भेद भूषण ने नहीं लिखे। यह भी चन्द्रालोक का ही प्रभाव होगा। जयदेव ने अप्रस्तुतप्रशंसा का जो लक्षण दिया था, भूषण ने उसका अनुवाद मात्र कर दिया है (जो सदोष है), और उदाहरणों में केवल कार्यकारण निबन्धना का वर्णन कर दिया है, चन्द्रालोककार के अभिप्राय को समझने का यहां प्रयत्न नहीं है। सम्बन्धातिशयोक्ति तथा असम्बन्धातिशयोक्ति को न लिखना किसी सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता।

ध्यान दो और अर्थालंकारों पर जाता है—मालोपमा तथा सामान्यविशेष। मालोपमा तो मतिराम से ही गई होगी; आश्चर्य यह है कि रसनोपमा भी क्यों न ले ली—शायद जयदेव का प्रभाव हो। सामान्यविशेष ही एकमात्र नया अलंकार लगता है, परन्तु लक्षण तथा उदाहरण से जान पड़ता है कि यह अप्रस्तुतप्रशंसा का ही एक भेद, 'विशेष-निबन्धना' कहा जा सकता है :—

कहिबे जहं सामान्य है, कहै जु तहां विशेष। (मतिराम)
सामान्यं वा विशेषतः। (साहित्यदर्पणः)

यद्यपि लक्षण स्पष्ट नहीं है फिर भी इस लक्षण का अर्थ यह होगा कि जहां सामान्य के अभिप्राय से विशेष का कथन किया जाय—रघुवंशियों का वर्णन करते हुए कहा जाय कि राम ने अमुक-अमुक महान् कार्य किये, रघुवंशी सामान्य है तथा राम विशेष। यदि इस अलंकार का यही लक्षण है तो यह कार्य लक्षणा शब्दशक्ति से भी हो सकता है इसलिए यह अलंकार व्यर्थ है। उदाहरण से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता।

अलंकारों के उदाहरण

यदि लक्षणों पर विचार न करें तो भूषण का कवित्व प्रशंसनीय है, जितने मधुर उदाहरण मतिराम ने बनाये थे उतने ही अथवा उनसे भी अधिक ओजस्वी उदाहरण भूषण के हैं। यदि उदाहरणों की उपयुक्तता पर विचार करेंगे तो निराशा ही होगी। भूषण का वह कवित्त जो मालोपमा का उदाहरण है और जिसके कारण भूषण भूषण बने थे उसका भी अन्तिम चरण सदोष है, क्योंकि 'तेज तम अंस पर'[1] कहने से यह अर्थ है कि 'तेज तम के एक अंश पर ही विजयी है' और यह कथन शिवाजी का प्रशंसक न रहकर म्लेच्छवंश का प्रशंसक हो जावेगा। इसी प्रकार उपमा के उदाहरण में औरंगजेब की हीनता प्रदर्शित करते हुए भी भूषण उसको कृष्ण की उपमा दे गये हैं:—

मिलतहिं कुरुख चकत्ता को निरखि कीन्हों
सरजा, सुरेस ज्यों दुचित ब्रजराज को ॥३४॥

भ्रम अलंकार का भूषण ने लक्षण लिखा है कि अन्य बात में अन्य बात का भ्रम ही

(१) **तेज-तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं।**

भ्रम अलंकार है। वे यह कहना भूल गये कि यह अलंकार सादृश्यमूलक है अत: भ्रम का आधार रूप-सौन्दर्य है और उपमेय-उपमान भाव पर इसकी स्थिति निर्भर है। उदाहरण में शत्रु-स्त्रियां दूसरे नवाबों की दुर्गति की बात सुनकार अपने पति की सुरक्षा में भ्रम करने लगती हैं (छंद संख्या ७७)।

प्रत्यनीक अलंकार का लक्षण है प्रबल शत्रु पर बस न चलने के कारण उसके पक्षवालों पर अत्याचार करना। भूषण का प्रथम उदाहरण उपयुक्त है, उसमें शिवाजी का कुछ बिगाड़ने में असमर्थ आलमगीर अपने राज्य के हिन्दुओं को तंग करता है। परन्तु दूसरे उदाहरण (छन्द २५९) में शिवाजी की कुछ हिन्दू राजाओं पर विजय का वर्णन है। यदि यह मान लिया जाय कि यहां प्रत्यनीक अलंकार का आधार है औरंगजेब से न लड़कर उसके सहायक हिन्दू राजाओं पर शिवाजी का आक्रमण, तो भी इसमें आश्रयदाता शिवाजी की प्रशंसा नहीं प्रत्युत निन्दा होती है और वास्तविक चढ़ाई आदि के वर्णन से अपेक्षित चमत्कार की क्षति होती है क्योंकि प्रत्यनीक में वास्तविक युद्ध न होकर चमत्कारपूर्ण आक्रमण का कथन होता है।

शिवराजभूषण के कुछ उदाहरण निश्चय ही सुन्दर हैं, उनमें रस की विशेषता के साथ-साथ विषय का स्पष्टीकरण भी है:––

(क) परिसंख्या––शिवाजी की सफल प्रशंसा भी है:––

कंप कदली मैं, वारि-बुंद बदली मैं, सिवराव अदली के राज मैं यों राजनीति है।

(ख) विषम अलंकार के सम्बन्ध में कोपाग्नि से सुरक्षा का साधन है मुख में तिनका दबाना :––

साहि-तनै तव कोप-कृसानु तें बैरि गये सब पानिप वारे।
एक अचंभव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥१८२॥

(ग) सहोक्ति––

नैनन तें नीर धीर छूटयो एक संग, छूटयो
सुख-रुचि मुख-रुचि त्यों ही बिन रंग ही।

(घ) रूपाकातिशयोक्ति––

कनक-लतानि इंदु, इंदु माहि अरविंद, झरैं अरविंदन तें बुंद मकरंद के।
(कनकलता = कामिनी, इन्दु = मुख, अरविन्द = नेत्र, मकरंद = अश्रुबिन्दु)

(ङ) उपमा––

ग्रीषम के भानु सो खुमान को प्रताप देखि तारे सम तारे गये मूंदि तुरकन के॥

(च) काव्यार्थपत्ति––शिवाजी ने अपने पराक्रम से दिल्ली को तहस-नहस कर दिया तो यवनों की बेगमें उनको समझाती हैं कि शिवाजी से वैर मत करो। उसने दिल्ली तक को मसल दिया है तुम उसके सामने क्या चीज हो:––

सयन मैं साहन की सुंदरी सिखावैं ऐसे,
सरजा सौं बैर जनि करौ महाबली है।

जाहि देत दंड सब डरिकै अखंड सोई
दिल्ली दलमली तौ तिहारी कहा चली है ॥

(छ) चंचलातिशयोक्ति---शिवाजी के आतंक का वर्णन:---

'आयो, आयो' सुनत ही, सिव सरजा तुव नांव ।
वैरि-नारि दृग-जलन सौं, बूड़ि जाति अरि-गांव ॥

(ज) अपन्हुति---शिवाजी के आतंक से भयभीत शत्रु-नारियां वर्षा को भी शिवा की सेना समझ लेती हैं:---

चमकती चपला न, फेरत फिरंगै भट,
इन्द्र को न चाप, रूप बैरख समाज को ।
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न बाजिबो है दुन्दुभि दराज को ।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं
पिय भजौ, देखि उवौ पावस के साज को ।
घन की घटा न, गज-घटनि सनाह साज,
भूषन भनत आयो सेन सिवराज को ॥

मूल्यांकन

बीर रस से ओतप्रोत कवि भूषण जिस उद्देश्य से शिवराजभूषण लिखने बैठे थे निश्चय ही उसमें उनको सफलता मिली है---इस पुस्तक में शिवाजी का यश सर्वत्र फूटा पड़ता है। भूषण कवि थे आचार्य नहीं, और कवि होकर वे कलियुगी राजाओं के विलासी गुणों से संतुष्ट न रह सकते थे इसलिए वाणी को उस स्त्रैण वातावरण से निकालने में ही उनका गौरव[1] है, उसको सजाकर लम्पट वातावरण में नचाना उनको न सुहाया; उनकी सरस्वती आभूषणों के प्रति जागरूक नहीं है और यद्यपि वह सामयिक उपहारों की अवहेलना नहीं कर पाई फिर भी उनसे अपने शरीर को सजाने की कला उसमें न मिलेगी। भूषण के लक्षण निर्दोष नहीं हैं, और उनके कुछ ही उदाहरण उपयुक्त हैं। "वास्तव में भूषण अलंकारों के भारी आचार्य न होकर काव्योत्कर्ष में महान हैं; आचार्यत्व में मतिराम की विशेषता है।"[2]

---

(१) भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन पाय नसानी ।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा-सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥

(२) भूषण-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४४

कुलपति मिश्र : रस-रहस्य

(सं० १७२७)

जयपुराधीश महाराज रामसिंह के आश्रय में "रस-रहस्य" नामक ग्रंथ की रचना सं. १७२७ में [1] आगरानिवासी [2] पं. कुलपति मिश्र ने की । रस-रहस्य में मंगलाचरण के अनन्तर राजवर्णन, सभावर्णन, काव्यवर्णन, काव्यप्रयोजन, काव्य के कारण तथा भेद आदि हैं । फिर रसलक्षण है, जिसमें लेखक ने अभिनवगुप्ताचार्य के मत का नामपूर्वक उल्लेख किया है। अन्त में दोष, गुण तथा अलंकार का निरूपण है। इस प्रकार 'रस-रहस्य' काव्यशास्त्र का पूर्ण ग्रंथ बन जाता है; अवश्य ही इसमें साहित्य-दर्पण के समान दृश्य काव्य की विस्तृत विवेचना नहीं की गई।

रस-रहस्य तथा काव्य-प्रकाश

ग्रंथ के अन्त में उपसंहार करते हुए कुलपति मिश्र ने कहा है कि मम्मट ने कविता के जितने साजों [3] का वर्णन किया है उन सब का कथन इस ग्रंथ में भाषा के माध्यम से किया गया है। इस कथन में 'साज' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—(क) अलंकार, (ख) अंग। कुलपति का अभिप्राय यह हो सकता है कि इस ग्रंथ में अलंकार-निरूपण उन्होंने मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर किया है ; अलंकारों की संख्या तथा क्रम आदि की दृष्टि से यह कथन ठीक भी जान पड़ता है। और कुलपति का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि उनके ग्रंथ में काव्यप्रकाश के आधार पर काव्यांगों का निरूपण है; यह कथन भी सत्य से दूर नहीं है—काव्यप्रकाश के ही अनुसार रसरहस्य में काव्य के 'प्रयोजन-कारण-स्वरूप' के द्वारा ही विषय का प्रारम्भ होता है और अर्थालंकारों के साथ ग्रंथ की परिसमाप्ति हो जाती है ।

उपर्युक्त कथन को पहिले अर्थ [4] में लेना अधिक उचित है। क्योंकि अलंकार-विषय को दृष्टि में रखकर दोनों आचार्यों में अधिक भेद नहीं जान पड़ता। दूसरे अर्थ में भेद भी है। काव्यप्रकाश दस उल्लासों का ग्रंथ है, रस-रहस्य केवल ८ वृत्तांतों का; काव्य-प्रकाश में शब्दालंकार के लिए नवम उल्लास अलग लिखा गया है, रस-रहस्य में नहीं; काव्यप्रकाश में अलंकार दोष भी दिये हुए हैं, रस-रहस्य में नहीं ; काव्यप्रकाश के प्रथम ६

---

(१) संवत् सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस ।
कातिक बदि एकादशी, बार बरनि बागीस ॥

(२) बसत आगरे आगरे, गुनियन की जहं रास ॥

(३) जिते साज हैं कवित के, मम्मट कहे बखानि ।
ते सब भाषा में कहे, रस-रहस्य में आनि ॥

(४) साज (=अलंकार) का अन्यत्र भी प्रसंग है:—
प्रथम शब्द याते कहैं, प्रथम शब्द के साज ॥

उल्लासों की सामग्री को रस-रहस्य के केवल ५ वृत्तांतों में रख दिया गया है। काव्य-प्रकाश का अनुकरण रस-रहस्य में मिलता अवश्य है, परन्तु यह उसका अनुवाद नहीं है, और न मम्मट की हर एक बात को कुलपति ने ज्यों-का-त्यों मान ही लिया है।

कुलपति के काव्यसिद्धान्त

पुस्तक के नाम से जान पड़ता है कि कुलपति ने रस-रहस्य की रचना रस-विवेचन के उद्देश्य से की होगी, परन्तु सत्य यह नहीं है—'रस-रहस्य' में रस-विवेचन मात्र के स्थान पर काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन है। और क्योंकि उन काव्यांगों में मुख्य या आधार-भूत रस ही है, इसलिए प्राधान्य को दृष्टि में रखकर इस पुस्तक का नाम 'रस-रहस्य' रख दिया गया है। कहने का अभिप्राय यह कि कुलपति मिश्र काव्य में रस को ही मुख्य स्थान देते हैं—वे रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इस निष्कर्ष का समर्थन इस बात से भी होता है कि कुलपति ने मम्मट के काव्यप्रकाश को अनुकरणीय समझा है। साथ ही ध्यान रखना होगा कि रस को काव्य में मुख्यता देकर उसका निरूपण पहिले है और अलंकार का सबसे अन्त में केवल एक अध्याय में; और सभी अंगों का विवेचन करने के उपरान्त सबसे अन्त में, मानो उपेक्षा की भावना से, कुलपति ने लिखा है कि अब अलंकार–विषय शेष है उसका विवेचन भी सुन लीजिए:—

अब अवसर सुनिये बहुत अलंकार सिरमौर।[1]

ध्यान दो शब्दों पर जाता है, 'बहुत', 'सिरमौर'। 'अलंकार सिरमौर' यदि एक समस्त पद बन जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि "अलंकारवादियों द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकारों में से केवल मुख्य-मुख्य अलंकारों का विवेचन सुनिए"—मम्मट के आधार पर कुलपति ने केवल अत्यावश्यक अलंकारों का ही विवेचन किया है। 'बहुत' शब्द वाक्या-लंकार में भी प्रयुक्त हो सकता है; 'अलंकार-सिरमौर' का विशेषण भी हो सकता है; और पूरे पद "बहुत अलंकार सिरमौर" का यह अर्थ भी लेना असंगत नहीं कि "बहुत से अलंकारों में से सिरमौर अलंकारों का विवेचन"। अस्तु, सभी दृष्टियों से कुलपति रसवादी ठहरते हैं।

शब्दालंकार विषय का विवेचन करते हुए कुलपति ने लिखा है:—

जमक, चित्र, अरु श्लेष में, रस को नाहि हुलास।
यातें याके स्वल्प ही, बरनें भेद प्रकाश ॥४४॥

विवेच्यमान ६ शब्दालंकारों में से वक्रोक्ति, अनुप्रास, तथा पुनरुक्तवदाभास में तो आचार्य ने मौन द्वारा रसत्व को स्वीकार किया है परन्तु यमक, चित्र तथा श्लेष में रस का हुलास भी नहीं माना। प्रश्न यह है कि अलंकारों में रस की गंध (हुलास) से क्या अभिप्राय है। काव्य में, रसवादी दृष्टिकोण से, अलंकार की स्थिति तो 'अस्थिरा' है; जो काव्य है उसमें उसका प्राण रस तो होगा ही, अलंकार नहीं भी हो सकता—अलंकार

(१) तुलना कीजिए:—
गुणविवेचने कृतेऽलङ्कारा: प्राप्तावसरा इति सम्प्रति ..(काव्यप्रकाश)
अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह।　　(साहित्यदर्पण)

काव्यांग होते हुए भी काव्य का आवश्यक अंग नहीं है। ऐसा काव्य या काव्याभास भी हो सकता है जिसमें अलंकार तो हो परन्तु रस का गंध भी न हो। अर्थालंकार तथा शब्दालंकार में से शब्दालंकार में रसहीनता का अधिक भय है क्योंकि शब्द का चमत्कार बिलकुल बाहरी है। शब्दालंकार में भी वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास तो उक्ति पर निर्भर हैं, अनुप्रास गुण का सहायक होकर रस का स्थिर सहायक बन सकता है, परन्तु शेष तीन अलंकारों का उपयोग रस, व्यंग्य तथा उक्ति के लिए नहीं हो पाता। चित्र को कष्टकाव्य[1] कहकर मम्मट ने भी इसका संक्षिप्त ही वर्णन किया था, यमक का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया है और 'प्राच्य' आचार्य जहां इसमें पूरा अध्याय लगा देते थे वहां नव्य रसवादी आचार्य इसका दिङ्मात्र ही परिचय दिया करते हैं, श्लेष से यहां कुलपति का अभिप्राय 'शब्दश्लेष' का ही है अर्थश्लेष का नहीं—अर्थश्लेष में रस का निषेध उन्होंने नहीं किया। रसवादी आचार्य अलंकार को इस दृष्टि से भी देखते थे कि वह रसप्रकर्षक है या नहीं,और यदि वह रसप्रकर्षक न होता था तो उसको प्रोत्साहन न देते थे; कविराज विश्वनाथ ने प्रहेलिका का इसी आधार पर खंडन किया था—

रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा ....॥

[प्रहेलिका अलंकार (रस प्रकर्षक) नहीं है, क्योंकि यह रस का बाधक है; इसमें उक्ति की विचित्रता ही रहती है (रस का लेश नहीं)।]

कुलपति की अलंकार-विषयक मान्यताएं तीन हैं—(१) अलंकार रसोत्कर्ष का विधायक होना चाहिए, (२) अलंकार कथन की प्रणाली (उक्ति-भेद) का ही नाम है; (३) उपमा अलंकार की शिरोमणि (सिर-मौर) है। पहिली मान्यता का प्रत्यक्ष कथन नहीं मिलता, परन्तु, जैसा कि ऊपर स्पष्ट हो चुका है, कुलपति के मत में कुछ अलंकारों में रस का संपर्क रहता है कुछ में नहीं, जिनमें रस की गंध नहीं पाई जाती उन यमक, चित्र तथा श्लेष शब्दालंकारों का उन्होंने स्वल्प ही वर्णन किया है। दूसरी मान्यता का संकेत वक्रोक्ति अलंकार के प्रसंग में इस दोहे से मिलता है:—

उक्ति-भेद तें होत हैं, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति यातें कही, द्वै विधि प्रथम बखानि॥

उक्ति के संबंध में यह कथन किसी भी अर्थ में कवि की अपनी सूझ नहीं है। काव्य-मात्र का शास्त्र तथा इतिहास से व्यवच्छेदक धर्म उक्ति ही है—शास्त्र में शब्द प्रधान होता है, इतिहास में अर्थ प्रधान, परन्तु काव्य में उक्ति की ही विशेषता होती है,[2] राजशेखर ने इसीलिए उक्ति-विशेष को ही काव्य[3] कहा है। उक्ति दो प्रकार की हो

(१) सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः......तच्चित्रं काव्यम्। कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। (काव्यप्रकाश)
(२) तेषु उक्तिप्रधानं काव्यम्।.... शब्दप्रधानं शास्त्रम्। अर्थप्रधानं इतिहासः।
(३) उक्ति विशेषः काव्यम्। (भोज)

सकती है—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति[१]। जो लोग स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते उनके मत में स्वभावोक्ति में काव्यत्व भी नहीं है; अर्थात् 'काव्य' और 'अलंकार' एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए। भोज ने 'अलंकार' तथा 'उक्ति' का समान अर्थ में प्रयोग किया है[२]—'**त्रिविधः खल्वलंकारवर्गः वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः, रसोक्तिरिति।**' कुलपति ने उक्ति को अलंकार का समानार्थक माना और उक्ति का प्राण वक्रता को, इसीलिए 'वक्रोक्ति' का विवेचन सर्वप्रथम है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को 'अलंकार' का समानार्थक बना दिया था, परन्तु आगे चलकर 'वक्रोक्ति' के दो अर्थ हो गये—अलंकारमात्र, तथा अलंकारविशेष; कुलपति ने उस रहस्य को नहीं समझा और व्यापक अर्थ में लेकर 'वक्रोक्ति' का प्रसंग चलाया, परन्तु उसकी व्याख्या संकीर्णतम (शब्दालंकारमात्र) अर्थ में की। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मत में अलंकार का अस्तित्व तो उक्ति के कारण है परन्तु महत्त्व रस पर निर्भर है—यह भी संभव है कि 'रस' तथा 'उक्ति' को ये एक ही चमत्कार-मात्र अर्थ में समझते रहे हों।

उपमा अलंकार की 'सिर-मौर' है, यह कथन राजशेखर का अनुवाद-सा जान पड़ता है—'शिरोरत्न'[३] के स्थान पर 'सिरमौर' का व्यवहार। 'उपमा' से अभिप्राय उपमामूलक (साम्यमूलक) समस्त अलंकारों का भी है, और उपमा अलंकार का भी। अलंकारों में उपमामूलक अलंकार मुख्य हैं, और उपमामूलक अलंकारों के आधार उपमान तथा उपमेय हैं—इसलिए उपमान तथा उपमेय अलंकारों के प्राण हुए।[४] उपमा अलंकार अखिल अलंकारों का प्राण या आधार नहीं है, वह तो केवल शिरोमणि है:—

सो उपमा सिरमौर।

शब्दालंकार

काव्य के लक्षण में 'शब्द' प्रथम[५] है, 'अर्थ' तदनन्तर; अतएव शब्दालंकार का विवेचन भी प्रथम किया गया है:—

प्रथम शब्द, यातें कहूँ प्रथम शब्द के साज।

मम्मट ने शब्दालंकार के प्रथम विवेचन का कारण नहीं बतलाया, परन्तु नागे-

---

(१) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्च वाङ्मयम्। (दण्डी)

(२) ऑल दीज थ्री आर काइंड्स ऑफ उक्ति एण्ड भोज मीन्स बाइ उक्ति 'पोइटिक एक्सप्रेशन' व्हिच ही काल्स बाइ दि नेम अलंकार औल्सो। फौर टु भोज गुणाज एण्ड रसाज औल्सो आर अलंकार; वस उक्ति मीन्स अलंकार, दि ब्यूटिफुल पोइटिक एक्सप्रेशन एज ए व्होल। (११६) डा. राघवन : भोजस् शृंगार-प्रकाश

(३) अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥ (राजशेखर)

(४) उपमा अरु उपमेय हैं, अलंकार के प्राण।

(५) तत्रानलङ्कृती पुनः क्वापीति काव्यलक्षणे ऽलंकारस्योक्तत्वाच्च काव्यलक्षणे ऽर्थापेक्षया शब्दस्य प्राथम्येन तदलंकारस्यावसरसंगत्या प्रथमं वक्तुमुचितत्वम्..।
(नागेश्वरी टीका)

श्वरी में इसकी कल्पना की गई है, कुलपति ने उसी मत को स्वीकृतिपूर्वक लिख दिया है। वक्रोक्ति का सर्वप्रथम कथन क्यों है, इसका कारण न तो काव्यप्रकाश में है, न टीका में, रसरहस्य में अवश्य है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

प्रस्तुत पुस्तक में वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास, जमक, श्लेष (८ प्रकार), चित्र, तथा पुनरुक्तवदाभास—इन ६ शब्दालंकारों का विवेचन है। वक्रोक्ति के लक्षण तथा काकुवक्रोक्ति के उदाहरण में काव्य-प्रकाश की छाया है। इस अलंकार का प्राण—'अन्येन योज्यते' है, इसके अभाव में चमत्कार वक्रोक्ति का न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का हो जायगा। कुलपति का लक्षणः—

कहै बात औरै कछू, अर्थ करै कछु और ।४।

सदोष है; इसमें मम्मट के **'अन्यथाऽन्येन योज्यते'**[1] की उपेक्षा हो गई है। लक्षण सदोष हो, परन्तु उदाहरण उपयुक्त है। कुलपति ने अनुवाद में शिथिलता कर दी, अथवा उसने मम्मट का अनुकरण करते हुए विश्वनाथ के लक्षण का अनुवाद कर दिया; साहित्यदर्पण के

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यम्, अन्यथा योजयेद् यदि।
अन्यः...... ॥

लक्षण में यदि तृतीय चरण में स्थित 'अन्य' को अन्वय के लिए न भी लिया जाय तो भी काम चल जायगा, अध्याहार द्वारा—**यदि (अन्यः) अन्यस्य अन्यार्थकं वाक्यम् अन्यथा योजयेत्**। कुलपति ने छन्द की शक्ति को परिसीमित देखकर विश्वनाथ का सा ही प्रयत्न किया है, जो हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं; कुलपति अपने लक्षण का अन्वय इस प्रकार करते—(कोई) कछु बात कहै, (किन्तु) और कोई कछु औरै अर्थ करै। परन्तु इस अन्वय के लिए पाठ निम्नलिखित होताः—

कहै बात कछु, औरै अर्थ करै कछु और।

काकु-वक्रोक्ति का उदाहरणः—

क्यों हूं कै बितायै यह बासर बिसासी अब,
पावस हू आयो आली प्रीतम न आइ हैं।

काव्यप्रकाश के **"अलिकुल-कोकिल-ललिते नैष्यति सखि! सुरभिसमयेऽसौ"** की ही छाया में लिखा गया है।

अनुप्रास के रस-रहस्य में छेक, तथा वृत्ति दो भेद काव्यप्रकाश के अनुसार, वर्ण-साम्य के आधार पर, देकर फिर लाटानुप्रास (शब्दसाम्य के आधार पर) दिया गया है। जमक का लक्षण पूर्वार्द्ध में मम्मट का अनुकरण दिखाता है, उत्तरार्द्ध स्वतन्त्र है :—

अर्थ होय भिन्नै, जहां शब्द एक अनुहार ॥
अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः॥

अन्वय इस प्रकार होगा—

'जहां शब्द एक अनुहार (होय) (यदि) अर्थ होय (तौ) भिन्नै (होय)।

---

(१) **यदुक्तं अन्यथा वाक्यं, अन्यथा अन्येन योज्यते ॥७८॥**

श्लेष का प्रकरण मम्मट के सूत्र से अग्रसर है, मम्मट ने सूत्र में 'अष्टधा' तो कह दिया है, परन्तु वर्ण पद-लिंग भाषा प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति वचन के भेद कारिका (व्याख्या) में ही स्पष्ट किये हैं। कुलपति का भेदक्रम न मम्मट के अनुसार है, न विश्वनाथ के अनुसार; कदाचित् छन्द की सुविधा से ही रखा हुआ है।

चित्र अलंकार में ४ भेद हैं—षडंगबंध, गोमूत्रिका, शालधेनु, रंगबरन। पुनरुक्तावदाभास केवल शब्द का ही है, मम्मट के समान शब्दनिष्ठ तथा शब्दार्थोभयनिष्ठ नहीं।

इस प्रकार शब्दालंकार प्रकरण में अलंकारों की संख्या तथा क्रम मम्मट के अनुसार है; भेदों में भेद है—लाटानुप्रास के उतने उपभेद नहीं हैं, श्लेष का नवम भेद कुलपति ने नहीं लिखा, पुनरुक्तावदाभास उभयनिष्ठ नहीं है। यमक, श्लेष, तथा श्लेष का विषय रसरहस्य में संक्षिप्त है; कारण का उल्लेख ऊपर हो चुका है—चित्र की तो, कष्टकाव्य कहकर, मम्मट ने भी उपेक्षा कर दी थी।

अर्थालंकार

यद्यपि कुलपति ने मम्मट का आदर्श अपने समक्ष रखा था, और शब्दालंकार-प्रकरण में वे उससे विभ्रष्ट नहीं हुए फिर भी अर्थालंकार-प्रकरण में तीन तथ्यों पर विचलन लक्षित होता है। (१) अधिक, एकावली, सामान्य, विशेष, संसृष्टि तथा संकर रस-रहस्य में हैं ही नहीं। (२) मम्मट के क्रम को अन्यत्र स्वीकार करते हुए भी प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, भ्रांतिमान् तथा स्मरण को काव्यप्रकाश के क्रमानुकूल नहीं लिखा; (३) मम्मट के 'ससन्देह', तथा 'परिवृत्ति' कुलपति के 'संदेह' तथा 'विनिमय' हैं—'ससन्देह' को विश्वनाथ ने 'संदेह' बना दिया था, और 'विनिमय' नाम के बीज काव्यप्रकाश[1] तथा साहित्यदर्पण[2] दोनों के लक्षणों में मिलते हैं।

उपमा-चक्र

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि कुलपति अलंकारों में उपमा को शिरोरत्न मानते थे, और इसीलिए अर्थालंकार का प्रकरण प्रारंभ करते ही[3] उन्होंने 'अलंकार के प्रान' उपमान और उपमेय का वर्णन कर दिया है। फिर उपमा का लक्षण है:—

शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर।
नहि कलपित उपमान जहं, सो उपमा सिरमौर॥

मम्मट, विश्वनाथ, तथा जयदेव के लक्षण निम्नलिखित हैं:—

(क) साधर्म्यम् उपमा भेदे। (काव्यप्रकाश)

(ख) साम्यं वाच्यम् अवैधर्म्यम् वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। (साहित्यदर्पण)

(ग) उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। (चन्द्रालोक)

---

(१) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः॥११३॥

(२) परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्॥१०५॥

(३) तुलना कीजिए: —उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा। (अलंकार-सर्वस्व)

संस्कृत के इन आचार्यों से स्वतन्त्र कुलपति का मत है। उनके लक्षण में, विश्लेषण करने पर, निम्नलिखित तथ्यों का महत्व प्रतिपादित मिलता है:—

(१) शब्द तथा अर्थ दोनों से समता का कथन।

(२) उपमान अकल्पित।

शब्द तथा अर्थ दोनों के द्वारा समता से क्या अभिप्राय है ? समता का प्रतिपादन दो प्रकार से हो सकता है—केवल अर्थ से, तथा शब्द अर्थ दोनों से (केवल शब्द द्वारा समता का प्रतिपादन संभव नहीं)। अर्थ-मात्र-प्रतिपादित समता व्यंग्य है, वाच्य नहीं; जैसा कि रूपक आदि में होता है। अतः वाच्य समता (वाचक शब्द द्वारा कथित समता, जो उपमा के प्रसंग में अभीष्ट है) शब्द तथा अर्थ दोनों से एक पद एव प्रतिपादित होनी चाहिए। विश्वनाथ ने इसी सत्य का आग्रह 'साम्यं वाच्यम्' द्वारा किया है, और वृत्ति में **'रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्'** लिखकर वाच्यत्व के आग्रह को स्पष्ट कर दिया है। कुलपति का प्रतिपादन सरल तथा सहजबोधगम्य है,उनका लक्षण मम्मट के लक्षण से अधिक वैज्ञानिक है, यहां रूपक से उपमा सहज ही भिन्न लक्षित हो गई।

'अकल्पित उपमान' पद उपमा को उत्प्रेक्षा से अलग करता है। 'चन्द्र-सा सुन्दर मुख' इस वाक्य में चन्द्र उपमान सामान्य धर्म सुन्दरता के लिए जगत्प्रसिद्ध है; अत एव पाठक चन्द्र के समान मुख के सौंदर्य की सहज कल्पना कर सकता है। परन्तु एक और उदाहरण लीजिए; 'मुख पर नेत्र ऐसे सुन्दर लगते हैं जैसे चन्द्र में दो कमल'। यहां उपमान है 'चन्द्र में दो कमल', यह असंभव या कल्पित है; यहां अलंकार उपमा न होकर उत्प्रेक्षा हुआ। कल्पना या संभावना उत्प्रेक्षा का विषय है, उपमा का नहीं। मम्मट ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इसीलिए, उपमा से व्यवच्छेदन करते हुए, **'संभावनमथोत्प्रेक्षा'**··· किया था।

कुलपतिकृत उपमा का लक्षण मननशीलता का परिचायक है, और अपने आप में पूर्ण भी है। रस-रहस्य में श्रौती,आर्थी, पूर्णा तथा लुप्ता उपमा का वर्णन है। लुप्ता त्रिलुप्ता तक है; त्रिलुप्ता के उदाहरण में 'मृगनैनी'का वर्णन काव्यप्रकाश की **'स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना'** से प्रभावित है। मम्मट् ने मालोपमा, तथा रशनोपमा की चर्चा चलाई है, परन्तु वे इन भेदोपभेदों के पक्ष में नहीं हैं '··· **इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात्, उक्तभेदानतिक्रमाच्च।**'[1] विश्वनाथ न इन भदों का स्वतन्त्र वर्णन किया है; कुलपति विश्वनाथ से सहमत हैं। साहित्यदर्पण के समान ही रसरहस्य में उपमा का एक भद एक-देश-विवर्त्तिनी स्वीकार किया गया है; लक्षण यह है:—

एक देश उपमा जहां, अंग मुख्य उपमान।
कछूक पैये शब्द तें, कछू अर्थ तैं जान॥

यह लक्षण विश्वनाथ के लक्षण का अनुवाद सा लगता है; फिर भी विश्वनाथ के

---

(१) **...तेषां परस्परगुणने इयत्ताया वक्तुमशक्यत्वादिति भावः। ननु वैचित्र्यसहस्रसम्भवे ते सर्वेऽपि भेदा अवश्यं वक्तव्याः अन्यथा न्यूनत्वं दोष इत्यत आह पूर्वोक्तोपमाप्रभेदेषु यथासम्भवमेतेषामन्तर्भावान्न न्यूनतेति भावः। (नागेश्वरी)**

'वाच्यत्वगम्यत्वे भवेतां यत्र साम्यस्य' की अपेक्षा 'कछूक पैये शब्द ते, अछू अर्थ तें जान' अधिक बोधगम्य है।

अनन्वय आदि

अनन्वय तथा उपमेयोपमा के अनन्तर प्रतिवस्तूमा है। इसका लक्षण है:—

समतासूचक पद जहां, रहै एक, द्वै भांति।
सो है प्रतिवस्तूपमा, पद-समूह की कान्ति॥

इसमें "पद-समूह की कान्ति" साहित्यदर्पण के "वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः" का छायानुवाद है; और "रहै एक, द्वै भांति" काव्यप्रकाश के "सामान्यस्य द्विरेकस्य.....स्थितिः" का। मम्मट का लक्षण स्पष्ट है—"यत्र एकस्य सामान्यस्य वाक्यद्वये द्विः स्थितिः", परन्तु उसमें उन दो वाक्यों का पारस्परिक संबंध नहीं बतलाया गया, विश्वनाथ ने उसको "वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः" के द्वारा स्पष्ट किया था। कुलपति ने साहित्यदर्पण से अधिक लाभ नहीं उठाया, उनका 'कांति' ही 'गम्यसाम्य' का बोधक माना जा सकता है—परन्तु 'पदसमूह' 'वाक्यद्वय' का समानार्थक नहीं है।

प्रतीप

मम्मट ने प्रतीप के दो भेद किये—उपमान का आक्षेप, तथा उपमान की तिरस्कार-निबंधना उपमेयता[1]। कुलपति ने भी 'निरादर कीजिये,' तथा 'कीजे उपमेव' ये दो भेद दिये हैं, परन्तु इन भेदों से पूर्व प्रतीप का लक्षण 'जहं लघुता उपमान की' भी लिख दिया है; जो जयदेव के 'प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः' का ही अनुवाद है। प्रथम भेद के ३ उपभेद हैं, जिनके क्रमशः उदाहरण हैं :—

(क) कैसे रति समता लहत रानी राधिका की.......
(ख) करौ न गुमान कटाक्षन कौ, कवि काम के बानन ऐसे बखानै।
(ग) चंदन शीतलता करन, गर्व करै जनि चित्त।
तो सम हैं सज्जन वचन, सबको पोषत नित्त॥

द्वितीय उपभेद, किसी न किसी रूप से, साहित्यदर्पण में भी स्वीकार किया गया है कुवलयानन्द के ५ भेदों में से ४ भेद यहां आ जाते हैं, केवल 'कैमर्थ्य'[2] वाला नहीं है। उदाहरणों में भाषा-भूषण का प्रभाव नहीं है—यह कहना कठिन है।

उत्प्रेक्षा तथा रूपक

काव्यप्रकाश में उत्प्रेक्षा के लक्षण में 'संभावना'[3] शब्द का प्रयोग है, साहित्य-दर्पण[4] में भी इसी का अनुकरण है ; इस 'संभावना' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया।

(१) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥
(२) प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्यते।
(३) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।
(४) भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।

कुलपति ने 'संभावना' के स्थान पर व्याख्यात्मक शब्दावली का व्यवहार किया है :—

संशय[1] में जो सांच सो, तेहि विधि को, उपमान ।
अधिक होय उपमेय तें, सो उत्प्रेक्षा जान ।।३४।।

इस लक्षण के दो अंग हैं—

(क) संशय में निश्चितप्रायत्व (सांच-सो)
(ख) उपमान उपमेय से अधिक

प्रथम अंग 'संशय में निश्चितप्रायत्व' काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण की टीकाओं में 'उत्कटकोटिकः सन्देहः'[2] या 'उत्कटकोटिकः संशयः'[3] द्वारा अभिहित है। द्वितीय अंग यद्यपि सभी लक्षणों में गम्य रहा है, तथापि प्रत्यक्ष कथन द्वारा ही चन्द्रालोकगत प्रतीपोपमा[4] से उत्प्रेक्षा को पृथक् करता है—कुलपति का यह प्रयत्न व्यावहारिक तथा मौलिक है, 'इन्दु मानो मुख है' इस कथन में सभी उपकरण प्रस्तुत रहने पर भी अलंकार उत्प्रेक्षा नहीं है।

संदेह के उपरान्त रूपक अलंकार का विषय है। रूपक का लक्षण आधार-ग्रंथ से स्वतन्त्र है। मम्मट ने उपमानोपमेय के अभेद[5] को, तथा विश्वनाथ ने निरपह्नव विषय में रूपितारोप[6] को रूपक बताया था। कुलपति ने साहित्यदर्पण के उपमा के लक्षण[7] तथा वृत्ति[8] से लाभ उठाकर यह लक्षण बनाया है :—

उपमा अरु उपमेय कौ, भेद परै नहिं जान ।
समता व्यंग रहै जहां, रूपक ताहि बखान ।।

इस लक्षण के दो ही अंग हैं—(क) उपमानोपमेय का अभेद (यह मम्मट का ऋण है), (ख) व्यङ्ग्य समता (यह साहित्यदर्पण का वृत्ति से आया है)। 'समता व्यंग' का कथन इस आचार्य की प्रौढ़ता का सूचक है।

रूपक के चार भेद सांग, शुद्ध, परम्परित, तथा मालारूपक बतलाये गये हैं।

---

(१) तुलना कीजिए :—
उत्कटैककोटिकः संशयः सम्भावनम्। संशये हि कोटिद्वयं वर्त्तते। यथा "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इत्यत्र एका कोटिः स्थाणुः, अपरा च कोटिः पुरुषः। यस्मिन् संशये कोटिद्वयमध्ये एकस्याः कोटेः उत्कटत्वं (निश्चितप्रायत्वं न तु निश्चयः) तादृशः संशयः संभावनमुच्यते यथा प्रायेण पुरुषोऽयं भवेदिति सादृश्याद् उपमेयस्य वर्णनीयस्य उपमानत्वेन सम्भावना उत्प्रेक्षा—इत्यर्थः।। (टिप्पणी)
(२) नागेश्वरी
(३) भट्टाचार्य श्री महेश्वर तर्कालंकार की विज्ञप्रिया टीका।
(४) इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ स्यात् प्रतीपोपमा तदा।१४।
(५) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।
(६) रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।
(७) साम्यं वाच्यं अवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।
(८) रूपकादिषु साम्यस्य व्यंग्यत्वम्।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति के भेद मम्मट के ही अनुसार हैं, परन्तु लक्षण देते हुए काव्य-प्रकाश के अध्यवसान[1] तथा साहित्यदर्पण के अध्यवसाय[2] शब्दों को बचा दिया गया है। लक्षण है :—

> अति अभेद जिय राखि जहं, नहि कहिये उपमेव।
> उपमानै कहिये जहां, अतिशय उक्ति सो भेव॥
> कहिये औरै भांति पुनि, जो यों तो यों होय।
> आगे पीछे बरनिये, कारन कारज सोय॥

भेदों के नाम अलग अलग नहीं हैं। प्रथम भेद (भेदऽप्यभेदः) जहां मन में अति अभेद रखकर केवल उपमान का कथन, उपमेय का नहीं—रूपकातिशयोक्ति है। द्वितीय भेद प्रस्तुत का और ही भांति से 'वर्णन' **'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्'** का अनुवाद (अभेदे भेदः) है। तृतीय भेद **'जो यो तो यों होय'** में **'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'** की **'सम्बन्धेऽसम्बन्धः'** छाया है। चतुर्थ भेद **'आगे पाछे बरनिये'** में **'पौर्वापर्यविपर्ययः'** की छाया मिलती है। मम्मट ने चार भेद किये थे, विश्वनाथ ने पांच, जयदेव ने ६ तथा अप्पयदीक्षित ने इस अलंकार के आठ भेद माने हैं।

अन्य अर्थालंकार

कुलपति मिश्र ने अर्थालंकारों में सामान्यतः मम्मट् का ही अनुकरण ठीक समझा है। सामान्य अलंकारों में मतभेद को कोई स्थान भी नहीं था। अलंकार-दोष तथा संकर-संसृष्टि को न जाने क्यों कुलपति ने नहीं लिखा। क्रम सर्वत्र काव्यप्रकाश के अनुसार नहीं है।

लक्षण

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि कुलपति मुख्य तथा बड़े अलंकारों के प्रति सावधान थे और उनके प्रसंग में सर्वत्र साहित्यदर्पण से इनको सहायता मिली है। मम्मट के जिन लक्षणों से भिन्न लक्षण बनाये हैं वे मम्मट की अपेक्षा सरल तथा अधिक व्यावहारिक हैं; ऐसे लक्षण लेखक की प्रतिभा तथा आचार्यत्व के सूचक हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति का प्रसंग यथास्थान आ चुका है, किसी किसी लक्षण में तो मौलिक सूझ भी है। इन लक्षणों की दृष्टि से कुलपति का हिन्दी आचार्यों में ऊंचा स्थान माना जायगा।

उदाहरण

अलंकारों के उदाहरण लक्षणों में ठीक ही बैठ जाते हैं, और उदाहरण अनूदित नहीं हैं, दूसरों की छाया भी कम ही स्थलों पर है। प्रायः उदाहरणों के लिए बड़े छंदों का उपयोग किया गया है, जिनके एक चरण में ही वे पूरे हो जाते हैं:—

---

(१) **निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।**
(२) **सिद्धत्वेऽध्यवसायस्य ....।**

(क) सूर हर्‌यौ तेज कछू वासौं न बसाय, मीत
वाके जान कमलनि की दीपित हरत हैं। (प्रत्यनीक)

(ख) लपटानी हिये चित आई है राधिका,
देखत ही घन दामिनी के। (स्मरण)

मम्मट् ने सारे उदाहरण संस्कृत भाषा के ही नहीं बनाये थे, कुलपति ने भी ब्रज-भाषा से इतर उदाहरण बनाये हैं; परिणाम का उदाहरण मिश्रित भाषा (फारसीनिष्ठ खड़ी बोली) रेखता का है:—

हूं वे मुशताक तेरी सूरत का नूर देख,
दिल भरि पूरि रहै कहने जवाब सों।
मिहर का तालिब फकीर है मिहरबान
चातक ज्यों जीवता है स्वाति वारा आब सों।
तू तो है अयानी यह खूबी का खजाना तिसे
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजिए सबाब सों।
देर की न ताब जान होत है कबाब बोल
हयाती का आब बोलो मुख महताब सों॥

मूल्यांकन

हिन्दी के मध्यकालीन आचार्य मुख्यतः कवि थे, अतः उनकी प्रतिभा का चमत्कार वर्णनात्मक सरस उदाहरण प्रस्तुत कर देने में है; केवल एक दो में ही शुद्ध आचार्यत्व के चिन्ह मिलते हैं। कुलपति मिश्र इन्हीं अपवादों में हैं; वे आचार्य अधिक हैं, कवि कम—उनकी प्रतिभा लक्षणों में जितनी प्रस्फुटित हुई है उतनी उदाहरणों में नहीं; उदाहरणों में सरसता को दृष्टि में रखें तो उनका स्थान बहुत पीछे आता है।

आचार्य दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो वे जो सम्प्रदाय के जन्मदाता हों, वर्गी-करण की प्रणाली निकालें, नये अलंकारों की उद्‌भावना करें, या लक्षणों द्वारा पुराने अलंकारों के क्षेत्र में संकोच-विस्तार पर जोर दें। ऐसा आचार्य बड़ा प्रतिभाशाली होगा, उसमें खंडन-मंडन की विशेष शक्ति होनी चाहिए, वह दूसरों के मत को तो भली भांति समझता ही होगा, व्यक्तिगत स्थापनाओं में उसका अटूट विश्वास होता है। केशव ऐसे ही आचार्य हैं।

आचार्यों की एक दूसरी श्रेणी भी है। इसमें दूसरों का निर्भ्रान्ति ज्ञान अर्जन करके उसे पाठकों के लिए सहज तथा सुबोध बनाने की क्षमता होनी चाहिए। हिन्दी के अधिकांश आचार्य इसी पद के अभिलाषी थे। कुलपति मिश्र का इस वर्ग में बहुत ऊंचा स्थान है; मुख्य मुख्य अलंकारों के लक्षण जितने स्पष्ट वे दे सके उतने अन्य आचार्य नहीं; प्रायः वे संस्कृत आचार्यों से पीछे नहीं रहे, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि के लक्षणों में यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। लक्षण-विषयक प्रतिभा की दृष्टि से वे अपने वर्ग में सर्वोपरि हैं। यदि विराम-चिन्हों का ध्यान रखा जाय, और उचित अध्याहार कर लिया जाय तो उनके लक्षण आज भी लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

कुलपति मिश्र रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, उन पर मम्मट का प्रभाव अधिक है, परन्तु वे काव्यप्रकाश तक ही सीमित नहीं रहे[१]; सहज तथा व्यावहारिक समझ कर दूसरों से भी वे बहुत कुछ ले लेते थे; उनकी मान्यताओं से उनकी प्रतिभा[२] का कुछ आभास मिल सकता है।

---

(१) "आपने अपने ग्रंथ में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के मतों पर विचार किया है।" (मिश्रबन्धु-विनोद, ii)

(२) "रीतिकाल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रस-रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है।" (रामचन्द्र शुक्ल)

देवकवि : भावविलास

(सं० १७४६)

प्रसिद्ध कवि देव या देवदत्त ने काव्यशास्त्र पर दो ग्रन्थ लिखे हैं—'भावविलास', तथा 'शब्दरसायन'। 'भावविलास' उनकी इस विषय की सर्वप्रथम कृति है, जो उनका काव्य-क्षेत्र में प्रथम पदन्यास भी है। अन्तःप्रमाण से ज्ञात होता है कि 'भावविलास' का प्रणयन देव कवि ने अल्पायु[1] में ही किया था; उस समय (१६ वर्ष की आयु में) कवि ने संस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान न प्राप्त किया होगा। अतः भावना के आवेग में, केशव की प्रेरणा से, कवि ने 'भावविलास' की रचना की। इस पुस्तक में भरत[2] का नाम उसी श्रद्धा से लिया गया है जिससे कि भारती का, कवि ने भरत आदि का अध्ययन न किया था।

भावविलास का विषय

भावविलास पांच विलासों का ग्रन्थ है, जिसमें 'सब नायकादि-नायक-सहित, अलंकार वर्णन[3] किया गया है। कवि की रुचि नायक-नायिका में जितनी है, उतनी अलंकार में नहीं; अलंकार तो अंतिम विलास में ही स्थान पा सके हैं। देव का प्रयत्न नायिका नायक आदि की सम्पूर्णता (सब) का है, इसलिए अलंकार-विषय का विस्तार नहीं हो सका।

केशव के समान देव ने भी आदि में अलंकारों के नाम गिना दिये हैं, तदनन्तर उनका 'वर्णन' किया है। देव के समय तक अलंकारों की संख्या एक शत से आगे पहुंच चुकी थी, परन्तु इन्होंने इस पुस्तक में केवल ३९ का ही वर्णन किया है। कारण दो हो सकते हैं। या तो देवकवि अलंकारों की संख्या कम से कम करने के पक्ष में थे, जिसके विपरीत प्रवृत्ति उनके प्रौढ़ ग्रन्थ 'शब्दरसायन' में मिलती है—यदि सिद्धान्त मानकर भावविलास में केवल ३९ अलंकार माने होते तो आगे भी तथैव प्रवृत्ति उपलब्ध होती। या यह सम्भव है कि १६ वर्ष तक देवकवि का अध्ययन कम ही था, इसलिए केशव आदि के प्रभाव तक ही इनका विस्तार रहा। यह कहा जा सकता है कि भावविलास के समय देवकवि के जो विश्वास थे उनमें प्रौढ़ता के साथ पर्याप्त सुधार हो गया, अतः इस ग्रन्थ में अलंकार संख्या कम रही परन्तु आगे चलकर बढ़ गई। यदि ऐसा माना जाय तो भी निष्कर्ष यही है कि भावविलास भावावेग की पुस्तक है स्थिरता की रचना नहीं; १६ वर्ष की आयु इसी ओर संकेत करती है और 'कढ़ी देव-मुख देवता, भावविलास सहर्ष' (सहर्ष=हृदय के उल्लास-स्वरूप देव के मुख से स्वत एव देवी सरस्वती भावविलास के रूप में अवतरित हुई) का भी यही अभिप्राय है।

---

(१) शुभ सत्रह सै छयालसि, चढ़त सोरही वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष ॥

(२) भुवन-मात भारती सुमिरि, भरतादिक ध्याये।

(३) सब नायिकादि-नायक-सहित, अलंकार वर्णन रच्यौ ॥

देवकवि ने ३९ अलंकार गिनाये हैं---स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, संशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, उदात्त, दीपक, अपन्हुति, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, आवृत्तिदीपक, निदर्शना, विरोध, परिवृत्ति, हेतु, रसवत्, ऊर्जस्वल, सूक्ष्म, प्रेम, क्रम, समाहित, तुल्ययोगिता, लेश, भाविक, संकीर्ण, आशिष। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे केवल इतने ही अलंकारों को जानते थे; या शेष अलंकारों का वे इन्हीं ३९ में अन्तर्निवेश कर सकते थे; और ये अलंकार महत्त्व की दृष्टि से भी छांटे हुए नहीं हैं। प्रत्युत कारण यह है कि देव ने इन अलंकारों को ही मुख्य[१] अलंकार समझा है और शेष को वे (भूल से) इनके भेदमात्र समझ बैठे हैं---जो कोई उन अनन्त[२] भेदों को जानना चाहे वह अन्य ग्रन्थों को पढ़ सकता है।

अलंकारविषयक सिद्धान्त

अलंकारों की संख्या गिनाते हुए देवकवि ने लिखा है:---

अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं,
येई पुराननि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और
इनहीं के भेद और विविध बताइए॥

ध्यान देने की पहली बात तो यह है कि इन ३९ अलंकारों में रसवत्, ऊर्जस्वल, प्रेम (प्रेयस्) तथा आशिष जैसे अलंकार भी आ गये हैं---जो महत्त्व की दृष्टि से नगण्य हैं। दूसरी बात यह है कि देव इन अलंकारों को मुख्य मानते हैं, और शेष को इन के ही भेद-प्रभेद; यह सर्वथा उचित नहीं है---प्रतीप, दृष्टान्त, कारणमाला, परिसंख्या, प्रत्यनीक आदि अनेक अलंकार ऐसे हैं जिनको यहां स्थान नहीं मिला, और जो इन ३९ अलंकारों से नितान्त भिन्न भी हैं। तीसरी बात यह है कि यद्यपि 'पुराननि मुनि' से संस्कृत के पुराने आचार्यों का अभिप्राय है फिर भी यह आवश्यक नहीं कि देवकवि ने इनका अध्ययन किया हो। वे हिन्दी के पुराने आचार्य केशव[३] आदि से ही प्रभावित थे। इस समय तक देवकवि ने संस्कृत के आचार्यों का अध्ययन न किया था, उनके समक्ष हिन्दी आचार्य ही थे। जिनमें से केशव को उन्होंने अनुकरणीय समझा, और अन्य विशेषतः समकालीनों से दूर हटते रहे।

केशव ने केवल ३७ अलंकार स्वीकार किये हैं, परन्तु उनके विवेचन में इतने भेदोपभेद आ गये हैं कि पाठक को कोई शिकायत नहीं रहती। देव, केशव का अनुकरण करते हुए भी, इस सूक्ष्मता को हृदयंगम न कर सके। उनके यहां ३९ का अर्थ ३९ ही है। फलतः सौंदर्य की अनेक विधियां भावविलास में अविवेच्य रह गई हैं। संख्या की न्यूनता के साथ-

---

(१) अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं........।

(२) अलंकार ये मुख्य हैं, इनके भेद अनन्त।
आन ग्रन्थ के पंथ लखि, जानि लेहु मतिमन्त॥

(३) सम्भव है केशव के अनुयायी और भी कुछ आचार्य देव से पूर्व हुए हों जिनके विषय में आज इतिहास मौन है।

साथ अन्तर्भाव भी आवश्यक है, जिसके अभाव में शिथिलता ही रहती है, पूर्णता नहीं आ पाती।

देवकवि ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का भेद नहीं किया। वस्तुतः शब्दालंकार का विषय इस पुस्तक में रखा ही नहीं गया। अनुप्रास है ही नहीं—वह अनुप्रास जो रीतियुग का प्राण था, और जिसके बिना देवकवि का एक भी छन्द मन को आकृष्ट न कर सकेगा। श्लेष तथा वक्रोक्ति अर्थालंकारों के बीच रखे हैं। अर्थालंकारों के भी भेदोपभेद नहीं दिये गये—यह भी एक विचित्रता है।

इस बालप्रयत्न में सिद्धान्तों की खोज व्यर्थ है; फिर भी भावविलास के निम्नलिखित वाक्य कवि की प्रवृत्ति तथा झुकाव के द्योतक हैं:—

(क) सुकवि जाति वर्णन करत, कहत सुनत अभिराम।
(ख) सुसमासोक्ति सो जानिये, अलंकार सिरमौर।
(ग) सु वक्रोक्ति सु बरनिये, उत्तम काव्य सुभाइ।

जाति या स्वभावोक्ति अलंकार कहने-सुनने में बड़ा अभिराम लगता है, इस कथन में सिद्धान्त तो नहीं है परन्तु उस मत के बीज हैं जिसका प्रतिपादन 'शब्दरसायन' में किया गया है; देव ने मानो उन आचार्यों का विरोध किया है जो स्वाभावोक्ति को अलंकार ही नहीं मानते; केशव के प्रभाव से इस अलंकार का भावविलास में वर्णन भी सर्वप्रथम ही है। समासोक्ति अलंकारों का शिरोरत्न नहीं है, क्योंकि अलंकारों की माता तो उपमा है; समासोक्ति का उतना महत्व कहां? परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य उक्ति (दे. कुलपति का प्रकरण) पर निर्भर है, उक्ति या तो स्वभावोक्ति होगी या वक्रोक्ति। वक्रतागर्भित प्रत्येक उक्ति वक्रोक्ति है जिसके अन्तर्गत समासोक्ति भी आ जावेगी; इसमें सन्देह नहीं कि समासोक्ति का सौंदर्य बड़ा मनोहर होता है—देव ने इसी अर्थ में इसको 'सिरमौर' कहा है कि व्यवहार का समारोप[1] काव्यसौंदर्य की परम उच्च[2] कोटि है। देव में वक्रोक्ति व्यंग्य का ही दूसरा नाम है; अलंकार की दृष्टि से भी, व्यापक अर्थ में, यह सौंदर्य का प्राण है; भामह ने इसीलिए कहा था कि वक्रोक्ति से अर्थ में विशेष शोभा आ जाती है, इसके बिना कौन सा अलंकार रह सकता है :—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

(काव्यालंकार, २, ६५)

देव के ये समस्त कथन 'उक्तियों' से ही सम्बद्ध हैं, मानो वे उक्ति को ही काव्यसौन्दर्य का प्राण मानते हों।

अलंकारों के लक्षण

बालक देव अलंकारों के स्वरूप को समझते भले ही हों, उनके ठीक-ठीक लक्षण उनकी

---

(१) व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनि।

(२) ध्वनिकार के मत में वाच्यार्थ में उतना स्वाद नहीं आता जितना कि प्रतीयमान अर्थ में।

सामर्थ्य से बाहर का काम था; संस्कृत के आचार्यों का तो प्रश्न ही नहीं आता अपने अनुकरणीय आचार्य केशव को भी वे यथार्थ रूप में उस समय तक समझ न पाये थे। फलतः भावविलास में अलंकारों के लक्षण अपूर्ण तथा संदिग्ध हैं। यदि प्रमुख अलंकारों के लक्षणों की परीक्षा की जाती है, तब भी आलोचक को निराशा ही होती है। उपमा के वर्णन में देवकवि लिखते हैं:—

नून गुनहिं जहँ अधिक गुन, कहिये बरनि समान[1]।
अलंकार उपमा कहत, ताही सुमति स-मान ॥

यह लक्षण या तो उपमामूलक सभी अलंकारों पर लागू हो जायगा, या अलंकार-मात्र के लिए यह अनुपयुक्त है; यहां न तो चमत्कारी साम्य का संकेत है और न आधारभूत चार अंगों का। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का परस्पर भेद यहां स्पष्ट नहीं हो पाता। यदि इस वर्णन को लक्षण मान लें तो 'यह गाय, हमारी गाय के समान है' इस वाक्य में भी उपमा मानी जायगी; वाग्भट्ट ने इसी लिए तो चमत्कार युक्त साम्य[2] को उपमा बतलाया था। इस लक्षण का स्वाभाविक फल यह हुआ कि उपमा का उदाहरण वस्तुतः उत्प्रेक्षा के लिए उपयुक्त था, 'मनो' शब्द का प्रयोग संभावना का ही सूचक है:—

ओछे उरोजनि पै हसि कैं, कसि के पहिरी गहरी रंग चोरी।
पैरि सिवार सरोज सनाल, चढ़ी मनो इन्द्रबधूनि की जोरी ॥

उत्प्रेक्षा का उदाहरण अपने कर्तव्य में उतना सफल नहीं है:—

मेरे मन आवति मुनिन मन मोहिबे को, मोहनी के मन्त्र हैं री मोहनी की बतियां।

रूपक अलंकार का लक्षण भी उतना ही शिथिल है। लेखक ने उपमावाचक शब्दों को गिनाकर यह बतलाया है कि जहां ये शब्द न हों वहां रूपक माना जायगा:—

सम, समान, जैसे, जनो, जिमि, ज्यों, मानो, तूल
और सरिस कविदेव ए, पद उपमा के मूल ॥
जहँ उपमा मैं ये न पद, सोई रूपक जानु ॥

यहां दो तथ्य और लक्षित होते हैं। प्रथम तो यह कि देवकवि उपमा और उत्प्रेक्षा का उस समय तक अंतर न जानते थे, अन्यथा 'जनो' और 'मनो' को 'उपमा के मूल' 'पद' क्यों बतलाते। द्वितीय यह कि वाचक के लोप से रूपक नहीं रह जाता, लुप्तोपमा बनती है—यह भी उनको स्पष्ट नहीं है। दण्डी का लक्षण इतना सूक्ष्म है कि उनको सुनकर कोई भी कवि देव के समान बहक सकता है—उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते (काव्यादर्श, २, ६६); 'तिरोभूतभेदा तिरोहितः ..... विद्यमानोपि सादृश्यातिशयप्रदर्शनाय कविना निह्नुतः भेदः प्रस्तुताप्रस्तुतयोः वैधर्म्यं यत्र, तादृशी उपमैव साधर्म्यमेव रूपकम्' (पंडित रंगाचार्य शास्त्री विरचिता प्रभाख्या व्याख्या)। देवकवि कृत रूपक का यह लक्षण पाश्चात्य[3] काव्यशास्त्रियों का सा बन गया है।

---

(१) केशव के लक्षण "रूप, शील, गुण होय सम, जो क्यों हूं अनुसार" में चमत्कारयुक्त साम्य का कथन 'क्योंहू' से किया गया है।

(२) चमत्कारि साम्यमुपमा। (काव्यानुशासनम्, तृतीयोऽध्यायः)।

(३) मैटाफर इज़ ए कन्डेन्स्ड सिमिली।

देवकवि ने समासोक्ति का वर्णन "कछू वस्तु चाहै कहौ, ता सम बरनै और" द्वारा किया है; इस लक्षण में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा प्रस्तुतांकुर भी समा सकते हैं; यह केशवकृत अन्योक्ति के लक्षण "औरह प्रति जु बखानिये, कछू और की बात" से किस बात में भिन्न है ? सहोक्ति का चमत्कार केशव[1] भी भूल बैठे, देवकवि ने इसको साथ-साथ[2] गुणों का वर्णन-मात्र समझ लिया। उदाहरण अवश्य ही केशव और देव दोनों ने ही उपयुक्त तथा रोचक रखे हैं:—

बार बुद्धि बारन के साथ ही बढ़ी है वीर,
कुचनि के साथ ही सकुच उर आई है। (केशव)
काम के तीर समेत समीर, सरीर में लागत पीर बढ़ावै। (देव)

अपन्हुति का लक्षण केशव ने लिखा था :—

मन की बात दुराय मुख, औरै कहिये बात।
कहत अपन्हुति सकल कवि, ताहि बुद्धि अवदात॥

इस प्रसंग में भगवान् दीन की टीका में 'नोट' देख लेना भी आवश्यक है—"इस अलंकार में मन की बात छिपाकर बहाने के लिए कोई और बात कही जाती है, अतः दोनों में समता होना जरूरी है। यह समता श्लिष्ट विशेषणों द्वारा ही आ सकती है, अतः इस अलंकार का बड़ा भारी सहायक श्लेष अलंकार है" (प्रियाप्रकाश, ग्यारहवां प्रभाव)। देवकवि ने लक्षण में ही इस व्याख्या का सार रख दिया है:—

मन को आथ छिपाइए, औरे अर्थ प्रकास।
श्लेष वचन काकु-स्वरनि, कहत, अपन्हुति तास॥

परन्तु यहां काकुस्वर की सहायता नहीं ली जा सकती, अन्यथा अलंकार अपन्हुति न होकर काकूक्ति हो जायगा। देवकवि के उदाहरण में यही हो गया है:—

लोग ससी को सराहत री सब, तोहू लगै सखी सांचेहू सीरौ॥

यहां अप्रस्तुत-प्रस्तुत भाव तो है ही नहीं, इसलिए मन का अर्थ छिपाने पर भी छेकापन्हुति[3] अलंकार न माना जायगा।

अप्रस्तुतप्रशंसा को रीतिकाल के अधिकतर कवि समझ नहीं पाये, बेचारे देव भी ऐसे ही रहे; उन्होंने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में 'प्रशंसा' का अर्थ 'महिमा-गान' समझा और अप्रस्तुतप्रशंसा तथा व्याजस्तुति में मित्रता खोज निकाली। दोनों के लक्षण हैं :—

जहां सु अप्रस्तुति अस्तुति, निंदा की अथान।
निन्दै और सराहिये, सो व्याजस्तुति जान॥

(जहाँ दूसरे की स्तुति द्वारा प्रस्तुत की निन्दा हो वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा; और जहाँ

---

(१) हानि-वृद्धि, शुभ-अशुभ कछु, कहिये गूढ़ प्रकास।
होय, सहोक्ति सु, साथ ही बरणत केशवदास॥ (कविप्रिया, १२, २०)

(२) सो सहोक्ति जहं सहितगुन, कीजे सहित बखानि॥

(३) छेकापन्हुति रन्यस्य, शंकातस्तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः, कान्तः किं ? नहि, नूपुरः॥ (कुवलयानन्द)

दूसरे की निन्दा द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा हो वहाँ व्याजस्तुति)। ये लक्षण तो अशुद्ध हैं ही, उदाहरण भी सदोष हैं :—

सबतें सब भांति भली हिरनी, निसिवासर पास रहै पिय के।

यहाँ हिरनी (अप्रस्तुत) की स्तुति द्वारा प्रस्तुत की (अपनी) निन्दा गोपियाँ कर रही हैं। अन्यत्र :—

कूबरी सी अति सूधी बधू को मिल्यौ वर देव जू स्याम सो सूधौ।

इस उदाहरण में कुब्जा तथा श्याम को सीधा (विपरीत लक्षणा से, वक्र) बताकर अपने सीधेपन की प्रशंसा है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही सदोष अथवा अशुद्ध हैं।

अलंकारों के उदाहरण

भावविलास में, लक्षणों के समान ही, देव कवि के अधिकतर उदाहरण सदोष हैं; सामान्यतः उनमें चमत्कार का अभाव है; कुछ उदाहरण ऐसे हैं जो लक्षणों पर ठीक नहीं घटते। अधिकतर स्थलों पर कवि ने अलंकारों का स्वरूप समझा नहीं, अतः उदाहरण भी अनुपयुक्त रहे। उपमेयोपमा में दो वस्तुएँ परस्पर में उपमान और उपमेय हुआ करती हैं, परन्तु चमत्कार का मूल प्रथम वाक्य को उपमा का बनाना है और द्वितीय वाक्य में उपमान उपमेय में स्थान-विनिमय कर देना है। देवकवि का एक उदाहरण तो सुन्दर है :—

पूरनमासी सी तू उजरी अरु तोसी उजारी है पूरनमासी।

परन्तु आगे के चरणों में प्रथम वाक्य प्रतीप-वाक्य है और दूसरा उपमा-वाक्य; यह दोष है :—

तेरी सी बेनी है स्याम अमा अरु, तेरीयो बेनी है स्याम अमा-सी।
तेरौ सो आनन चंद लसै, तुअ आनन में सखि चंद समा सी॥

अनन्वय का अलंकारत्व भी चमत्कार पर निर्भर है; यदि मुख-सा मुख, कान-से कान और अधर-से-अधर कह दिया जाय तो सौन्दर्य क्या रहा? अद्वितीयत्व की व्यंजना के बिना देव कवि के उदाहरण नीरस हो गये हैं :—

केस-से केस, लसै मुख-सो मुख,
नैन-से नैन रहे रंग सो छकि।

पर्यायोक्ति अलंकार में किसी बात को भङ्ग्यन्तर से कहा जाता है। अधिकतर उदाहरणों में सखी नायक-नायिका को मिलने का अवसर देने के लिए किसी व्याज से खिसक जाती है। देव कवि का उदाहरण हास्यास्पद बन गया है :—

भेंटि तो लेहु भटू उठि स्याम कों आजु ही की निसि आये हैं ओऊ।
हौं अपने दृग मूंदति हौं धरि, धाइ के आज मिलौ तुम दोऊ॥

सखी कह रही है कि यही अवसर है आज तुम दोनों गले मिल लो, मैं तब तक अपनी आँखें बन्द कर लेती हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि वृद्धा माता रूठे हुए बच्चों को मेल करने के लिए फुसला रही हो—मैंने आँखें बंद कर लीं, मेरी रानी बेटी अभी अपने भैया के गले लगती है, रानी बेटी, राऽऽनी....।

देव कवि के उदाहरणों में सरसता अवश्य है, वे मधुर हैं, मनोहर हैं। ऊर्जस्वल का

उदाहरण लोकोक्ति बन गया है और रसवत् में कोमलता का ऐश्वर्य है :—

छांडि दै मान री, मान कह्यौ, कहुँ भाल कौ तेजु कृसानु पै रैहै। (ऊर्जस्वल)
आज् को आयौ समीर सखी री, सरोज कँपाइ, करेजो कँपावन ॥ (रसवत्)

भावविलास में परिवृत्ति अलंकार का लक्षण तो सदोष है, परन्तु उदाहरण सरस है, विशेषतः अंतिम चरण में तो स्वाभाविक विनिमय बड़ा प्रभावशाली है; 'हीन-पीन', 'जात-आवत', तथा 'बैठत-उठत' का आदान-प्रदान कितना सुन्दर है:—

हीन होत कटि-तट, पीन होत जघन,
सघन सोच लोचन ज्यों नाचत सरोज हैं।
जाति लरिकाई तरुनाई तन आवत सु,
बैठत मनोज देव उठत उरोज हैं॥

आचार्यत्व

'भावविलास' देवकवि का बालप्रयत्न है; इसमें भावना का अतिरेक तथा हृदय की कोमलता तो मिलती है; परन्तु मस्तिष्क की प्रौढ़ता नहीं। दूसरे आचार्य बालानां सुख-बोधाय या काव्यरसिकों के लिए लिखा करते थे; देवकवि ने 'सहर्ष' लिखा है। अस्तु, इस कृति से देवकवि के विषय में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह पुस्तक किसी भी अर्थ में पूर्ण नहीं है। इसमें शब्दालंकार नहीं हैं, अर्थालंकारों में भी अनेक महत्वपूर्ण छूट गये हैं, जिन अर्थालंकारों को स्थान नहीं मिला उनका अन्तर्भाव भी अन्यत्र नहीं है, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकार के भी भेद नहीं दिये, अलंकारों का क्रम किसी व्यवस्था का सूचक नहीं है। लक्षण अपूर्ण एवं अशुद्ध हैं, तथा उदाहरण अनुपयुक्त। कदाचित् कवि ने उस समय तक संस्कृत के आचार्यों का अध्ययन नहीं किया था।

केशव ने कविप्रिया के तीसरे प्रभाव में यह लिखा था कि मैं कविप्रिया की रचना इसलिए कर रहा हूँ कि बाला तथा बालक भी वर्णन के अगाध पथ को पहिचान लें।[1] किशोर देवदत्त ने इस कथन पर विश्वास कर लिया और हर्ष की तरंग में 'भाव-विलास' की रचना कर डाली, मानो कोई तेज विद्यार्थी अपने क्लास नोट्स को फिर से लिखकर अपने नाम से एक आलोचनात्मक पुस्तक छपवा रहा हो।

केशव का प्रभाव अलंकारों के नाम और लक्षण दोनों ही में है। पक्ष में एक ही बात है कि प्रौढ़ केशव की तुलना में किशोर देव के उदाहरण अधिक कोमल, चंचल तथा सरस हैं।

---

(१) समझै बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

देवकवि : काव्य-रसायन

(सं० १७६०)

भाव-विलास लिखने के लगभग १४ वर्ष उपरान्त देव कवि ने काव्यशास्त्र संबंधी दूसरा ग्रंथ 'शब्द-रसायन' या 'काव्यरसायन' लिखा, जो प्रथम ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक सविस्तर तथा प्रौढ़ है। अब तक देव ने भाषा, प्राकृत तथा संस्कृत के ग्रंथों का अध्ययन कर लिया था और बड़े-बड़े आचार्यों की संगति[1] से भी लाभ उठाया था। अतः काव्य-रसायन अपने विषय का प्रौढ़ ग्रंथ बन गया है। इस ग्रंथ में एकादश प्रकाश हैं। अष्टम प्रकाश में शब्दालंकार तथा नवम प्रकाश में अर्थालंकार लिखने के बाद देवकवि ने दशम तथा एकादश प्रकाशों में छन्द का वर्णन किया है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य-रसायन समकालीन अनेक ग्रंथों से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण है। यदि दोष-विषय का भी समावेश हो जाता तो वस्तुतः यह पुस्तक अपने विषय की पूर्ण रचना बन जाती।

इस ग्रंथ के दोनों नाम प्रसिद्ध हैं। उपलब्ध प्रति में 'काव्यरसायन'[2] नाम भी है, तथा 'शब्दरसायन[3] भी। 'काव्यरसायन' नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है; शब्द और अर्थ[4] का सम्पृक्त सौन्दर्य ही 'काव्य' शब्द से अभिहित किया जाता है, अतः तद्विषयक ग्रन्थ में केवल 'शब्द' शब्द के स्थान पर शब्दार्थ-सार 'काव्य' नाम अधिक समीचीन है; काव्य का सार रस है; अतः 'काव्य' तथा 'रस' के अयन का नाम 'काव्य-रसायन' होना ही चाहिये। 'शब्द-रसायन' नाम विषय-बोध में उतना समर्थ नहीं; शब्दार्थ-रसायन' के स्थान पर शब्द-रसायन 'अर्थ' की अकारण ही अवहेलना कर देता है।

सामान्य सिद्धान्त

काव्य-रसायन लिखते-लिखते देवदत्त आचार्य बन गये थे, और काव्य-संबंधी सिद्धांतों का प्रतिपादन भी करने लगे थे। ग्रन्थ में यह तो बतलाया ही है कि इसमें भाषा, प्राकृत तथा संस्कृत ग्रन्थों के साथ-साथ संगति से भी लाभ उठाया गया है। संसार में और सब (उच्च कुल, सुन्दर प्रासाद, अपार धन, वृक्षारोपण, सरोवर-खनन, कूप-निर्माण आदि स्थायित्व वाली) वस्तुएँ भंगुर[5] हैं; अमर है केवल यश, जो रस के मूर्त्त रूप[6] भव्य काव्य

(१) भाषा, प्राकृत, संस्कृत, देखि महाकवि पंथ ॥

(२) देवदत्त कवि रस रच्यौ, काव्य-रसायन ग्रन्थ ॥

(३) शब्द-रसायन नाम यह, शब्द-अर्थ रस-सार।

(४) काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यसार।

(५) रहत न घर-वर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप।
जस-सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस-रूप ॥

(६) तुलना कीजिए :—जयन्ति ते सुकृतिनो, रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषांयशः काये, जरामरणजं भयम् ॥

पर निर्भर है। काव्य शब्द और अर्थ के अपूर्व संयोग[1] का नाम है। काव्य में समन्तात् सारभूत[2] (आ+सार), मुख्य[3] या भव्यता (उत्तमता) का आधार [4] रस ही है।

रस ब्रह्मानन्द सहोदर (हरि[5] जस[6] रस आनन्द; जस=समान, सहोदर) है, इसकी निष्पत्ति भाव[7] पर निर्भर है[8]; जब तक सत्त्वोद्रेक[9] न होगा तब तक ब्रह्मानन्द सहोदर रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। अलंकार से रस-सार काव्य में उत्कर्ष[10] आता है[11]। भाव-प्रवणता, (अनुकूल) छन्दोयोजना, तथा उत्कर्षविधायक अलंकारों से काव्य में सरसता आती है; और वह सर्वांगपूर्ण अतः समर्थ[12] बन जाता है—वस्तुतः ऐसे काव्य का रचयिता समर्थ कवि है।

देव कवि के मत में भाषा (मानुष भाषा) के पाँच अंग हैं—रस, भाव, नायिका, छंद तथा अलंकार; इनके कारण ही कविता रचयिता तथा श्रोता को आनन्द प्रदान करती है[13]; इन अंगों में मुख्य अंग रस है। रस तथा भाव पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं; और नायक-नायिका रस के आलम्बन हैं; अतः रस, भाव तथा नायिका को तीन स्वतंत्र अंग नहीं माना जा सकता; देवकवि का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि रस-परिपाक, भाव-योजना तथा नायिकाभेद कविकर्म के तीन अनिवार्य अंग हैं, इनसे सुपरिचित होकर ही वह भाषा का कवि हो सकता है। छन्द, तथा अलंकार भी कविकर्म की दृष्टि से ही काव्यांग हैं। संस्कृत में रसरूप आत्मा के अतिरिक्त दोष, गुण, अलंकार तथा रीति काव्य के अंग

---

(१) काव्य सार शब्दार्थ को।

(२) रस तिहि काव्यासार।

(३) मानुष भाषा मुख्य रस।

(४) भव्य काव्य रस-रूप।

(५) केशव ने 'उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन' (कविप्रिया, चौथा प्रभाव, २) लिखा है; देवकवि का अभिप्राय तथैव प्रतीत नहीं होता; वे रस-प्रतिपादन कर रहे हैं, कवि-भेद नहीं बता रहे।

(६) जब लगि लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द।

(७) सो रस बर सत भाव बस।

(८) नाना द्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ (नाट्यशास्त्रम्, ६ अध्यायः, ३६)

(९) जब लगि लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द।

(१०) अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्.....काव्यस्यात्मभूतं
रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। (साहित्यदर्पण)

(११) सो रस बरसत भाव-बस, अलंकार अधिकार।

(१२) भाव, छन्द, भूषण, सरस सो कहि काव्य समर्थ।

(१३) मानुष भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छन्द।
अलंकार पंचांग ये, कहत सुनत आनन्द॥

माने गये हैं[१]। देव ने यह देखा कि दोष, गुण तथा रीति पर भाषा-कवि ध्यान देते नहीं; उनकी रुचि नायिका-भेद, बहु छन्द[२], तथा अलंकार वर्णन में है; अतः इन पांच को उन्होंने काव्य-पंचांग मान लिया। ये संस्कृत में नहीं होते---संस्कृत के आचार्य छन्द विषय को अलग समझते हैं; प्राकृत भाषाओं में भी नायिका-भेद तथा छन्द का इतना ध्यान नहीं है, प्रत्युत राग-ताल का अधिक समावेश है; अतः ये 'भाषा' की ही अंगभूत विशेषताएँ हुईं।

अलंकार-विषयक मान्यताएँ

केशवदास की शब्दावली में देव कवि कहते हैं :---

कविता-कामिनि सुखद प्रद, सुबरन, सरस, सुजाति।
अलंकार पहिरे, अधिक अद्भुत रूप लखाति॥

कविता-कामिनी के विषय में यह कथन उपर्युक्त काव्य के पंचांगों से मेल नहीं खाता; अलंकार, छन्द (सुजाति), तथा रस तो यहां माने जा सकते हैं परन्तु भाव तथा नायिका हैं या नहीं; और 'सुबरन' अधिक आ गया है। अनुमान से जान पड़ता है कि पंचांग में देव कवि की व्यवहार-बुद्धि बलवती थी, और कविता-कामिनी के इस वर्णन में वे परम्परा में बह गये हैं। अस्तु, अलंकार को यहां भी उत्कर्षहेतु माना गया है। अलंकार जिस रस का उत्कर्ष है, वह रस शब्दार्थात्मक है; अतः शब्दालंकार भी अनुकूल वर्णयोजना द्वारा रस का सहायक है। इसी अर्थ में देव ने अनुप्रास और यमक को रस-रीति[३] का परम सहायक बताया है; अनुप्रास को तो रस का ओघ[४] ही मान लिया, क्योंकि वृत्त्यनुकूल वर्णयोजना गुण का आधार है और गुण रस का नित्य धर्म है।

रस-रहित अलंकार व्यर्थ है; इसीलिए देव ने चित्र में अनुराग नहीं दिखाया[५]। चित्र से यहां अभिप्राय चित्रालंकार तथा चित्र काव्य दोनों का है---अधिकतर हिन्दी-आचार्य दोनों को मिला बैठे हैं। ऐसा चित्र काव्य[६] अर्थहीन[७] होने के कारण मृतक[८] है; उस 'कठिन अर्थ के प्रेत,[९] से कोई लाभ नहीं। रसात्मक (पदोच्चय)[१०] वाक्य अर्थ-

---

(१) वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः॥ (साहित्यदर्पण)
(२) रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द। (केशव)
(३) अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रस-रीति।
(४) अनुप्रास रस-पूर।
(५) चित्र कह्यौ संक्षेप तें, है विचित्र विस्तार।
(६) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्। (काव्यप्रकाश)
(७) मृतक कहावै अर्थ बिन। (केशव)
(८) मृतक काव्य बिनु अर्थ कौ। (देव)
(९) मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत।
(१०) वाक्यं......पदोच्चयः। (साहित्यदर्पण)

संवलित काव्य है; उसको त्यागकर जो व्यक्ति अर्थहीन शब्दचित्राभिमुख[1] होता है, वह उस वायस के समान है जो रसागार दधि, घृत, मधु, पायस आदि पदार्थों को छोड़कर नीरस निर्जीव चर्म को अपने दांतों से कटकटाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अर्थ' से देव-कवि का अभिप्राय 'व्यंग्यार्थ' है, जिसके अभाव में काव्य शब्दमात्राश्रित चित्रकाव्य रह जायगा। 'पदार्थ' का श्लिष्टार्थ, तथा 'पायस' 'वायस' का यमक भले ही इस दोहे को चमत्कारपूर्ण बनाकर 'शब्द-चित्र' की अपेक्षा 'पद-अर्थ' के प्रति देव का पक्षपात दिखा सकें; परन्तु इस कथन में कोई विशेष सिद्धांत नहीं दिखाई पड़ता---निर्जीव चर्म से यदि 'सूखा चमड़ा' समझा जाय तो उसका चबाना वायस का स्वभाव नहीं, यदि 'मांस' मात्र लें तो वह भी दधि आदि के समान ही सरस पदार्थ है; यदि दधि आदि से प्रपानकरसन्याय से चर्व्यमाण अखण्डस्वरूप रस का संकेत लें तो अर्थहीन मृतक काव्य का चर्वण चाम चबाना माना जा सकता है, परन्तु वायस का अध्याहार क्या इसी आधार पर कर लिया जाय कि वर्णसाम्य होने पर भी स्वर में कोकिल सरस तथा काक शुष्क-कठोर होता है ?

केशवदास की शब्दावली[2] में देव ने यह स्वीकार किया है कि सरस-काव्य से भग-वत्प्रीति[3] उत्पन्न होती है। ऊपर हम 'हरि जस रस आनन्द' का दूसरा अर्थ कर चुके हैं, वर्त्तमान उद्धरण की छाया में उस अर्थ में परिवर्त्तन करने की हमारी कोई इच्छा नहीं; देव में विचार-निर्वाह सर्वत्र नहीं है, यह हम 'पंचांग' तथा 'कविता-कामिनी' के प्रसंग में ऊपर देख चुके हैं। अस्तु, यह संभव है कि देव को 'हरि जस रस आनन्द' का उपर्युक्त अर्थ ही अभीष्ट हो; तथा सरस काव्य से भगवत्प्रीति की उत्पत्ति भी वे मानते हों। काव्य से परमानन्द की प्राप्ति तो होती ही है, भक्ति तथा मोक्षाभिप्रेरणा भी सुलभ है।

भाव-विलास में देव कवि शब्दालंकार को भूल ही बैठे थे, कारण यह कि केवल शब्द-सौंदर्य को वे अर्थहीन अतः निर्जीव मानते हैं। फिर भी काव्यरसायन में शब्दालंकार प्रकरण है; और अनुप्रास तथा यमक को तो इतना महत्त्व मिला कि इनसे कवि-परम्परा सनाथ[4] मानी गई---अनुप्रास तो गुणाश्रय होने के कारण रसोघ[5] बतलाया गया। देव कवि में विचार-निर्वाह नहीं है। अन्यत्र वे अनुप्रास तथा यमक को चित्र-काव्य के मूल[6] भी कह देते हैं। या तो अनुप्रास और यमक से रस-रीति सनाथ नहीं हो सकती, या ये चित्र-काव्य के मूल नहीं हो सकते; क्योंकि रस-काव्य और चित्र-काव्य का परस्पर में वही सम्बन्ध है जो दधि आदि सरस पदार्थ और नीरस निर्जीव चर्म का।

अर्थालंकारों में उपमा तथा स्वाभावोक्ति मुख्य हैं, यह संकेत भाव-विलास में भी

---

(१) सरस वाक्य, पद-अर्थ तजि, शब्द-चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तजत, वायस चाम-चबात ॥

(२) हैं अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहैं। (कविप्रिया)

(३) सरस भाव, रसकाव्य सुनि, उपजत हरि सौं हेत।

(४) अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रस-नीति।

(५) अनुप्रास रस-पूर।

(६) अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।

प्राप्त था; काव्य-रसायन में इसका स्पष्ट कथन है :—

अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै, परगट प्रगट प्रभाव ॥

वस्तुत: यह कथन सदोष है, उपमा को तो अनेक सादृश्यमूलक अलंकारों का आधार माना जा सकता है परन्तु स्वभावोक्ति को नहीं। अतएव देव ने अपने इस कथन में सुधार किया है :—

सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि।

यह कथन भी सुधारापेक्षी है। उपमा अंग नहीं, अंगी होता है। अस्तु, उपमा की महत्ता सभी आलंकारिकों ने स्वीकार की है। चित्रमीमांसाकार के मत में विभिन्न भूमिका-भेदों को प्राप्त करने वाली शैलूषी के समान एक उपमा ही, काव्य-रंग में नृत्य करती हुई, वेत्ताओं के चित्त का रंजन करती है :—

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता, चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे, नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

अलंकारों की संख्या

भावविलास में ३९ अलंकार मुख्य माने गये थे; परन्तु काव्यरसायन में ४० अलंकार मुख्य हैं तथा ३० अलंकार अमुख्य या गौण। परन्तु अर्थालंकार ४०+३०=७० ही हों, ऐसी बात नहीं; मुख्य तथा गौण के मिश्रण से अनन्त भेद हो सकते हैं; इन वाच्य (प्रकट) तथा व्यंग्य (गुप्त) अलंकारों को तद्वेत्ता जानते हैं :—

मुख्य गौन विधि भेद करि, हैं अर्थालंकार।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार ॥
मुख्य, गौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त।
गुप्त प्रकट सब काव्य में, समुझत हैं मतिमन्त ॥

भावविलास के ३९ अलंकारों में से ३२ लेकर उनमें ८ नये जोड़ दिये हैं, और मुख्य अलंकारों की संख्या ४० हो गई है। भावविलास के परित्यक्त ७ अलंकारों में से उपमेयोपमा तथा अनन्वय उपमा के भेद बन गये हैं; भाविक, संकीर्ण तथा आशिष गौण कहलाये हैं; एवं समाहित तथा अर्थान्तरन्यास को छोड़ ही दिया है। उल्लेख, समाधि, दृष्टांत, विरोधाभास, असंभव, असंगति, परिकर तथा तद्गुण मुख्य अलंकार काव्य-रसायन में भावविलास से अधिक हैं। ये आठों नये मुख्य अलंकार चन्द्रालोक में वर्णित हैं; काव्यप्रकाश में उल्लेख तथा असंभव और साहित्यदर्पण में विरोधाभास तथा असंभव नहीं मिलते। अत: ये आठ अलंकार काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण की अपेक्षा चन्द्रालोक के प्रभाव से आगत माने जायें तो अधिक मान्य प्रतीत होगा।

गौण अलंकार ३० हैं, सब कुवलयानन्द में पाये जाने वाले। फिर भी प्रतीप, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा, विनोक्ति, परिसंख्या तथा काव्यलिंग का उल्लेख नहीं है। देव के नये अलंकार गुणवत्, लेख तथा प्रत्युक्ति हैं। गुणवत् रसवत् का ही अनुकरण है इसको अनुप्रास का ही एक भेद माना जा सकता है, उससे भिन्न सौंदर्य यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता।

लेख में कोई अलंकारत्व नहीं। प्रत्युक्ति उत्तर या प्रश्नोत्तर का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार देव कवि के नये अलंकार किसी प्रौढ़ता का परिचय नहीं देते।

अलंकारों के मुख्य तथा गौण भेद किसी विशेष आधार पर आश्रित नहीं जान पड़ते। भावविलास के सब अलंकार यहाँ मुख्य हों तथा नवागतों को गौण कह दिया हो—ऐसी भी बात नहीं। भामह, दण्डी आदि के अलंकारों को मुख्य तथा मम्मट, विश्वनाथ आदि के अतिरिक्त अलंकारों को गौण मानना भी लक्षित नहीं होता। संस्कृत के किसी भी आचार्य के अलंकारों की संख्या ४० या ४०+३०=७० नहीं है; यह तो देव की अपनी सूझ है। मुख्य-गौण भेद के तीन प्रधान आधार जान पड़ते हैं। (१) एक ही आधार के दो अलंकारों में से एक को मुख्य तथा दूसरे को गौण कह दिया है; जैसे तद्‌गुण मुख्य अलंकार है, अतद्‌गुण गौण; दीपक मुख्य है, मालादीपक गौण। (२) अनुकरणीय को मुख्य तथा अनुकरण को गौण नाम मिला—रसवत् मुख्य है, उसका अनुकरण गुणवत् गौण। (३) प्राचीन परम्परा, विशेषतः दण्डी-केशव, के अलंकार मुख्य हैं; चन्द्रालोक और विशेषतः कुवलयानन्द के नवजात अलंकार गौण। देव कवि ने जहाँ सरसता अधिक देखी होगी वहां मुख्यता मान ली होगी, अन्यत्र गौणता रह गई।

अलंकारों के लक्षण

काव्य-रसायन में अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में हैं। प्रायः एक दोहे में एक अलंकार का लक्षण लिखकर पश्चात् उस अलंकार के अनेक भेदों के उदाहरण कवित्त आदि में हैं, अन्त में 'इति दीपक', 'इति सकल जाति रूपक' आदि लिख दिया है; अलंकार-भेदों के लक्षण नहीं दिये, उदाहरण दे दिये हैं; अतः पाठक अंधकार में रह जाता है। यत्र-तत्र कई अलंकारों के लक्षण एक साथ और फिर उदाहरण एक साथ हैं।

सामान्यतः अलंकारों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि रूप का चित्र खिंच सके; कहीं-कहीं तो नाम के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। समासोक्ति तथा पर्यायोक्ति के लक्षण एक ही दोहे में इस प्रकार हैं:—

समासोक्ति कछु वस्तु लखि, कहिये ता सम और।
पर्यायोक्ति सु चाहि कछु, और कहै कछु और॥

'समासोक्ति में किसी वस्तु को देखकर उसके समान किसी दूसरी वस्तु का वर्णन किया जाता है,' यदि इस लक्षण को ठीक मानें तो मुख को देखकर चन्द्र का (निन्दात्मक) वर्णन समासोक्ति कहलावेगा। 'कुछ चाहते हुए कुछ और कहना' भी पर्यायोक्ति नहीं है। काव्यरसायन के ये लक्षण भावविलास के लक्षणों से भी हीन हैं। उपमा तथा सादृश्यमूलक समस्त अलंकारों का प्रकरण समाप्त हो जाता है, परन्तु पाठक उपमा के चार अंगों से परिचित ही नहीं हो पाता।

जयदेव ने अलंकार-विवेचन में स्मृति, भ्रान्ति तथा संदेह[1] के अलग लक्षण नहीं दिये, इनको लक्षणवाचक समझ लिया है। देव कवि के भी कुछ लक्षण इसी प्रकार के हैं:—

(१) स्यात् स्मृति-भ्रान्ति-सन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम्।

हेतु सहेतु, समै सहज भाव सहोक्ति सुजानि ।
सूक्षम सूक्षम चेष्टा, लेस खुलत छिपि जानि ॥

संक्षिप्त लक्षण ही नहीं, कहीं-कहीं तो वे स्पष्ट '**लक्षण नाम प्रमाण**' को स्वीकार करते दिखाई पड़ते हैं, (इसी प्रवृत्ति का फल था कि आगे चलकर कविराजा मुरारिदान ने समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध कर लिये) :—

(क) **दृष्टान्तालंकार सो लक्षन नाम प्रमान ।**
(ख) **जहां अर्थ संभव नहीं, ताहि असम्भव भाखि ।**
(ग) **गूढ़ उक्ति के गूढ़ ।**
(घ) **सुमिरन सुमृति, सुभ्रान्ति भ्रम, बिन निश्चय सन्देह ।**
निश्चय बिन संदेह ये, जानि नाम ते लेह ॥

भावविलास तथा काव्यरसायन के मुख्य अलंकार प्रायः एक होते हुए भी दोनों पुस्तकों के लक्षण एक ही नहीं हैं; उनकी शब्दावली तो अलग है ही, सारांश भी एक नहीं है । यह कहना कठिन है कि लक्षणों की दृष्टि से देव कवि किस पुस्तक में कम सफल हैं; सामान्यतः काव्यरसायन में प्रौढ़ता है, भले ही सरसता तथा स्पष्टता न हो ।

अलंकारों के उदाहरण

काव्य-रसायन में अलंकारों के उदाहरण प्रायः बड़े छन्दों में हैं, तथा रूपक के उदाहरण के अतिरिक्त शेष सब नये बनाये हैं—भावविलास से नहीं लिये । प्रायः एक भेद का एक ही उदाहरण बनाया है; परन्तु कुछ प्रसंगों (यथा आक्षेप) में संयम नहीं रहा । एक ही छन्द में एक से अधिक अलंकारों के उदाहरण भी हैं; यथा स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह तथा निश्चय के एक ही मत्तगयंद सवैये में; या विकल्प, संकीर्ण, भाविक तथा आशिष के एक में; या विधि, निषेध, अत्युक्ति तथा प्रत्युक्ति के एक सवैये में ही ।

अलंकार के उदाहरण उपयुक्त कम हैं, मनोहर अधिक । सौंदर्य उस अलंकार का न भी हो परन्तु यमक तथा अनुप्रास की आभा देखने योग्य होती है :—

(क) **खेल में खेलत खेल नये-नये, नाहीं में नाह सों नेह जनावै ।**
राधिका सी रमनीय रमा, रति कौन लगै, रति कौन कहावै ॥
(उदाहरण अर्थापत्ति का है, परन्तु चमत्कार अनुप्रास में है)

(ख) **ह्यां तें उहां अति नीके, रहौ, पति नीके रहौ, पतिनी के रहौ किनि ।**
(आशिष के उदाहरण में यमक बाजी मार ले जाता है)

(ग) **देव छिदी छतियां न छिदी उचकी कुचकोर चकोर-चखी की ।**
(असंगति का सौंदर्य अनुप्रास तथा यमक की आभा में छिप गया है)

काव्यरसायन के कुछ उदाहरण दोहों में भी हैं, जिन पर भाषाभूषण की आवश्यकता से अधिक छाप है । संभव है जिस प्रकार एक उदाहरण चेतचन्द्रिका से आया है उसी प्रकार कुछ भाषाभूषण से भी ले लिये हों, परन्तु नामपूर्वक उल्लेख अवश्य करना चाहिए था; दो दोहे तो साक्षात् जसवंतसिंह के हैं ही :—

है परिकर आसय लिए, जहाँ बिसेसन होय ।
ससि-बदनी यह नायिका, ताप हरति है जोय ।।
तद्गुन तजि गुन आपनो, संगति को गुन लेय ।
बेसर मोती अधर मिलि, पद्मराग छवि देय ।।

भावविलास के समान काव्यरसायन के उदाहरण रमणीय हैं, उनमें काव्यगुण है भले ही वे अलंकार को स्पष्ट न कर पाते हों। निम्नलिखित पंक्तियों का सौंदर्य देखिए :—

(क) हौं ही भुलानी की भूले सबै कहैं ग्रीषम मैं सरदागम माई ।
(ख) इंदु उदै उदयो उरधाम सुकाम जग्यो संग जामिनि जागे ।
(ग) चन्द्रिका मन्दिर चन्द्रमुखी मिलि सारद सिंधु में पारद बिंद सौं ।
(घ) जोबन आयो न, पाप लग्यौ, कहि देव रहैं गुरु लोग रिसौहैं ।।

शब्दालंकार

भावविलास में शब्दालंकार नहीं थे, परन्तु काव्यरसायन का अष्टम प्रकाश इसी विषय में लगा है। शब्दालंकार ४ हैं—अनुप्रास, यमक, सिंहावलोकन तथा चित्र। काव्य में अर्थ (व्यंग्यार्थ) की महत्ता के कारण अर्थालंकार का भी विशेष स्थान है; शब्दालंकार वाला काव्य चित्रकाव्य[१] है, इसमें विचित्र अक्षर और वर्ण होते हैं—समर्थ अर्थ[२] की उपलब्धि नहीं होती। अनुप्रास तथा यमक चित्रकाव्य के मूल[३] हैं; इसलिए सर्वप्रथम इन्हीं का वर्णन है।

अनुप्रास के भेद नहीं दिये, परन्तु इसको रस से भरा-पूरा[४] माना है—देव कवि के समस्त काव्य में अनुप्रास के सौंदर्य की ओर पाठक का ध्यान अवश्य जाता है। तदनन्तर यमक है। ऊपर कहा जा चुका है कि अनुप्रास तथा यमक को देव ने शब्द-सौंदर्य-जन्य रम्यता का प्राण कहा है; अतः यहाँ यमक के १२ भेदों का वर्णन है[५]। सिंहावलोकन यमक का ही एक रूप है, देव ने इसका लक्षण नहीं दिया, परन्तु दास के अनुसार छन्द के चरणान्त का अक्षर यदि दूसरे चरणारम्भ में यमक बनावे तो उस सौंदर्य को सिंहावलोकन कहते हैं। यमक के उदाहरणों में निरर्थक शब्दों की पूरी खिलवाड़ है :—

जोबन-जोतिन की मधुराई सों, जोबन जोतिन की मधुराई ।
सोधन-सोधन कोधन धाई सों, सोधन-सोधन को न सुधाई ।

यही निरर्थक शब्द-जंजाल देव के काव्य का प्राण है और इसी से वे कवि-परम्परा को सनाथ मानते हैं। फिर भी, आश्चर्य यह है कि, वे किसी आदर्श की लहर में शब्द-चित्र को सूखे चर्म के समान निर्जीव एवं नीरस कह बैठे।

शब्दालंकारों के अन्त में चित्र है। केशव ने इसको पूरा एक प्रभाव दिया था, देव को भी

---

(१) अलंकार जे शब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र ।
(२) अर्थ समर्थ न पाइयत, अक्षर बरन विचित्र ।
(३) अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र-काव्य के मूल ।
(४) अनुप्रास रस-पूर ।
(५) याते द्वादस रीति रस, कवि बरनत करि प्रीति ।

कंजूसी स्वीकार्य न थी, लम्बे-चौड़े वर्णन के उपरान्त भी वे कुछ खिन्न मन से कहते हैं कि चित्र का विस्तार तो बहुत अधिक है परन्तु मैंने संक्षेप में ही इसकी चर्चा[1] की है, क्योंकि 'शब्द-रसायन' नामक पुस्तक में रसपूर्ण शब्द तथा अर्थ को ही स्थान मिलना चाहिए। वस्तुतः देव के मत में शब्दालंकार तथा चित्रकाव्य एक ही वस्तु हैं। शेष ३ अलंकारों में से अनुप्रास तथा यमक तो चित्र के आधार या अंग है एवं सिंहावलोकन यमक का ही एक रूप है। अतः अनुप्रास-यमक-विशिष्ट चित्र ही एकमात्र शब्दालंकार है, परन्तु है यह अर्थ-हीन मृतक काव्य ही। क्या इसी हेतु देव कवि ने भावविलास में शब्दालंकार की उपेक्षा कर दी थी ?

उपमा-चक्र

काव्य-रसायन में उपमा के २० भेद हैं, जिनमें से कुछ भेद नये से भी जान पड़ते हैं; अधिकतर भेद ऐसे हैं जिनका अन्तर्भाव अन्यत्र हो सकता है। एक ओर तो स्मृति, भ्रान्ति सन्देह, निश्चय, असम्भव, उल्लेख, तथा स्वभावोक्ति स्वतंत्र अलंकार हैं; दूसरी ओर स्मरणोपमा, भ्रमोपमा, सन्देहोपमा, निश्चयोपमा, असंभवोपमा, उल्लेखोपमा, तथा स्वभावोपमा उपमा के भेद भी हैं। देवकवि ने अर्थालंकारों में किसी व्यवस्था का ध्यान नहीं रखा और भेदोपभेद न देने की जो कमी भावविलास में रह गयी थी उसका बदला काव्यरसायन में चुका लिया गया। उपमा के अनेक भेदों में प्रभाव केशव और अन्ततोगत्वा दण्डी का है। संदेहोपमा, तर्कोपमा, उचितोपमा, नियमोपमा, अधिकोपमा, अमानोपमा, निश्चयोपमा, असंभावोपमा, प्रतिकारोपमा, मालोपमा, उपमेयोपमा, संकीर्ण भावोपमा क्रमशः केशव की संशयोपमा, हेतूपमा, भूषणोपमा, नियमोपमा, गुणाधिकोपमा, अतिशयोपमा, निर्णयोपमा, असंभावितोपमा, विरोधोपमा, मालोपमा, परस्परोपमा, तथा संकीर्णोपमा हैं। सकलवाक्योपमा, सर्वांगोपमा, स्वभावोपमा, सम्यक् योगोपमा, एकदेशोपमा, अनन्वयोपमा आदि भेद भी केशव से ही आये हुए प्रतीत होते हैं। देवकवि ने नाम में यत्किंचित् परिवर्तन द्वारा जो मौलिकता का प्रयत्न किया है, वही उलझन का कारण है; यदि प्रत्येक भेद का लक्षण दिया जाता तो कदाचित् समस्या कुछ सुलझ जाती।

आचार्य देव

रीतिकालीन साहित्यिकों में देवकवि का नाम बड़ा ऊंचा समझा जाता है, क्योंकि जितनी पुस्तकें इन्होंने लिखी थीं उतनी किसी दूसरे ने नहीं; और इनमें विविधता है, प्रतिभा है—१६ वर्ष की आयु में ही इधर-उधर की सुनकर एक पुस्तक लिख देना कम चतुरता की बात नहीं। कुछ दिन हुए देव को रीतिकाल का सबसे बड़ा कवि समझा जाता था और उनके भक्त बिहारी को ताल ठोंक कर ललकारते थे। अब यह निर्णीत-सा है कि देव में जितनी चतुरता है उतनी प्रतिभा नहीं; अवश्य ही वे पुस्तक-निर्माता के रूप में रीतिकाल के प्रसंग से सदा याद किये जायेंगे।

---

(१) **शब्द रसायन नाम यह, शब्द अर्थ रस सार।**
चित्र कह्यौ संक्षेप तैं, है विचित्र विस्तार ॥

देव की प्रथम रचना भावविलास थी, वह भी १६ वर्ष की आयु में लिखी हुई, तब क्यों न देव को रीतिकाल का सबसे प्रतिभाशाली आचार्य मान लें, विशेषतः जब कि उन्होंने काव्यशास्त्र पर एक और भी पुस्तक लिखी है---पहिली से अधिक पूर्ण, अधिक प्रौढ़ ? सर्वांग या अनेकांग निरूपकों में देव का नाम भी है ही, उन्होंने छन्द पर भी लिखा है; और मुनि (संस्कृति के पुराने आचार्य)तो केशव और देव को ही आकृष्ट कर सके हैं। अलंकारों का मुख्य तथा गौण में वर्गीकरण; तथा इनके अतिरिक्त अलंकारों को वाच्य (प्रकट) तथा व्यंग्य (गुप्त) वर्गों में रखने का संकेत देव में ही है। अनुप्रास तथा यमक को एक ओर रसरीति का आधार तथा दूसरी ओर चित्र का मूल देव कवि ने ही बतलाया है। व्यंग्यार्थयुक्त काव्य को सरस पदार्थ, तथा शब्द-चमत्कार-विशिष्ट चित्रकाव्य को नीरस निर्जीव वायस द्वारा भक्ष्यमाण चर्मखण्ड कहकर देव कुछ लोगों को अपना समर्थक बना ही सकते हैं।

परन्तु देवकवि का आचार्यत्व उनके कवित्व से भी शिथिल है। जितनी उलझन उनमें है उतनी किसी दूसरे में शायद नहीं। वे एक कृति में भी अपनी विचार-धारा का निर्विरोध निर्वाह नहीं कर पाये, कारण यह प्रतीत होता है कि उनकी कोई विचार-धारा नहीं---जैसा कुछ कहीं देखा उसको कुछ बदलकर अपना कहकर चलता किया ऊपर दिखाया जा चुका है कि अनुप्रास तथा यमक के विषय में उनका क्या मत है यह स्पष्ट नहीं है---कम से कम दो मत तो हैं ही, परस्पर में विरोधी। काव्य के अंगों में वे किस-किस को गिनते हैं---इसके भी काव्यरसायन में तीन सिद्धांत हैं। अस्तु, सिद्धांत-प्रतिपादन की दृष्टि से देव कवि असफल हैं; या उनमें सिद्धांतविषयक शोध व्यर्थ है।

देव पर किसका प्रभाव था, यह कहना भी कठिन है। नाम लेने के कारण उन पर संस्कृत के पुराने आचार्यों का प्रभाव जान पड़ता है; रस की बारम्बार चर्चा करने से वे विश्वनाथ के सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं; गौण अलंकार तथा अन्य वाच्य एवं व्यंग्य भेदोपभेदों से उनको अप्पयदीक्षित के साथियों में रखने की इच्छा होती है। फिर भी यह निर्विवाद-सा है कि देवकवि केशवदास के प्रच्छन्न शिष्य थे, भावविलास के प्रसंग में यह संकेत किया है कि उसके रचनाकाल तक इस कवि ने संस्कृत के आचार्यों का अध्ययन न किया था, अतः केशव को पढ़कर इसने अपनी पुस्तक लिख दी। काव्यरसायन तक देव का स्वभाव समन्वय का बन गया था---सब ठीक कहते हैं, सभी सिद्धांतों को लिख देना चाहिये। नव्य आचार्यों का प्रभाव रस-नाम के जप में है, या अलंकारों की संख्या बढ़ाने में। प्राच्य आचार्यों से उपमा, आक्षेप तथा चित्र के प्रसंग देव ने समोद स्वीकार कर लिये। कविता का एक लक्षण केशव के अनुकरण से ही आया है। देव कवि पर भामह, दण्डी आदि का सीधा प्रभाव उतना नहीं, जितना केशव के माध्यम से; वे संस्कृत के आचार्यों से अनुप्रभावित हैं, परन्तु केशव से अधिक मात्रा में अनुप्रेरित।

यदि आचार्य के रूप में देव को देखा जाय तो निराशा ही होती है; न उनके लक्षण स्पष्ट हैं और न उदाहरण उपयुक्त। लक्षणों में जितनी आशा रीतिकाल के दूसरे आचार्यों से थी, उतनी देव से नहीं की जा सकती। उदाहरणों की चर्चा भी ऊपर हो चुकी है। यह

जान लेना कठिन है कि छन्द का कौन-सा चरण किस विषय का उदाहरण है। अवश्य अनुप्रास तथा यमक की छटा सर्वत्र मन को मोह लेती है। देवकवि रसवादी आचार्य नहीं, रसिक कवि थे; इसीलिए भावविलास को काव्यरसायन से अधिक रमणीय कहा जा सकता है; प्रथम प्रयास, अल्पायु आदि को ध्यान में रखकर। देवकवि की चतुरता में सन्देह नहीं; वे अपने को सब कुछ दिखा सकते थे, उनके पास गंभीर विचार तथा विवेचन का अवकाश न था, इसलिए लगे हाथ सब कुछ लिखते चले गये। सामान्य दृष्टिपात से देव प्रतिभाशाली मालूम पड़ते हैं, परन्तु गम्भीरता की कसौटी पर चमककर वे आचार्य के पद को प्रत्याशित सफलता से प्राप्त नहीं कर पाते।

श्रीधर कवि : भाषाभूषण

(१७६७ वि०)

प्रयागवासी ओझा श्रीधर[1] मुरलीधर कवि ने नवाब मुसल्लेहखान[2] के आश्रय में 'भाषा-भूषण' नामक पुस्तक की रचना संवत् १७६७ में[3] की । एक दिन नवाब ने अपनी सभा के कवि श्रीधर से कहा कि संस्कृत में भरत आदि की रीति पर जो काव्यशास्त्र है उससे लेकर अलंकार-विषय का उसी संस्कृतवाली[4] प्रणाली पर भाषा में वर्णन करो। नवाब के संकेत से श्रीधर कवि ने १५० दोहों में 'भाषा-भूषण' लिखा। सं० १८०८ की हस्तलिखित लिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में प्राप्य है। पुस्तक के अन्त में ४२ दोहों में कवि ने नायिका-भेद तथा रसादि का संक्षिप्त वर्णन कर दिया है, परन्तु यह भाग पुस्तक का अंग प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसको पृथक रूप में 'काव्यप्रकाश' नाम भी दे दिया गया है।

'भाषा भूषण' में केवल अलंकार-विषय है, और इसका आधार संस्कृत के 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ हैं। दोहे के पूर्वार्द्ध में अलंकार का लक्षण है और उत्तरार्ध में उसी का उदाहरण[5]। कुवलयानन्द के समान ही कवि उपमा से अलंकारों को प्रारम्भ करता है। वर्णन साधारण है, उदाहरणों में भी कोई विशेषता नहीं।

दो उदाहरण देखिए:—

सो विभावना हेतु बिन कारज कौ उद्योत।
बिन जावक चरनन जिते, अरुन कमल दल गोत॥
दोसहु में गुन देखिये, वहै अवज्ञा चारु।
विपति भली सुमिरौ जहां, हरि के चरन उदारु॥

---

(१) श्रीधर ओझा विप्रवर, मुरलीधर जस नाम।
तीरथराज प्रयाग में, सुबस बस्यौ रविधाम॥

(२) नवल नबाब मुशल्लेहखान
बहादुर सिन्धु सता सुदली है।
जाकी सभा कवि राजै कलाधर
मंगलमय सुख साज थली है॥

(३) सत्रह सै सत सठ लिख्यो, संवत् जेठ प्रमानि।

(४) तामें कह्यो कवि श्रीधर सों,
भरतादिक रीति जु बात बली है।
भासहि में भनि भूषन सो,
सुरभास ज्यों भूसन भांति भली है॥

(५) लच्छन आधे दोहरा, उदाहरन पुनि आधु।

रसिक सुमति : अलंकार-चन्द्रोदय

(१७८५ वि०)

ईश्वरदास के पुत्र आगरा-निवासी उपाध्याय[1] रसिक सुमति ने संवत् १७८५[2] (या १७८६[3]) में 'अलंकार-चन्द्रोदय की रचना की---संभवतः यह पुस्तक संवत् १७८५ में प्रारम्भ होकर एक वर्ष उत्तरान्त सं. १७८६ में पूरी हो सकी। उस शताब्दी में आगरा के कुलपति मिश्र, सूरतिमिश्र आदि कई रीति-कवि रसिक सुमति से पूर्व प्रसिद्ध हो चुके थे ; जिस टोले[4] में कुलपति मिश्र का घर था उसी में रसिक सुमति रहते थे; अतः कविता-काल में लगभग ६० वर्ष का अन्तर होने पर भी रसिक जी कुलपति से सामान्यतः प्रभावित हैं---अपने निवास का परिचय देते हुए ये कुलपति के गौरव से उत्फुल्ल जान पड़ते हैं।

'अलंकार-चन्द्रोदय' में १८७ दोहे हैं, १८० दोहों में अर्थालंकार तथा शेष में अकस्मात् शब्दालंकार का वर्णन कर दिया है। शब्दालंकार में वृत्ति, छेक तथा लाट अनुप्रास की चर्चा है।

मंगलाचरण के अनन्तर कवि ने बतलाया है कि "काव्य में वैचित्र्य"[5] का नाम अलंकार है, यह शब्द और अर्थ दो प्रकार का होता है और प्रत्येक प्रकार में इसके विविध भेद हैं।" यद्यपि इस लक्षण में शब्द का कथन पहिले तथा अर्थ का पीछे है, तो भी 'चन्द्रोदय' में, कदाचित् प्राधान्य को दृष्टि में रखकर, प्रथम तथा मुख्य वर्णन अर्थालंकार का ही है। शारदागम संभव[6] चन्द्रालोक से कुवलय के आनन्द का जन्म होता है, परन्तु उसकी प्रतिष्ठा चन्द्रिका[7] के बिना संभव नहीं---वैद्यनाथ की 'अलंकार-चन्द्रिका' से ही हिन्दी के गोपा तथा रसिक सुमति को अपनी पुस्तकों के नाम सूझे होंगे।

रसिक सुमति पर विषय-वर्णन में अपने प्रतिवेशी कुलपति आदि मिश्रों का प्रभाव नहीं है,---उनसे इनको केवल प्रेरणा मिली है। वैद्यनाथ का भी कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। 'चन्द्रोदय' का मूलाधार तो 'कुवलयानन्द' है; प्रसंगतः 'चन्द्रोलोक' तथा 'भाषा-

---

(१) सो आगरे आगरे बसतु, उपाध्या विख्यात।

(२) सर वसु रिसि ससि लिखि लखौ, संवत सावन मास।

(३) रस वसु रिसि रु ससि संवतहि सावन मास।

(४) टोले मथुरियनि के तपन-तनया निकट अवदात।

(५) सबद अरथ की चित्रता, विविधि भांति की होइ।
अलंकार तासों कहत, रसिक विबुध सब कोइ॥

(६) चन्द्रालोको विजयतां शरदागम-संभवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत् प्रसादादभूदयम् ॥१७२॥ (कुवलयानन्द)

(७) असौ कुवलयानन्द श्चन्द्रालोकोत्थितोऽपि सन्।
प्रतिष्ठां लभते नैव विनालंकारचन्द्रिकाम्। (अलंकार चन्द्रिका)

भूषण' भी क्रमशः लक्षण एवं उदाहरण में सहायक रहे हैं। लक्षण लिखते समय 'चन्द्रालोक' सामने न था, प्रत्येत 'कुवलयानन्द'[1] से 'चन्द्रालोक' के लक्षणों को लेकर इस कवि ने हिन्दी में उनका छायानुवाद, और कहीं-कहीं, कायानुवाद कर दिया है:---

दीपक---वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः ।
मदेन भाति कलभः, प्रतापेन महीपतिः ॥४८॥
दीपक वर्ण्य अवर्ण्य की, एक कृपा जो सोय ।
गज मद सौं, नृप तेज सौं, जग में भूषित होय ॥

सहोक्ति---सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः ।
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥५८॥
सो सहोक्ति तजि हेतु फल, औरनि कौ सहभाउ ।
सुजस संग परताप तुव, नांखि गयौ दरियाउ ॥

प्रथम उदाहरण में लक्षण तथा उदाहरण दोनों का अनुवाद है, परन्तु दूसरे में लक्षण पर मूल की छाया ही है---अनुवाद नहीं।

'अलंकार-चन्द्रोदय' 'भाषाभूषण' का नवावतार मात्र नहीं है, कई स्थलों पर कवि ने स्वतन्त्रता का सुन्दर परिचय दिया है। अर्थालंकारों का क्रम स्वतन्त्र है, उपमा के मालोपमा तथा रसनोपमा भेद भी इस पुस्तक में हैं, यहां अन्तिम अर्थालंकार प्रत्यनीक है, और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रत्येक भेद के लक्षण-उदाहरण के लिए एक स्वतन्त्र दोहे के उपयोग से इस पुस्तक का महत्व 'भाषाभूषण' से भी अधिक सिद्ध हो गया है। अधिक पुस्तकों की छाया के बिना भी अपने वर्ग में इस रचना का स्वतन्त्र महत्त्व है।

---

(१) रसिक कुवलयानन्द लखि, अलि-मन हरस बढ़ाइ ।
अलंकार-चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाइ ॥

रघुनाथ : रसिक मोहन

(सं० १७९६)

काशी नृपति की सभा में कवि रघुनाथबंदीजन ने संवत्[1] १७९६ में 'रसिकमोहन' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। काशी नरेश ने इनको चौरा नामक ग्रामदिया था जिसकी स्थिति वाराणसी से एक योजन[2] और पंचकोशी से एक कोस दूर पर बतलाई गई है। इस पुस्तक का उद्देश्य अलंकार-वर्णन के अतिरिक्त आश्रयदाता राजा की विशद गुण-गाथा[3] भी है।

'रसिक-मोहन' की प्रथम विशेषता तो यह है कि "इसमें अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य आए हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलंकार के सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं"[4]। दूसरी विशेषता यह है कि रघुनाथ ने अन्य दरबारी कवियों के समान अलंकारों के उदाहरण केवल शृंगार रस से ही नहीं बनाये और न भूषण के समान वीर रस से ही लिये हैं---मतिराम आदि के समान आश्रयदाता का वर्णन मात्र भी नहीं किया; इस कवि का लक्ष्य इसके सामने स्पष्ट था अलंकार-विवेचन, बीच-बीच में युग की प्रवृत्ति के अनुकूल और आश्रयदाता की रुचि के अनुसार कहीं शृंगार है, कहीं वीर है तो कहीं प्रशंसा मात्र ही है।

'रसिक-मोहन' में ४८२ छन्द हैं---लक्षण के लिए दोहा और उदाहरण के लिए कवित्त या सवैया । विवेचन केवल अलंकार-विषय का है। पुस्तक का विभाजन 'मन्त्रों' में है और प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'श्रीकवि रघुनाथबंदीजन काशीवासी विरचिते काव्य-रसिक मोहने अलंकार नाम कथनं प्रथमो मन्त्रः' आदि लिख दिया है। केशव के समान रघुनाथ ने पुस्तक प्रारम्भ करते ही विवेच्य अलंकारों की सूची दे दी है । सामान्यतः कुवलयानन्द का लक्षणों में प्रभाव है । उपमा के रसनोपमा आदि भेद नहीं हैं; परन्तु 'चन्द्रालोक' की 'स्तबकोपमा' अवश्य है। पूर्वरूप तथा अतद्गुण आदि को भी स्थान नहीं मिला; हिन्दी के अधिकतर आचार्यों के समान रघुनाथ ने भी 'गूढोत्तर' को 'उत्तर' तथा 'चित्रोत्तर' को 'चित्र' नाम से ही पुकारा है, और 'व्याजोक्ति' नाम के दो अलंकार मान लिये हैं; अत्युक्ति के प्रसंग में 'प्रेमात्युक्ति' का भी वर्णन है।

रघुनाथ कवि के उदाहरण ध्यान आकृष्ट करते हैं, अलंकारों की स्पष्टता के साथ-साथ कवित्व के लिए भी उनका अपना महत्त्व है। कवि की प्रतिभा कुछ कवित्तों से झलक सकेगी:---

---

(१) संवत् सत्रह सै अधिक, बरस छानबे पाय ।
(२) योजन भरि वाराणसी, पंचकोस यक कोस ।
उत्तर दिसि दक्षिण लसै, सुरसरि आपु परोस ॥
(३) बिच बिच काशी नृपति के, कहे बिसद गुन गाथ ।
(४) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८७ ।

देखि गति त्रासन तें सासन न मानै सखी,
कहिबे कों चहत कहत गरो परि जाय ।
कौन भांति उनको संदेसौ आवै रघुनाथ,
आइवे को मो पै न उपाव कछू करि जाय ।।
बिरह-विथा की बात, लिख्यौ जब चाहे तब,
ऐसी दसा होति आंच आखरि में भरि जाय ।
हरि जाय चेत चित, सूखि स्याही झरि जाय,
बरि जाय कागद कलम डंक जरि जाय ।।११२।।

यह कवित्त सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार के 'योग में अयोग' प्रदर्शन का है, यद्यपि सामान्यतः इस वर्णन का प्राण अत्युक्ति ही है फिर भी इसका कवित्व निस्संदिग्ध है। इसी प्रकार सेनापति की शैली पर श्लेष का निम्नलिखित चमत्कार देखा जा सकता है:—

भरे तनसुख सिरी साफ सोहै रघुनाथ,
अतलस रही गज-गति में बखान है ।
झिलमिली बन्दी की बिराजै पांति न्यारी नीकी,
काकनी निहारी औ रुमाल सुभ ठान है ।।
गाढ़े कुच की है मेंही कमर अलक परी,
औरऊ चिकन पट के तो सुख दान है ।
तुम तो सुजान बलि गई चलि देखौ साज,
आनु बनी बनिता बजाज की दुकान है ।।१९३।।

गोविंद कवि : कर्णाभरण

(सं० १७९७)

सं. १७९७ वि. में गोविंद कवि ने 'कर्णाभरण' नाम की एक छोटी सी पुस्तक लिखी जो आगे चलकर भारत जीवन प्रेस काशी से (सं. १८९४) मुद्रित हुई। इस पुस्तक के ४६ पृष्ठों में केवल अलंकार विषय का ही विवेचन है। भाषाभूषण के समान यहां भी केवल दोहा छन्द का ही व्यवहार किया गया है। लेखक ने अपनी कृति का परिचय तथा उसका काल इस प्रकार दिया है :—

नग निधि रिषि विधु बरष मैं, सावन सित तिथि संभु ।
कीन्हो सुकवि गुविंद जू, करणाभरण अरंभु ॥३३८॥

पुस्तक के नाम, आकार तथा उसकी शैली से जान पड़ता है कि गोविंद कवि ने इसको सद्योपयोगी बनाया है—तत्काल आवश्यकता पड़ने पर काम आ सकने वाली। केवल अलंकार-विषय पर भी दोहों में पुस्तक लिखने वाले कवि अपनी रचना द्वारा अलंकार-ज्ञान का दावा किया करते थे, परन्तु गोविंद कवि ने ऐसा नहीं किया। हां, पुस्तक के नाम से ऐसा भान होता है कि यह सुननेवाले के मन में याद कर लेने की भी इच्छा उत्पन्न कर देगी। वस्तुतः इसकी भाषा इतनी सरल तथा मधुर है कि सीखनेवाले को अलंकार-विषय से अरुचि न होगी। इस गुण में 'कर्णाभरण' 'भाषाभूषण' से भी आगे है।

'कर्णाभरण' की रचना दोहों में हुई है, परन्तु 'भाषाभूषण' के समान सर्वत्र ही दोहे के भीतर लक्षण-उदाहरण नहीं समा पाये; कुछ लक्षणों तथा कुछ उदाहरणों के लिए कवि को स्वतन्त्र दोहे भी लिखने पड़े हैं। इस पुस्तक में सामान्यतः 'चन्द्रालोक' का ही अनुकरण मिलेगा। लेखक ने विषय-प्रतिपादन में कहीं-कहीं नवीनता भी दिखलायी है, परन्तु अधिक नहीं, और जितनी है भी उसको आचार्य की मौलिकता नहीं कह सकते। गोविंद कवि के उदाहरण मौलिक तथा स्वतंत्र हैं, विशेषोक्ति का उदाहरण देखिए :—

तुव कृपानि पानिपमई, जदपि नरेस दिखाति ।
तऊ प्यास पर-प्रान की, या की नाहिं बुझाति ॥

'कर्णाभरण' नाम की एक अलंकार-पुस्तक करनेस ने सं. १६३७ के लगभग लिखी थी और ऐतिहासिक महत्त्व के कारण वही अधिक प्रसिद्ध है। संभव है गोविंद कवि को उस पुरानी रचना का ज्ञान न भी रहा हो।

दूलह : कवि-कुल-कंठाभरण

(सं० १८०० वि०)

कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और कवीन्द्र के पुत्र दूलह कवि ने सं. १८०० वि. के लगभग अपनी एकमात्र पुस्तक 'कवि-कुल-कंठाभरण' लिखी, जिसमें कुवलयानन्द के समान केवल अलंकार-विषय का संक्षिप्त[1] विवेचन है। आचार्य केशव के अनुकरण पर दूलह ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि विधाता (पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी) चार जाति की स्त्रियों को गति, वर्ण तथा यथायोग्य लक्षणों से युक्त बनाकर कृतकृत्य हो जाता है परन्तु समाज में उन चारों ही जाति की स्त्रियों की शोभा आभूषण के बिना नहीं है; ठीक इसी प्रकार कवि अपनी कविता को चरण, वर्ण तथा ललित लक्षणों से युक्त बनाकर ही संतुष्ट होता है परन्तु सभाओं में उस कविता का सम्मान अलंकार के बिना नहीं होता :—

चरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझै करतार।
बिन भूषण नहिं भूषई कबिता, बनिता चार ।।२।।

केशव ने इस बात का संकेत भर किया था कि यद्यपि अलंकार पर ध्यान न देने से भी अच्छी कविता कवि-कर्म की सफलता सिद्ध करती है परन्तु सभा में सम्मान अलंकार से ही मिलता है[2]; दूलह ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है। काव्य की दो कसौटियां हैं—आत्मसंतोष तथा समाज में यश; आत्मसंतोष तो अपनी कृति में सबको मिलता है परन्तु कृति की सूक्ष्मता तक सभा नहीं जा सकती, इसलिए सभा में ख्याति उसी व्यक्ति को मिलेगी जो अपनी कृति को अलंकारों से भी सुसज्जित कर लेगा। दूलह के इस मत से किसी का विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य काव्य, सभा या दरबार में उतना सम्मान नहीं पा सकते जितना कि अलंकारप्रधान चित्रकाव्य—विद्वन्मण्डली या रसिकसमाज का भी विद्वत्स्तर या रसिकस्तर सबके एकत्र होने के कारण गिर जाता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रश्न यह नहीं है कि काव्य की आत्मा क्या है, या उत्तम काव्य कौन सा है; यहां तो दूलह ने परंपरा से ही जो चला आता है उसी को स्वीकार कर लिया है; परन्तु अपने नित्य अनुभव से वे कवियों को दरबार में सम्मान प्राप्त करने का रहस्य समझा रहे हैं।

जिस अलंकार का इतना महत्त्व है उसके विषय में अनेक विद्वानों (कवियों) ने बड़े विस्तार से विचार किया है। प्रस्तुत पुस्तक उसी विचार-सागर में प्रवेश करने का एक लघु प्रयत्न है :—

---

१. **थोरे क्रम-क्रम तें कही अलंकार की रीति।१।**

२. **जदपि सुजाति, सुलक्षणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त।**
भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त।। (कविप्रिया ५।१।)

दीरघ मत सत कबिन के, अर्थाशय[1] लघुतर्ण ।
कबि दूलह याते कियो, कवि-कुल-कंठाभर्ण ॥३॥

जो व्यक्ति इस पुस्तक को कण्ठ कर लेगा वह सभाओं में अलंकार[2] का अधिकारी तथा ज्ञाता कहलाकर सम्मानित किया जावेगा। दूलह के इस कथन से हमको उस समय की सभाओं में रहने वाले 'अलंकृती' का संकेत मिलता है—जो व्यक्ति अलंकार-युक्त कविता रच सके और अलंकारविषय का ज्ञाता भी हो वही 'अलंकृती' है; इस युग के अधिकतर साहित्यिक न तो 'आचार्य' (दूलह के शब्दों में 'सतकवि') थे और न 'कवि' (दूलह के शब्दों में 'करतार'), उनको दोनों के गुणों से प्रभावित 'अलंकृती' ही कहना अधिक उचित है।

'कंठाभरण' में 'कुवलयानन्द' के समान 'जायापती' 'पारबती-शिव' की ही स्तुति है, अर्थालंकार के अतिरिक्त दूसरे विषय का नाम भी नहीं है, और अलंकारों का क्रम तथा उनकी संख्या बिल्कुल 'कुवलयानन्द' के ही समान है—'भाषाभूषण' के समान संख्या में असावधानी नहीं है। अतः कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक दोनों का नाम लेने पर भी यहां हम मुख्य ऋण कुवलयानन्द का ही मानते हैं, विषय के अवगाहन से भी इसी मत की पुष्टि होती है। एक बात और, आचार्य जयदेव ने छोटे-से-छोटे तथा प्रचलित छंद में लक्षण उदाहरण देकर छुट्टी पा ली थी, अप्पय दीक्षित ने अलंकार-विषय पर ही पुस्तक लिखी और श्लोकों के साथ वृत्ति भी जोड़ दी। कवि दूलह ने 'संक्षेप' का अर्थ 'छोटा छन्द' नहीं लिया प्रत्युत 'संक्षिप्त कथन' माना है—अतः इस पुस्तक के ८१ छंदों में से केवल (प्रायः प्रारंभ में) ८ दोहे हैं, १ सवैया, तथा शेष सब कवित्त।

अलंकारों की संख्या

आचार्य जयदेव नवीन अलंकारों की स्वीकृति के पक्ष[3] में थे, इसलिए अत्युक्ति (५।११६) के निरूपण के अनन्तर उन्होंने रसवत् आदि अलंकारों की चर्चा की है; उनकी प्रेरणा से अप्पय दीक्षित ने १५ अन्य अलंकारों[4] का भी विवेचन कर दिया, दूलहकवि ने भी वैसा ही किया और इस कदम में 'कुवलयानन्द' को प्रमाण माना :—

अरथालंकृत शत प्राचीन कहे ते कहे,
आधुनिक सत्तरि-बहत्तरि प्रमाने हैं।
कहै कवि दूलह सु पंचदस औरौ सुनौ,
औरौ और ग्रंथन सो जे वे ठीक ठाने हैं।[5]

---

(१) तुलना कीजिए :—
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहाद् उडुपेनास्मि सागरम्॥ (रघुवंश, १।२।)

(२) सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय।४।

(३) अलंकारेषु तथ्येषु यद्यतास्था मनीषिणाम्।
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नास्नाय इष्यताम्॥ (चन्द्रालोक।५।१२५)

(४) एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः। (कुवलयानन्द, १७१)

चारि रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्व, समाहित हैं
तीन भाव उदै, संधि, सबलता साने हैं।
परतच्छ प्रमुख प्रमान आठौ अलंकार
कुवलयानन्द में बखाने जग जाने हैं ॥७१॥

यहाँ 'प्राचीन' तथा 'आधुनिक' शब्दों पर ध्यान दीजिए। आचार्य जयदेव ने 'अर्वाचीन' कहकर नये अलंकारों का कथन किया है, आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'प्राचीनों' तथा 'आधुनिकों'[1] के मतों को ध्यान में रखकर अलंकार-शत की विवेचना की थी; दूलह ने इन शब्दों का प्रयोग संस्कृत के इसी शास्त्रीय अर्थ में किया है—'प्राचीन' तथा 'आधुनिक' विशेषण हिन्दी के 'अलंकृतियों' के लिए नहीं प्रयुक्त हुए प्रत्युत संस्कृत-आचार्यों के दो वर्गों की ओर संकेत करते हैं। अलंकार का विवेचन करते समय 'प्राचीन' से अभिप्राय पूर्व-ध्वनि काल के अलंकारवादियों से है और 'आधुनिक' से जयदेव आदि का संकेत समझना चाहिए। हम हिन्दी के जसवंतसिंह आदि को 'प्राचीन' तथा केशव, देव आदि को 'आधुनिक' आचार्यों में नहीं ले सकते—इनमें तो 'प्राचीन' आचार्यों का अनुकरण मात्र मिलता है। मिश्रबन्धुओं के इस मत से भी हम सहमत नहीं हो सकते कि "उनके (दूलह के) समय में लोग केवल ७० या ७२ अर्थालंकार मानते थे ...... दूलह संख्या बढ़ाने के पक्ष में हैं"[2]।

नाम, लक्षण यथा भेद

दूलह में अलंकारों की संख्या तो कुवलयानन्द के अनुसार है ही, विवेचन का क्रम तथा अलंकारों के नाम भी उसी के अनुकरण पर हैं; सर्वत्र हमारे 'अलंकृती' को चन्द्रालोक की अपेक्षा कुवलयानन्द के प्रति पक्षपात है। गड़बड़ केवल एक स्थान पर है, 'व्याजोक्ति' नाम दो बार आ गया है। एक बार कुवलयानन्द के व्याजस्तुति तथा व्याजनिन्दा अलंकारों को मिलाकर (कवित्त ३४) एक नाम 'व्याजोक्ति' दे दिया गया है—यहां दूलह की अपेक्षा मिश्रबन्धुद्वय की भूल अधिक मालूम देती है, क्योंकि दूलह ने 'व्याजोक्ति' शब्द का प्रयोग इस प्रसंग में किया ही नहीं, टीकाकार महोदयों ने अपनी ओर से इसे जोड़ दिया है। 'व्याजोक्ति' अलंकार दूसरी बार सूक्ष्म तथा पिहित के बाद (कवित्त ६५) कुवलयानन्द के समान ही आता है।

मिश्रबन्धुद्वय के मत में दूलह ने ११७ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण लिखे हैं (दे. कवि-कुल-कंठाभरण सटीक, भूमिका, पृ. ५), परन्तु दूलह स्वयं कहते हैं कि उन्होंने "अरथालंकृत शत" तो प्राचीनों के मत से कहे हैं तथा "पंचदस औरौ" "कुवलयानन्द में बखाने" हुए बतलाये हैं अर्थात् कुल मिलाकर १००+१५=११५ अलंकारों का विवेचन है। टीकाकारों ने व्याजनिन्दा का तो नाम छिपा दिया जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, और भाषाभूषण के ही अनुसार उत्तर अलंकार के एक भेद 'चित्रोत्तर' को एक स्वतन्त्र

(१) इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः। (कुवलया., १६९)

(२) कवि-कुल-कंठाभरण सटीक, पृ. ७१

अलंकार 'चित्र' मान लिया---अस्तु संख्या १०० ही गिना दी, यह भूमिका तथा टीका का आपस में विरोध बड़ा मनोरंजक है।

ऐसा जान पड़ता है कि दूलह के सामने 'भाषाभूषण' भी था; यद्यपि कहीं भी इस पुस्तक का संकेत नाम लेकर नहीं किया। 'उत्तर' अलंकार का नाम 'गूढोत्तर', 'विशेष' का 'विशेषक' लिखना तथा 'चित्रोत्तर' को स्वतन्त्र अलंकारत्व देना हमारी संभावना को पुष्ट करते हैं।

हिन्दी अलंकृतियों में अलंकारों के लक्षणों की विशेषता नहीं है, आधार सबका कोई न कोई संस्कृत ग्रन्थ है, यदि कहीं परिवर्तन मिलता है तो केवल सुगमता को ध्यान में रखकर किया गया ही। अधिकतर लोगों ने सभी अलंकारों के लक्षणों को देने की आवश्यकता भी नहीं समझी, दूलह भी ऐसे ही आचार्य थे, वे अलंकारों का विवेचन नहीं कर रहे, परिचय करा रहे हैं। इसलिए उनके कवित्त में अलंकार का नाम, अलंकार का उदाहरण और उसका लक्षण तीनों ही मिल जावेंगे---मुख्य है नाम, तब उदाहरण को ग्रहण कीजिए, और लक्षण तो यदि संभव हो सका तो दे दिया जायगा (नाम, उदाहरण अथवा लक्ष्य, तथा लक्षण---यह क्रम इन तीनों का सापेक्षिक महत्त्व बतलाता है, न कि वर्ण्य विषय का क्रम)---

जानिबे के हेतु कवि दूलह सुगम कियो,
नाम लच्छ्य लच्छन कवित्त ही सों जानिए।८।

कुछ अलंकारों के लक्षण देखिए। परिणाम अलंकार में क्रियासम्बन्ध से विषयी का विषय पर आरोप होता है। यदि क्रियासंबंध न होगा तो वह परिणाम न होकर रूपक अलंकार बन जाएगा---मम्मट ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया इसलिए परिणाम को रूपक से भिन्न अलग अलंकार नहीं माना। आचार्य जयदेव ने विषयी और विषय के अभेद का 'पर्यवसान' कहकर क्रियासम्बन्ध का ही संकेत किया है। टीकाकार अप्पय दीक्षित ने स्पष्ट ही 'क्रियार्थश्चेत्'[1] पद का सबल प्रयोग किया है। भाषाभूषण में भी "करै क्रिया" पद है, परन्तु दूलह का लक्षण है :---

"विषयी विषै ह्वै फुरै जानौ परिणाम" (१४)

इसमें क्रियासंबंध का कथन नहीं है, "ह्वै फुरै" से यह संकेत लेना खींचातानी करना है।

जिन अलंकारों के कई भेद शास्त्र में प्रचलित हैं उन अलंकारों के लक्षण दिये ही नहीं, केवल भेदों की विशेषताओं को समझा दिया है। उपमा अलंकार के संबंध में इस 'अलंकार के अंग' बतला दिये हैं---उपमान, उपमेय, वाचक, धर्म; विषयी, अवर्ण्य; विषय, वर्ण्य; प्रस्तुत, अप्रस्तुत। परन्तु न तो उपमा का लक्षण है और न उसके भेदों का। अपह्नुति उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति के विषय में भी यही बात है। अतिशयोक्ति के प्रसंग में दूलह ने सर्वप्रथम रूपकातिशयोक्ति का परिचय करा दिया है उदाहरण देकर भी, फिर सापह्नवा के लिए लिखते हैं :---

---

(१) 'चेत्' से यह संकेत है कि क्रियार्थ के बिना यह अलंकार नहीं माना जा सकता।

कहै कवि दूलह अपह्नुति गरभ वहै,
सापह्नवा बरण विशेष रचना लही।२०।

इस लक्षण से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता, 'वहै' रूपकातिशयोक्ति के लिए माना जाय तो सब कुछ गड़बड़ हो जायगा। वस्तुतः यहां 'वहै' से अभिप्राय 'अतिशयोक्ति' का है परन्तु दूलह ने ऊपर अतिशयोक्ति का तो लक्षण दिया ही नहीं। इस प्रकार की असावधानी अनेक स्थलों पर मिलती है।

स्मृतिमान्, भ्रान्तिमान् तथा संदेह के लक्षण तो परम्परा से इन अलंकारों के नाम[1] ही बतलाया करते थे। सहोक्ति जैसे अलंकार में चमत्कार का ही तो चमत्कार है, जयदेव ने इसीलिए इसके लक्षण में 'जनरंजन' पद का प्रयोग किया था। अप्पय दीक्षित ने इसको ज्यों का त्यों ले लिया है, जसवंतसिंह ने इसके स्थान पर 'रससरसाइ' रखा है। परन्तु दूलह कवि लिखते हैं :—

भासै सहभाव जहां उक्ति सो सहोक्ति आवै,
कोऊ गौनहाई संग हरि के फिरति है।२८।

इस चरण के पूर्वार्द्ध में 'भासै सहभाव' ही पर जोर है, परन्तु सहभाव का आभास ही तो सहोक्ति नहीं है, जब तक सहभाव चमत्कारजन्य न होगा तब तक अलंकारत्व न आ सकेगा—'भासै' से चमत्कार का संकेत नहीं माना जा सकता।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि दूलह कवि के कुछ लक्षण बड़े स्पष्ट तथा सुगम हैं, उदाहरण देखिए :—

(क) **वर्ण्यन को अथवा अवर्ण्यन को एकै धर्म,**
तुल्ययोगिता सो कवि त्रिविध बिचारी है।२३।

(ख) **वर्ण्य को अवर्ण्य को धरम एक दीपक है। २४।**

(ग) **दोऊ वाक्य सम जहाँ धर्म है अरथ एक तहाँ प्रतिवस्तूपमा भनत अमंद है।२५।**

(घ) **बिंब प्रतिबिंब देखौ तहांई दृष्टांत लेखौ। २५।**

(ङ) **दोऊ वाक्य अरथ समान वृत्ति निदर्शना।२६।**

(च) **हेतु बिन कारज की उपज विभावना है। ३६।**

तुल्ययोगिता तथा दीपक अलंकारों का परस्पर भेद बड़ा सूक्ष्म है, दूलह कवि के लक्षणों से वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—भाषाभूषण में यह स्पष्टता थी ही नहीं। प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त के परस्पर भेद में भी यही बात है, दूलह ने पहिले यह बतलाया है कि इन अलंकारों की समता वाक्यों में है शब्दों में नहीं, दूसरी बात यह है इस वाक्यसाम्य में धर्म का कथन दो प्रकार की भिन्न शब्दावलियों में कहा जावेगा, यद्यपि इन वाक्यावलियों का अर्थ एक ही होगा; दृष्टान्त और कुछ नहीं तुल्ययोगिता में जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव दिखलायी पड़े वहीं दृष्टान्त अलंकार कह दीजिए। निदर्शना तथा विभावना के लक्षण भी कितने सुगम तथा स्पष्ट हैं। इन लक्षणों में कोई नई बात तो नहीं है, सब कुछ संस्कृत में था उतना ही स्पष्ट परन्तु भाषाभूषण के दोहों में वह सफाई न आ पाई थी—संभव है दूलह कवि

(१) **नाम ही तें जानि लीजौ लच्छन के तौर हैं। (१५)**

की इस सुगम शब्दावली का एक मुख्य कारण कवित्त जैसे बड़े छन्द का प्रयोग हो।

उपमा के दो भेद---पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा---सर्वमान्य हैं। अप्पय दीक्षित ने लुप्ता के ८ उपभेद स्वीकार किये हैं। दूलह ने इन उपभेदों को माना है और "कुवलयानन्द चन्द्रालोक[1]" के मत का प्रमाण रूप में उल्लेख किया है---कुवलयानन्द में तो उपमा का यह प्रपंच है परन्तु चन्द्रालोक में नहीं। अतिशयोक्ति के प्रसंग में सम्बन्धातिशयोक्ति तथा असम्बन्धातिशयोक्ति दो अलग भेद न मानकर भाषा-भूषण के अनुसार असम्बन्धा को सम्बन्धा का एक उपभेदमात्र माना है। आवृत्तिदीपक के तीनों भेदों को स्पष्टतः अलग-अलग भी कह दिया है---कुवलयानन्द में नाम अलग-अलग नहीं बतलाये गये थे (केवल वृत्ति में स्पष्ट किये गये हैं)। व्यतिरेक के भी कुवलयानन्द की वृत्ति के अनुसार तीन भेद हैं। अन्यत्र भी भेदों तथा उपभेदों में कुवलयानन्द का अनुकरण है और श्लोकों के अतिरिक्त वृत्ति से भी काफी सहायता ली गयी है। वस्तुतः दूलह ने कुवलयानन्द का अच्छा अध्ययन किया होगा, वे इसका ऋण भी स्वीकार करते हैं।

अलंकारों के उदाहरण

अन्य अलंकृतियों के समान दूलह की भी प्रतिभा अलंकारों के उदाहरणों में ही देखी जा सकती है, लक्षण तो सबको बने बनाये मिल गये थे---भाषा में अनुवाद करने में ही इनकी कला है। दूलह के उदाहरणों में कुछ विशेषताएँ देखने योग्य हैं :---

(क) अधिकतर लोग अलंकारों को समझाने के लिए लक्षण तथा उदाहरण देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं, परन्तु पाठक के सामने एक कठिनाई अलंकारों के पारस्परिक अन्तर को समझने में आती है; प्रायः अलग-अलग शब्दावलियों में उदाहरण होने के कारण उदाहरणों से पारस्परिक अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता। एक ही अलंकार के विभेदों का सूक्ष्म अन्तर तो और भी कठिन बन जाता है। इस सूक्ष्म अन्तर को समझाने का एक मुख्य उपाय है एक ही शब्दावली में सबके उदाहरण देना। शायद दूलह ने इस रहस्य को समझा था। रूपक अलंकार के दो भेद---अभेद तथा तद्रूप---करके फिर प्रत्येक भेद के ३ उपभेद---अधिक, सम तथा न्यून कर दिये हैं। उदाहरणों में एक ही शब्दावली उपभेदों के सूक्ष्म अन्तर को आसानी से स्पष्ट कर देती है। अभेद रूपक के उपभेदों के उदाहरण देखिए :---

राम अवियोगी तुम, राम तुम यज्ञपाल,
राम तुम लंक के विरोध विन ही अहे ।१३।

यहां "राम तुम" से तो अभेद रूपक का सामान्य उदाहरण बन गया। अब "तुम राम (परन्तु) अवियोगी" से अधिक का उदाहरण मिला---राम महान् थे तुम वही (उनके समान) हो परन्तु राम वियोगी थे तुम अवियोगी हो---उनसे 'अधिक' हो। सम में "तुम यज्ञपाल राम हो", राम भी यज्ञपाल थे तुम भी यज्ञपाल हो---दोनों में अभेद है

---

(१) **कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते ते कहीं,**
लुपता ये आठौ आठौ पहर प्रमानिए ।९।

तथा समता (बराबरी) है। तीसरे उदाहरण में यह बतलाया गया है कि राम में लंकाविजय की सामर्थ्य थी तुम में नहीं है—अभेद होते हुए भी तुममें न्यूनता है।

(ख) कंठाभरण का छन्द कवित्त है जो लक्षण स्पष्ट करने में तो सहायक है परन्तु उदाहरण में इसके कारण दोष आ गये हैं। अगर छोटे छंद का प्रयोग होता तो उदाहरण अधिक संयत तथा स्पष्ट होता। बड़े छन्द के कारण कंठाभरण के उदाहरणों में दो मुख्य दोष आये हैं :—

(१) एक छन्द में एक ही अलंकार का लक्षण तथा उदाहरण तो बहुत बड़ा हो जाता, और आधे छन्द में एक अलंकार का तथा शेष आधे में दूसरे का लक्षण-उदाहरण भी शायद अधिक सुगम न बन पाता। इसलिए दूलह ने एक छंद में पहिले तो दो-तीन अलंकारों के लक्षण दे दिये हैं फिर उनके क्रमशः उदाहरण हैं। यदि एक ही अलंकार के भेदों को इस प्रकार एक छंद में रखा जाता तो भी क्षम्य था, परन्तु यहाँ तो परस्पर में असम्बद्ध अलंकार भी इसी प्रकार रखे हुए हैं (आक्षेप तथा विरोधाभास; विकल्प समुच्चय तथा कारकदीपक; मुद्रा रत्नावली तद्गुण तथा पूर्व रूप आदि)। यह दोष भाषाभूषण में भी था परन्तु वहाँ अलंकार-भेदों के ही साथ ऐसा व्यवहार था और यहाँ स्वतन्त्र तथा दूर-दूर के अलंकार भी इसी प्रकार रखे हुए हैं।

(२) दूसरा दोष है उदाहरणों में भर्ती के शब्द या वाक्यांश। छंद के चरण को पूरा करने के लिए कुछ शब्द या कोई वाक्यांश ऐसे भी आ जाते हैं जो पाठक को भ्रान्ति में डाल सकते हैं। अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिए :—

सुधाधरमुखी जो सुधाधर उदित भयो
मेरे जान करत है वसुधा सुधामई।१८।

यहां 'सुधाधरमुखी' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है और पाठक को भुलावे में डाल देता है। विशेषतः इस चरण में 'सुधा' शब्द को चार बार देखकर वह यह सोचने लगता है कि चमत्कार इस शब्द पर लेखक का अभीष्ट है।

सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण में तो पूरा चरणार्द्ध ही व्यर्थ है और युग की हलकी प्रवृत्ति को ही दिखलाता है :—

लंक की बिसालता लै उरज उतंग भए,
रंग कवि दूलह है तेरे मनसूबे को।१९।

पर्यस्तापह्नुति के उदाहरण में भी इसी प्रकार उत्तर-चरणार्द्ध अनावश्यक तथा भ्रामक है :—

है न सुधाधर में सुधा है तो अधर में
सुकर में सराहौ प्यारी रसना हमारी के।१६।

(२A) इसी अनावश्यक दोष का एक घातक रूप है उदाहरण को किसी अन्य अलंकार का उदाहरण बना देना भरती के कारण। रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण है :—

चारु चंद-मंडल मैं विद्रुम विराजै, छन्द
मोतिन के छाजैं ते छपाये छपते नहीं।२०।

इस चरण का पूर्वार्द्ध तो रूपकातिशयोक्ति का उपयुक्त उदाहरण है परन्तु उत्तरार्द्ध से विशेषोक्ति की गंध आती है---प्रयत्न करने पर भी कार्य न होना। दाँतों को मोती (हीरा) कहना ठीक है और ओष्ठों की लाली विद्रुम के समान होती है, परन्तु मोतियों की छाज से विद्रुम की कान्ति न छिपना उस चमत्कार को न्यून कर देता है जो रूपकातिशयोक्ति में अभीष्ट है।

इसी प्रकार अन्योन्य का लक्षण देखिए :--

स्याम सों बिपति राधा, राधा सों दिपत स्याम,
स्याम-राधिका सों सोभा आलम तमाम की।४३।

अलंकार का चमत्कार पूर्वार्द्ध में ही स्पष्ट हो जाता है, अतः उत्तरार्द्ध व्यर्थ है---यदि श्यामराधिका से तमाम आलम की शोभा है तो तमाम आलम से श्यामराधिका की शोभा होनी चाहिए, तभी अन्योन्य का चमत्कार होगा।

(ग) दूलह के कुछ उदाहरण अशक्त या अनुपयुक्त हैं। प्रथम प्रतीप के उदाहरण में "कुच से कमनीय बने करि-कुंभ" कहने से शास्त्रीय नियमों का भले ही उल्लंघन न हो, परन्तु सौंदर्य का चमत्कार नहीं है, ऐसा जान पड़ता है मानो प्रस्तुत विषय ही करि-कुंभ है और कुच वस्तुतः अप्रस्तुत है---व्यक्तिविशेष के निर्देश के अभाव में यह साम्य बड़ा हास्यास्पद बन गया है। पंचम प्रतीप का उदाहरण भी विषय को स्पष्ट नहीं करता :--

राम तन ताके काम काके मन भायो है।१२।

राम और काम में शारीरिक सौंदर्य की भी समानता है, परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'जिसके मन में राम हैं उसके मनमें काम नहीं आ सकता,' तो भक्तिभाव की ही व्यंजना होती है। यह प्रकट नहीं होता कि राम और काम के सौन्दर्य की तुलना हो रही है।

परिणाम के उदाहरण इस प्रकार हैं :--

प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा---कुवलयानन्द
लोचन-कंज बिसाल तें देखति देखौ बाम---भाषाभूषण
नाँध्यौ सिन्धु राम-पद-पंकज प्रभाव तें---कंठाभरण

कंज में देखने की सामर्थ्य नहीं होती परन्तु उपमेय नेत्र की सामर्थ्य स्वाभाविक है। इधर पंकज में तो समुद्र-लंघन की शक्ति होती ही नहीं "पद" में भी उतनी स्वाभाविक नहीं---और किसी के पद के प्रभाव से दूसरे का समुद्र पार जाना इस अलंकार का चमत्कार भी नहीं है।

प्रौढोक्ति आदि के उदाहरण में भी यही अशक्ति देखी जा सकती है।

(घ) उदाहरणों का एक दोष यह भी है कि उदाहरण न देकर परिस्थितियों का संकेत कर दिया जाय। छेकापह्नुति तथा उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के उदाहरण देखिए। छेकापह्नुति नाम ही चतुराई से बात के छिपाने के कारण पड़ा है, परन्तु दूलह ने 'सपन कहानि ठानि' 'तथ्य गोपना' से इसका उदाहरण दिया है :--

आन सुनि संका मानि, सपन कहानी ठानि,
वहै छेकापह्नुति जु तथ्य गोपना करै।१७।

वस्तुतः यहाँ उदाहरण है नहीं, उसकी परिस्थितियों का चित्र उपस्थित हो गया है। उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा में :—

चांदनी में बिरले निहारे नभ-तारे, संक,
तारन में हारन की उक्त-विषया भई।१८।

यहाँ भी परिस्थितियाँ बतलाई हैं जिनमें यह अलंकार हो सकता है—'संक' शब्द और भी खटकता है।

(ङ) चमत्कारहीन उदाहरण सचमुच भार बन जाते हैं। अतिशयोक्ति के उदाहरणों में यह बात ध्यान देने की है। दूलह ने अक्रमा तथा अत्यन्ता में चमत्कार को भुला दिया है :—

(१) अक्रमातिशयोक्ति कारन औ' काजसंग
जा हित बोलाई दूती ताहि लै पधारी है।
(२) पीछे ते मनायबे को ललिता सिधारी, पहिले
ही प्रान-प्यारी तन धारी स्याम सारी है।२२।

जिस रूठे हुए प्रिय को मनाने के लिए दूती को बुलाया था उसे पहिले से ही दूती साथ लेती आयी—यहाँ भावनाओं का चमत्कार अधिक है, अलंकार का कम। दूसरे उदाहरण में भी वर्णन वास्तविक होने के कारण अलंकार का चमत्कार नहीं रहा।

(च) उदाहरणों में अनुपयुक्त शब्द विशेष का प्रयोग सौंदर्य को नष्ट कर देता है। समासोक्ति में :—

राती बनलता गेह साखी सों भिरति है।२८।

'भिरति' क्रिया 'आलिंगन' का अर्थ देकर शृंगार की व्यंजना नहीं करती—'भिड़ना' का अर्थ है 'झगड़ा करना' या 'कुश्ती लड़ना', 'आलिंगन करना' नहीं (भले ही कुश्ती में आलिंगन भी हो जाता हो)।

दूसरी तुल्ययोगिता का सरस्वतीकण्ठाभरण में लक्षण है "**हिताहितविषयक समान-वृत्तिकत्व**", दूलह के उदाहरण में 'समानवृत्त' तो है 'जुदा करै', परन्तु 'हित' तथा 'अहित' नहीं है :—

हार सोतिन जुदा करै निसा में निरधारी है।२३।

सवति तो हितु हो नहीं सकती, मुक्ताहार भी हितु कैसे हो सकता है—प्रिय का आलिंगन करते समय छाती पर पड़ा हुआ हार ही सबसे अधिक अप्रिय लगता है।

(६) उदाहरणों में एक और दोष देखिए। असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा में—

ताही कटि-खीनता को नातो मानि सिंह हनै,
तो गति गहैया गज अजब अजूबे को।१९।

चमत्कार दोहरा है—सिंह की कटि से तथा गज की गति से समानता, और पराजित सिंह का गज-वध। यह तो प्रत्यनीक का चमत्कार हो गया, साहित्यदर्पण में प्रत्यनीक के उदाहरण में जो श्लोक है मानो यह उसी का छायानुवाद हो :—

मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्यम् ।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ।[१]

दूलह ने[२] काव्यादर्श के मेल में यह उदाहरण बनाया होगा। परन्तु उन्होंने दो बातें भुला दीं---(क) दण्डी ने प्रत्यनीक अलग अलंकार नहीं माना इसलिए वे इस उदाहरण को हेतूत्प्रेक्षा का मान सकते हैं, (ख) दण्डी के उदाहरण में 'मन्ये' शब्द के आ जाने से संभावना स्पष्ट हो जाती है,[३] परन्तु दूलह के उदाहरण में 'संभावना' का कोई चिह्न नहीं है।

मूल्यांकन

कवि-कुल-कंठाभरण की अपनी सीमाएँ हैं, परन्तु इसके गुण भी स्पष्ट ही हैं; उस समय के साहित्यिक वातावरण का हलका-सा चित्र इस पुस्तक के भूमिका-भाग से भली भाँति स्पष्ट हो सकता है; दूलह के कुछ लक्षण कितने सुगम तथा स्पष्ट हैं---यह ऊपर दिखलाया जा चुका है; लक्षणों की कुछ विशेषताएँ भी ऊपर आ गई हैं। यहाँ यह कहना भी आवश्यक-सा जान पड़ता है कि दूलह ने कुवलयानन्द को अपना आधार बड़ा समझ-बूझकर बनाया था, उस पर बाहरी आचार्यों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही है। जो नीरसता इस पुस्तक में दिखायी पड़ती है उसके दोनों ही कारण हैं; आचार्यत्व तथा बड़ा छन्द (शायद एक दूसरे के साधन हैं)। दूलह में वह सस्ती भावुकता नहीं है जिसके कारण पाठक प्रसंग-भ्रष्ट हो सके। दूलह की अलग कोई मान्यता नहीं, वे मूलतः अप्पय-दीक्षित से सभी सिद्धांतों में सहमत हैं। 'अलंकृती', 'सतकवि', तथा 'करतार' शब्दों का प्रयोग भी साभिप्राय किया गया है (हम पीछे विचार कर चुके हैं)।

दूलह के कुछ उदाहरण निश्चय ही बालोपयोगी तथा ललित हैं। व्यतिरेक, उल्लेख, कारणमाला, सार तथा ललित इसके प्रमाण हैं। दूसरे उल्लेख का उदाहरण है :---

बारि मध्य बान जान्यौ, कोट में कृशानु जान्यौ,
वेत में अंगूठी संत जान्यौ सत भाव तें।१४।

दूलह को पुराण से भी प्रेम था, उनके वे उदाहरण जो भेदों या उपभेदों को समझाने के लिए एक ही घटना से लिये गये हैं, उनकी अपनी देन है (ऊपर भी उल्लेख हो चुका है)। यदि उदाहरण प्रसिद्ध रचनाओं से न लिये जावें तो प्रसिद्ध घटनाओं से तो आने ही चाहियें

---

(१) 'यह सुन्दरी अपनी पतली कमर के कारण मेरी कमर से जीत जाती है'---ऐसा सोचकर सिंह (चिढ़कर) उस नायिका के स्तनों के समान हाथी के कुम्भों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

(२) मध्यं दिनार्कसंतप्तः सरसीं गाहते गजः।
मन्ये मार्तण्डगृह्याणि पद्मान्युद्धर्तुमुद्यतः ।२२२।

(३) अत्र केचित् प्रत्यनीकालंकारमुद्भाव्य संकरं ब्रूते ।....परं नैतत् समंजसम्। आचार्यदण्डिना तस्यास्वीकारात् । अपरं चात्र कविना तत्पक्षोद्धरणस्य संभावनामात्रेण कल्पितत्वेन प्रतीकारस्य तात्त्विकवर्णनं कवेः नाभिप्रेतम्। (काव्यादर्श, टीकाभाग, पृ० २२७)

क्योंकि उनसे मन का रंजन अधिक होता है । मार आदि के उदाहरण मनोहर तथा रमणीय हैं :——

(क) सब तें मधुर ऊख, ऊख तें पियूष औ'
पियूख हू ते मधुर अधर प्रानप्यारी को ।४७। (सार)

(ख) कढ़ि गयो भान, अंब मांगती हौ सायबान,
मैन-मद-पोखी तेरी नोखी रीति जानिए ।५५। (ललित)

(ग) नैनन सों नेह होत, नेह सों मिलाप होत
रावरो मिलाप सब सुखन समाजै री ।४६। (कारणमाला)

दासकवि : काव्य-निर्णय

(सं० १८०३)

प्रतापगढ़-नरेश राजा पृथ्वीपति सिंह के अनुज हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में कविवर भिखारीदास (उपनाम 'दासकवि') ने 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ की रचना सं. १८०३ में की[1]। दास हिन्दी के अग्रगण्य आचार्यों में हैं। आचार्य केशवदास हिन्दी के आदि तथा सर्वोपरि आचार्य माने जाते हैं, उनका अध्ययन बड़ा विशाल था; परन्तु कुछ बातों में दास केशव से बढ़कर हैं। सम्भव है दास का अध्ययन मात्रा में केशव से न्यून रहा हो, परन्तु वे आचार्य-कर्म में केशव से अधिक सफल हैं---जटिल विषय को भी सरल तथा सुगम रीति से हृदयंगम कराने की शक्ति उनमें केशव से अधिक है। 'काव्य-निर्णय' की रचना में दास ने काव्यप्रकाश तथा चन्द्रालोक का ऋण स्वीकार किया है और दूसरे कवियों के प्रति भी कृतज्ञता प्रदर्शित की है; परन्तु इनसे भी अधिक महत्त्व इस तथ्य का है कि दास को भाषा की 'सुरुचि'[2] का ध्यान रहा है---इस गुण में वे समसामयिक आचार्यों से सहज ही आगे बढ़े हुए हैं।

चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश आदि तच्छास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर दास के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भाषा में उस प्रकार के एक ग्रन्थ की रचना की जावे। यदि जो कुछ संस्कृत के उन ग्रंथों में लिखा है उसी को हिन्दी भाषा में कह दिया जाता तो उनकी रचना अनुवाद[3] मात्र बन जाती, और यदि सर्वत्र मौलिकता का ही आग्रह करते हुए वे चलते तो ग्रन्थ की उत्तमता सन्देहास्पद बनी रहती। अतः दासकवि ने उन ग्रन्थों का आश्रय भी लिया है और यथावश्यकता मौलिकता का समावेश भी किया है---संस्कृत आचार्यों के उन्हीं तथ्यों को स्वीकार किया है जो भाषा की रुचि के अनुकूल थे। जो लोग दास के विचारों से सहमत होंगे उनको तो इस नवीन ग्रन्थ की रचना से आनन्द मिलेगा ही, आश्रयदाता हिन्दूपतिसिंह ने इसका सम्मान किया है, और समकालीन विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है; अतः दास कवि का यह ग्रन्थ-रचना-रूप उद्यम व्यर्थ नहीं जा सकता, इसको भविष्य में भी स्थान मिलेगा; यदि भावी विद्वान् इस रचना से प्रभावित होकर इसकी प्रशंसा करेंगे तो दास का परिश्रम सफल हो गया, अन्यथा इस ग्रन्थ-रचना के व्याज

---

(१) अट्ठारह सै तीन कौ, संवत् आस्विन मास।
ग्रन्थ काव्यनिरनय रच्यो, विजय दसमि दिन दास॥

(२) बूझि सुचन्द्रालोक अरु, काव्यप्रकासहु ग्रंथ।
समझि सुरुचि भाषा कियो, लै औरौ कवि पंथ॥

(३) वही बात सिगरी कहे, उलथो होत इकंक।
निज उक्तिहि करि बरनिये, रहै सुकल्पित संक॥
यातें दुहुं मिश्रित सज्यो, छमिहैं कवि अपराध।

से राधाकृष्ण का स्मरण तो हो ही गया।[1] जो व्यक्ति भली भाँति समझकर इस काव्य-निर्णय ग्रन्थ को कण्ठथ कर लेगा उसकी रचना में भगवती भारती[2] सदा निवास करेगी ––कविता में उसकी गति हो जायगी।

काव्यनिर्णय का विषय

काव्यनिर्णय २५ उल्लासों का ग्रन्थ है। प्रथम में काव्यप्रयोजन आदि, द्वितीय में शब्दशक्ति, तृतीय में अलंकार, चतुर्थ में रस, पंचम में अपरांग, षष्ठ में ध्वनि, सप्तम में गुणीभूतव्यंग्य, अष्टम से अष्टादश तक फिर अलंकार, एकोनविंशतितम में गुण-वृत्ति आदि, विंशतितम में शब्दालंकार, एकविंशति में चित्र, द्वाविंशति में तुक, त्रयोविंशति में दोष, चतुर्विंशति में दोषोद्धार, तथा पंचविंशति में रस-दोष आदि का वर्णन है। इस प्रकार १४ उल्लास तो केवल अलंकार विषय में ही लग गये, ३ उल्लास दोष-विषय में, ४ रस आदि में, १ शब्दशक्ति में, १ गुणादि में, १ काव्यप्रयोजन आदि में, और १ उल्लास तुक विषय में लगा है। तुक का विवेचन दास कवि की मौलिकता है। अलंकारविषय का इतना विस्तार तथा ऐसा उल्लासीकरण भी एक विशेषता है। छन्द को दास ने अपनी रचना में स्थान नहीं दिया।

प्रथम उल्लास में मंगलाचरण आदि के अनन्तर काव्य प्रयोजन में दासकवि ने मौलिकता का आभास दिया है––केवल हिन्दी-कवियों के उदाहरण द्वारा, तथा यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान आदि के स्थान पर साधना, सम्पत्ति, यश एवं सुख को काव्यप्रयोजन मानकर। तुलसी और सूर का काव्य काव्यप्रकाश-स्वीकृत प्रयोजनों से अलग है, उसका फल 'सद्यः परनिर्वृत्ति' मात्र नहीं है––दास ने उसका फल 'तपपुञ्ज'[3] (=साधना) माना है। आगे काव्य की कान्तासम्मित-उपदेश प्रवृत्ति को स्वीकार करके काव्यहेतु में काव्यप्रकाश की वृत्ति का पूरा लाभ उठाकर प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास इन तीनों को समुदित रूप[4] से अनिवार्य मानकर दास कवि लिखते हैं कि जिस प्रकार धुरन्धर[5] (बैल) सूत, तथा चक्र-निपात तीन में से एक के बिना भी रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार शक्ति, शिक्षा,

---

(१) तातें यह उद्यम अकारथ न जैहै,
सब भांति ठहरैहै भलो हौं हूं अनुमानो है।
आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई,
न त राधिका-कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है।

(२) ग्रन्थ काव्यनिर्नयहि जो, समुझि करहिंगे कंठ।
सदा बसैगी भारती, ता रसना उपकंठ॥

(३) एक लहैं तपपुञ्जन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।

(४) त्रयः समुदिता न व्यस्तास्तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुः...।
(काव्यप्रकाश, वृत्ति)

(५) एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर, सूत की चक्र निपातैं।

निरीक्षण[१] इन तीनों की एकत्र स्थिति से ही कविता 'मनरोचक' हो सकती है। दास अभ्यास को भूल ही गये हैं, और शिक्षा के दो भाग कर बैठे हैं---शिक्षा तथा निरीक्षण।

काव्यलक्षण में दास पर विश्वनाथ का प्रभाव है, उन्होंने रस को काव्य में अंगी (अंग) माना है, अलंकार, गुण, रीति, (सरूप औ रंग)[२] सब को उत्कर्षहेतु, तथा दोषों को अपकर्षक कहा है। दो शब्द विचारणीय हैं--'अंग' तथा 'रंग' दोनों पारस्परिक तुक के लिए आये हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यनिर्णयकार ने रस को अंग, अलंकार को आभूषण, गुण को रूप-रंग, तथा दोष को कुरूपता बताया है; गुण-दोष परस्पर-विपरीत हैं इसलिए गुण को यदि रूप-रंग कहा जाय तो दोष को कुरूपता कहना उचित होगा---विश्वनाथ ने गुण को रस का नित्य धर्म समझ कर उसको शौर्यादिवत् और रीति को अवयवसंस्थानविशेष के समान कहा था, उनके मत में रूप-रंग के समान रीति बाह्य विशेषता है। दास कवि का भी यही मत है, उनके सोरठे का अन्वय इस प्रकार होगा---**कविता को अंग रस (है), भूषन गुन, सरूप-औ-रंग सकल भूषन हैं, दूषन कुरूपता करै (हैं)**। विश्वनाथ और भिखारीदास के क्रम में भेद अवश्य है, तात्पर्य में नहीं। 'अंग' का अर्थ 'शरीर' नहीं, प्रत्युत 'अंगी' या आत्मा है; यदि रस अंग माना जाय तो अंगी कौन होगा, और अंगी के बिना क्या किसी का अस्तित्व संभव है? अस्तु, भिखारीदास का इस सोरठे में 'अंग' से तात्पर्य 'अंगी' का ही मानना पड़ेगा।

इस उल्लास में भाषा-लक्षण का प्रसंग कवि की अपनी मौलिकता है; उसने भाषा में मुख्य स्थान ब्रजभाषा को दिया है[३] (अपनी मातृभाषा अवधी का पक्षपात नहीं किया)। संस्कृत तथा फारसी के मिश्रण द्वारा यह ब्रजभाषा (दो रूपों में)[४] प्रकट (व्यवहृत) होती होती है; षड्भाषा से अभिप्राय है ब्रजभाषा, मागधी, संस्कृत (अमर), (कदाचित्) अपभ्रंश (नाग ?) यवन भाषाएं, प्राकृत (सहज) तथा फारसी भी, यत्किंचित् मिश्रण के लिए--कविता[५] में षड्भाषा इन्हीं को समझना चाहिए। ब्रजभाषा से अभिप्राय ब्रज की बोली ही नहीं है, दूसरे प्रदेशों के कवियों ने भी अपने-अपनी विशेषताओं के दान द्वारा ब्रज-भाषा को एक साहित्यिक सर्वमान्य[६] रूप दे दिया है, वही रूप ब्रजभाषा की कसौटी है; और समर्थ कवि वही है जिसकी भाषा केवल ब्रजबोली ही न हो प्रत्युत विविध मिश्रणों द्वारा

---

(१) सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्हि विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों, देखी सुनी बहु लोक की बातैं॥

(२) रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता॥

(३) भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुकवि सब कोइ।

(४) मिलै संस्कृत पारसिहु पै, अति प्रगट जु होइ।

(५) ब्रज, मागधी, मिलै अमर, नाग जमन-भाषानि।
सहज, पारसीहू मिले, षट विधि कवित बखानि॥

(६) ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानीहू से जानिये।

उदार तथा व्यापक रूप वाली भाषा हो; तुलसी और गंग[1] इस भाषा-विषयक विशेषता के कारण भी महान् हैं।

अलंकार-वर्णन

'काव्यनिर्णय' में अलंकार-प्रसंग तीन बार आया है। प्रथम तो तृतीय उल्लास में 'पदार्थनिर्णय' तथा 'रसांगवर्णन' के बीच में 'अलंकारमूलवर्णन' के नाम से। द्वितीय बार अष्टम से अष्टादश उल्लासों तक। तथा तृतीय बार २०-२१ वें उल्लासों में शब्द-चित्र नाम से। यह तो समझ में आता है कि शब्दालंकार के दो उल्लास (२० तथा २१) दास कवि ने पृथक् रख दिये; परन्तु अर्थालंकार तथा शब्दालंकार के व्यवधान में गुण-वृत्ति को भरने का अभिप्राय क्या है? और शब्दालंकारों के उल्लासों को अर्थालंकारों के उल्लासों से बाद में क्यों रखा गया है? सम्भव है शब्दालंकार को शब्दमात्राश्रित जानकर दास ने शब्दप्रसंग में गुण-वृत्ति के साथ ही इनका वर्णन उचित समझा हो, और अर्थालंकार को उससे पूर्व अर्थ-प्रसंग में ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के साथ स्थान दे दिया हो।

अर्थालंकार विषय की दो बार चर्चा बड़ी अद्भुत लगती है। इतना अवश्य ठीक है कि आदि में विषय संक्षिप्त है, आगे चलकर सविस्तर। तृतीय उल्लास के प्रारम्भ में लिखा है :—

कहूं वचन, कहूं व्यंग में, परै अलंकृत आइ।
तेहि तें कछु संच्छेप करि, तिन्हहि वेत दरसाइ॥

'काव्य में (अलंकार भी एक नित्य सी वस्तु है; ये) अलंकार कहीं वाच्य होते हैं और कहीं-कहीं केवल व्यंग्य मात्र (परन्तु इनका अस्तित्व होता प्रायः सर्वत्र ही है); अतः इन अलंकारों की यहाँ कुछ संक्षिप्त चर्चा की जाती है।' काव्य में दासकवि अलंकार को एक विशेष महत्त्व देते थे—इसका काव्यनिर्णय में अलंकार-विषय के इतने विस्तार से भी समर्थन होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जिस अलंकार का इतना महत्त्व है, उसकी संक्षिप्त ही चर्चा क्यों की? और क्या इसी संक्षेप-दोष के सम्मार्जन के लिए ही आगे इतना विस्तार है?

काव्य-निर्णय की भूमिका में कवि ने चन्द्रालोक तथा काव्यप्रकाश का ऋण स्वीकार किया है—पहिले चन्द्रालोक का फिर काव्यप्रकाश का। चन्द्रालोक अलंकार को काव्य का नित्य अंग ही मानता है, इसमें अलंकारविषय प्रारम्भिक मयूखों में है, यहाँ भेदोपभेदों का विस्तार नहीं है, तथा एक ही छोटे छन्द में लक्षण और उदाहरण समा गये हैं। काव्य-निर्णय के तृतीय उल्लास में भी ये समस्त प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—प्रतीप अलंकार के ही भेदों का कथन है; प्रतीप, संसृष्टि तथा संकर के ही उदाहरण बड़े छन्दों में हैं। अतः हमारा अनुमान है कि काव्यनिर्णय का तीसरा उल्लास चन्द्रालोक के अनुकरण पर है, भले ही इसमें अनुप्रासादि को स्थान न मिला हो और इसके अलंकारों के नाम, भेद एवं संख्या चन्द्रालोक के आधार पर न हों। उत्तरार्द्ध में अलंकारों के भेदोपभेद, व्याख्या,

---

(१) **तुलसी गंग दुऔ भये, सुकविन के सरदार।**
इनकी काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

तथा उदाहरण आदि विशेषताएँ उस स्थल को चन्द्रालोक की अपेक्षा काव्यप्रकाश के अधिक निकट ठहराती हैं। अस्तु, दो भिन्न-भिन्न आचार्यों के झमेले में दासकवि को अलंकार-विषय की अवैज्ञानिक आवृत्ति कर देनी पड़ी, यह निष्कर्ष सत्य से अधिक दूर न होने पर भी दोष-मार्जन में समर्थ नहीं है।

तृतीय उल्लास

काव्यनिर्णय के इस उल्लास का नाम 'अलंकार मूल वर्णन' है, और वर्णन किया गया है मूल या मुख्य-मुख्य अलंकारों का, अतः इस शीर्षक का अर्थ हुआ 'अलंकारों में जो मूल (मुख्य) हैं उनका वर्णन', खड़ी बोली में यह शीर्षक 'मूल-अलंकार-वर्णन' लिखा जाता। यहाँ भेदोपभेदों का तो प्रश्न ही नहीं आता, छोटे-छोटे अलंकारों को भी स्थान न मिल सका। अलंकारों की संख्या ४४+२=४६ है—४४ अर्थालंकार तथा संसृष्टि और संकर, शब्दालंकार नहीं लिखे गये। इस उल्लास में केवल ५४ छंद हैं, जिनमें ४९ दोहे ही हैं।

४४ अलंकारों के दास ने ११ वर्ग बनाये हैं। वर्गानुसार अलंकारों की नामावली इस प्रकार है :—

(१) उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता—८
(२) उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह—५
(३) व्यतिरेक, रूपक—२
(४) अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक—३
(५) अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप—४
(६) विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति—३
(७) उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित—४
(८) सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति—६
(९) सूक्ष्म, परिकर—२
(१०) स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर—४
(११) यथासंख्य, एकावली, पर्याय—३

यह वर्गीकरण यदृच्छया अनुशासित प्रतीत होता है, परन्तु उत्तरार्द्ध में भी इतने ही वर्ग हैं—जिससे हम कुछ सिद्धांत निकालने को बाध्य होते हैं (वर्गीकरण पर आगे विचार किया जायगा)।

अलंकारों के भेदोपभेद नहीं हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय तक, देव कवि के समान, दास कवि को अलंकार-भेद का ज्ञान न था, या वह भेदों में विश्वास न करता हो, क्योंकि भेदों के संकेत इस उल्लास में भी हैं और आगे तो उनका विस्तार है—संक्षेप के कारण ही उसने इनको स्थान नहीं दिया। उपमा के प्रसंग में 'यों ही औरौ जानु' द्वारा व्यंजना से तथा प्रतीप की चर्चा में 'पंच प्रकार सुफैर' द्वारा स्पष्ट कथन करके दास कवि ने अलंकार-भेद का अस्तित्व स्वीकार किया है—यह स्मरणीय है कि समस्त उल्लास में केवल प्रतीप के ही भेद लिखे गये हैं, अन्य किसी अलंकार के नहीं। अपह्नुति

के प्रसंग में शुद्धापह्नुति न लिखकर शायद अधिक चमत्कारी मानते हुए छेकापह्नुति के उदाहरण को स्थान दिया है।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दूसरों से प्रभावित हैं। अनुवाद अधिक सफल नहीं हुए। एक स्थल देखिए :—

(क) करत अधर-छत, प्रिय ? नहीं सखी, सीत-रितु वाय। (भाषाभूषण)

(ख) वहै अपह्नुति, अधरछत करत, न प्रिय, हिम-वाय। (काव्यनिर्णय)

यद्यपि दोनों लेखकों का भाव एक ही है, परन्तु आधार-ग्रंथ में सफाई अधिक है। नायिका ने कहा—'करत अधर-छत', सखी चौंकी—'प्रिय ?', नायिका ने सावधान होकर उत्तर दिया—'नहीं सखी, हिम-वाय'। काव्यनिर्णय में सखी को बोलने का अवसर ही न मिला और सखी के प्रश्न की आशंकामात्र से ही नायिका का अपराधी हृदय 'न प्रिय, हिम-वाय' कह उठा। दूसरा स्थल देखिए निषेधाभास में :—

(क) नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः। (कुवलयानन्द)

(ख) बिरहबरी कौ मैं नहीं कहती लाल संदेस। (काव्यनिर्णय)

मूल में दूतीकर्म का निषेध करते हुए उसका सुचारु रूप से संपादन है, परन्तु दास ने 'बिरहबरी' पद को आदि में रखकर उस चमत्कार को ही नष्ट कर दिया है—दूती ने अपने कर्म (पेशे) का तो निषेध नहीं किया, परन्तु वह अपनी क्रिया (प्रत्यक्ष कार्य) का निषेध कर रही है; सारे कथन से ऐसा भाव ध्वनित होता है कि विरहविह्वलाओं का सन्देश वहन करना उसकी शान के खिलाफ है (वैसे दूतीकर्म उसका व्यवसाय है ही)।

अलंकारों के ११ उल्लास

दासकवि ने काव्यनिर्णय के तीसरे उल्लास में अलंकारों के जो ११ वर्ग बनाये थे उन्हीं के समानान्तर इस ग्रंथ के ११ उल्लासों (८वें से १८वें तक) में अर्थालंकारों का फिर वर्णन है; परन्तु तृतीय उल्लास के एक-एक वर्ग को ही आगे चलकर अलंकारों का एक-एक उल्लास नहीं मिल गया; अलंकारों की संख्या तो दोगुनी से भी अधिक हो गई है; अवश्य ही पिछले वर्ग और ये उल्लास समानान्तर हैं। इस स्थल पर अलंकारों का विस्तार से वर्णन है, एक-एक बड़े छन्द में एक-एक अलंकार का वर्णन करते हुए दासकवि ने ११ उल्लासों में इस माला को सजाकर अपने कर्त्तव्य[1] का पालन किया है।

इस अलंकार-माला में अर्थालंकारों की संख्या तृतीय उल्लास-गत अलंकार-संख्या से दोगुनी अर्थात् ४४ × २ = ८८ है, परन्तु दास ने अर्थालंकारों[2] की गिनती ८६ ही बतलाई है —सम्भवतः गूढ़ोक्ति से गूढ़ोत्तर, तथा परिकर से परिकरांकुर भिन्न नहीं माने गये। वर्गानुसार अर्थालंकारों की संख्या निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट की जा सकती है :—

(१) बड़े छन्द में, एक ही करि भूषन विस्तार।
करौ घनैरौ धर्म मैं, इक माला सजि चारु॥

(२) भूषन छियासी अर्थ के.........।

अष्टम उल्लास	— उपमा	आदि	— १२
नवम ,,	—उत्प्रेक्षा	,,	—५
दशम ,,	—व्यतिरेक	,,	—३
एकादश ,,	—अतिशयोक्ति	,,	—५
द्वादश ,,	—अन्योक्ति	,,	—६
त्रयोदश ,,	—विरुद्ध	,,	—६
चतुर्दश ,,	—उल्लास	,,	—१४
पंचदश ,,	—सम	,,	—१६
षोडश ,,	—सूक्ष्म	,,	—११
सप्तदश ,,	—स्वभावोक्ति	,,	—१०
अष्टादश ,,	—यथासंख्य	,,	—२

इस प्रकार योग ९० हुआ; परन्तु यथासंख्य आदि दो अलंकार वाक्य के अलंकार हैं, यद्यपि अर्थ में भी इनसे एक विशेष सौंदर्य[1] आ जाता है, अतः उनको अलग करके अर्थालंकारों की मूल संख्या ९०—२=८८ रह जाती है। दासकवि ने प्रत्येक वर्ग के साथ संख्या भी दे दी है, इसलिए हमको अपने मन से घटाने बढ़ाने का कोई अधिकार नहीं।

समस्त अलंकारों का वर्णन करके दास ने संख्यासम्बन्धी निम्न पंक्तियां लिखी हैं:—

भूषन छियासी अर्थ के, आठ वाक्य के जोर।
त्रि गनि, चारि पुनि, कीजिये अनुप्रास इक ठौर॥
सब्दालंकृत पांच, गनि चित्र काव्य इक पाठ—
इकइस गातादिक सहित, ठीक सतोपरि आठ॥

अर्थालंकार ८६, वाक्यालंकार प्रमाण आदि ८, (भावोदय आदि) ३, (रसवदादि)[2] ४, अनुप्रास १, शब्दालंकार ५, इक्कीस भेदवाला चित्रालंकार १; इस प्रकार योग ठीक १०८ हुआ। इस आचार्य को इस १०८ की संख्या में से जो अलंकार स्वीकार्य थे उनका काव्यनिर्णय में वर्णन कर दिया है, शेष की सूचना दे दी है, वर्णन ठीक नहीं समझा गया। अप्पयदीक्षित ने प्राचीनों तथा आधुनिकों के मत से १०० अलंकारों का वर्णन करके शेष अलंकारों की संख्या लगभग इसी प्रकार की शब्दावली में गिनाई थी:—

रसभाव-तदाभास-भावशान्ति-निबंधनाः।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम्॥
भावस्य चोदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः।
अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्।
एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः॥

---

(१) क्रम, दीपक द्वै रीति के, अलंकार मति चार।
अति सुखदायक वाक्य के, जदपि अर्थ सों प्यार॥

(२) रसभावादिक होत जहं, जुगल परस्पर अंग।
तहं अपरांग कहैं कोऊ, कोउ भूषन इहि ढंग॥

हम अर्थालंकारों की संख्या पर विचार कर रहे थे। योग के अनुसार वे ९० हैं, २ अर्थ-वाक्य-अलंकारों को निकालकर शेष ८८ रह गये, और गूढ़ोत्तर एवं परिकरांकुर को अलग न मानें तो कविकथित ८६ की संख्या सिद्ध हो जाती है; योगसंख्या ८६ ही माननी चाहिये, क्योंकि परमयोग १०८ है, इस तथ्य को भी ध्यान में रखना ही पड़ेगा।

इस रीति में नवागत अलंकारों का वर्गानुकूल विवरण निम्नलिखित है :—

उपमा वर्ग —— लुप्तोपमा, मालोपमा, प्रतिवस्तूपमा, विकस्वर + ४
उत्प्रेक्षा ,, —— ×
व्यतिरेक ,, ——उल्लेख + १
अतिशयोक्ति ,, ——अल्प, विशेष + २
अन्योक्ति ,, ——प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति + २
विरुद्ध वर्ग ——व्याघात, असंगति, विषम + ३
उल्लास ,, ——अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, सामान्य, विशेषक + १०
सम ,, ——प्रहर्षण, विषादन, असंभव, संभावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थपत्ति + १०
सूक्ष्म ,, ——पिहित, युक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकरांकुर + ९
स्वभावोक्ति ,, ——हेतु, प्रमाण, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक + ६
यथासंख्य ,, ——दीपक जोड़ा, एकावली तथा पर्याय स्वतंत्र न बनकर भेदमात्र रह गये ——१

इन नये अलंकारों में से अधिकतर को चन्द्रालोक-कुवलयानन्द के प्रभाव से आया हुआ माना जा सकता है; परन्तु यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि कदाचित् काव्यप्रकाश के प्रभाव से ही काव्यनिर्णय में अर्थालंकार तथा शब्दालंकार के प्रसंग अलग-अलग हैं और हमारे आचार्य ने केवल ८६ (८८ या ९०) अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है—शेष की यत्र-तत्र चर्चा है।

अर्थालंकारों के वर्ग

अर्थालंकारों के ये वर्ग, यह व्यवस्था, या यह रीति किस आधार पर आश्रित है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यदि किसी मनोवैज्ञानिक आधार को स्वीकार किया होता तो सादृश्यमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक अलग-अलग वर्गों के नेता न बन गये होते; और उल्लास-वर्ग में सतरंगी लहर न आई होती। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस व्यवस्था में दासकवि ने नितान्त उच्छृंखलता से काम लिया है। लगभग प्रत्येक 'उल्लास' के साथ अलंकार-सूची का संयोग किसी व्याख्यात्मक निर्देश से हो गया है। यथा :—

(१) **................................अलंकार बारह विदित।**
उपमान और उपमेय को, है विकार समुझो सुचित॥ (उपमा आदि उल्लास)

(२) जदपि भिन्न ह्वै तदपि, उत्प्रेक्षहि को गेह ।।
उत्प्रेक्षादिक में नहीं, तदपि मिलै अभिराम ।। (उत्प्रेक्षादि उल्लास)

(३) ....षट् भूषन इक ठौर ।
जानि सकल अन्योक्ति मैं, सुनहु सुकवि सिरमौर ।। (अन्योक्ति आदि उल्लास)

(४) विविध विरुद्ध.............................।
.....................विषम समेत छ जानि ।। (विरुद्धादि उल्लास)

(५) ए होत चतुर्दश भांति के, अलंकार सुनिये सुमति ।
सब गुन दोषादि प्रकार गनि, किये एक ही ठौर थिति ।। (उल्लासादि उल्लास)

(६) उचित अनुचितौ बात मैं, चमत्कार लखि दास ।
अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास ।। (समादि उल्लास)

(७) ध्वनि के भेदन में इन्हें, वस्तुव्यंग कै लेखि ।। (सूक्ष्मादि उल्लास)

(८) ता संगी पहिचानिये, बहुविध हेतु प्रमान । (स्वभावोक्ति आदि उल्लास)

(९) क्रम, दीपक द्वै रीति के, अलंकार मति चारु ।
अति सुखदायक वाक्य के, जदपि अर्थ सों प्यारु ।।

अस्तु, ११ में से ९ वर्गों का आधार लेखक ने स्वयमेव स्पष्ट कर दिया है, भले ही हम उससे पूर्णतः सहमत न हों। और जो कुछ व्याख्यात्मक निर्देश उपलब्ध हैं उनकी सार्थकता भी सन्देहास्पद नहीं। यह निर्विवाद है कि उपमा के सहयोगी १२ अलंकार उपमान-उपमेय के 'विकार' ही हैं; उत्प्रेक्षा, विरुद्ध आदि के वर्ग निश्चय ही साभिप्राय हैं। उल्लास-वर्ग तथा सम-वर्ग के विषय में लेखक ने अपने संकलन को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया, आठवें उल्लास में भर्ती मानी जा सकती है, क्योंकि फिर एक उल्लास ध्वन्यात्मक अलंकारों का, एक स्वभावोक्ति आदि का, और एक रीति के अलंकारों का है, अतः यह मानना उचित है कि दास का उल्लासीकरण निर्मूल नहीं है, उसमें आकार-साम्य तो मनोगत रहता ही है।

उत्प्रेक्षा वर्ग को ही ले लीजिए। प्रथम वर्णन (संक्षिप्त) तथा द्वितीय वर्णन (सविस्तार) दोनों ही में इस वर्ग के अन्तर्गत पांच अलंकार हैं—उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम तथा सन्देह। प्रस्तुत 'मुख' है और अप्रस्तुत 'चन्द्र'। 'मुख मानो चन्द्र है' (उत्प्रेक्षा), 'मुख है, या चन्द्र है' (सन्देह), 'मुख नहीं, चन्द्र है' (अपन्हुति), 'चन्द्र है' (भ्रम) आदि उदाहरण तत्प्रसंग में क्रमशः वर्द्धमान सौंदर्याधिपत्य के ही सूचक हैं; इसी क्रम के समानान्तर चन्द्र को देखकर मुख की स्मृति (स्मरण), तथा मनोगत सन्देह में पड़कर 'चन्द्र है' यह 'निश्चय' भी रखे जा सकते हैं। मानसिक प्रतिक्रिया अवश्य भिन्न है, परन्तु प्रत्येक प्रसंग में बौद्धिक प्रक्रिया समान ही है। ये सभी अलंकार उपमामूलक या सादृश्य-मूलक हैं, फिर भी इनमें सादृश्य सरस है, उपमागत सादृश्य के समान सामान्य वाच्य मात्र नहीं। संस्कृत आचार्य केशवमिश्र[1] ने कदाचित् इसी चमत्कार से प्रभावित होकर उत्प्रेक्षा को

(१) **सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्त्तिविवर्धिनी ।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा-स्मिताविव ।। (अलंकार-शेखर)**

'सर्वालंकार-सर्वस्व' माना था, तथा नवोढ़ा के स्मित के समान इसके आकर्षण को मनोहर बतलाया था।

अन्योक्ति वर्ग में विस्तार के साथ ६ अलंकार आ जाते हैं—अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, समासोक्ति, तथा प्रस्तुतांकुर। प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, तथा अन्योक्ति में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि अलंकार-शास्त्र के आचार्य ही उसको साधिकार स्पष्ट कर सकते हैं। एक के नाम से दूसरे के विषय में कहना, या एक बात के मिस से दूसरी बात पर संकेत करना ही शेष तीन अलंकारों का आधार है। अतः बाह्यसाम्य की दृष्टि से ये पांचों सन्निकट ही हैं। इसी प्रकार दूसरे वर्गों पर सहानुभूतिपूर्ण विचार करने से दास कवि का उल्लासीकरण ठोस आधार पर आश्रित लगने लगता है—उसमें पूरी सचाई है और स्वाभाविक आकार-साम्य है।

अलंकारों के लक्षण

दास कवि ने अपने ग्रन्थ में भाषा की सुरुचि का सर्वत्र ध्यान रखा है, इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। अलंकार-प्रसंग में इस सुरुचि का एक रूप सहज-ग्राह्य लक्षण है; यह आवश्यक नहीं कि ये लक्षण कसावट में पूरे उतरें, या लक्षण की अपेक्षा वे वर्णन के अधिक निकट न हों, परन्तु पारिभाषिकता से कुछ अलग रहकर भी वे अपने कर्त्तव्य में कृतकार्य हैं। कुछ उदाहरण देखिए :—

(क) उपमा अरु उपमेय तें, वाचक धर्म मिटाय।
एकै करि आरोपिये, सो रूपक कविराय॥
(ख) दोऊ प्रस्तुत होत जहं, प्रस्तुत अंकुर लेखि।
समासोक्ति प्रस्तुतहिं तें, अप्रस्तुत अवरेखि॥
(ग) तिहूं लुप्त जहं होत हैं, केवल ही उपमान।
रूपकातिशय उक्ति तहं, बरनत हैं मतिमान॥
(घ) शुद्ध, हेतु, पर्यस्त, भ्रम, छेक, कैतवहिं देखि।
वाचक एक नकार है, सब में निश्चय लेखि॥
(ङ) लखि बिम्बा प्रतिबिम्ब गति, उपमेयो उपमान।
लुप्त शब्द वाचक किये, है दृष्टांत सुजान॥
(च) करत जु है उपमान ह्वै, उपमेयहि को काम॥
नहिं दूषन अनुमानिये, है भूषन परिनाम॥
(छ) जहं अत्यन्त सराहिये, अतिशयोक्ति सु कहन्त।
(ज) कहिय लच्छना रीति लै, कछु रचना सों बैन।
मिसु करि कारज साधिबो, परजायोक्ति सुअैन॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि दास की दृष्टि सरलता पर थी, भाषा-पाठक की सुरुचि पर थी। रूपक का उक्त लक्षण शास्त्रीय तो नहीं है, परन्तु स्वरूपतः यथार्थ है—उपमा के चार अंगों में से दो अंग, वाचक तथा धर्म, लुप्त हो जाते हैं, और शेष दो अंगों, उपमान तथा उपमेय में, आरोप-रूप एकत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है; वाचक-धर्म लोप

रूपक का लक्षण नहीं, परन्तु 'एकत्व' तथा 'आरोप' निश्चय ही उसकी मुख्य विशेषता है। रूपकातिशयोक्ति की एकमात्र पहिचान यही है कि उसमें उपमा का केवल एक अंग उपमान मात्र ही दिखाई पड़ता है। परिणाम अलंकार का यह सरल लक्षण भी सबको मान्य होगा। अतिशयोक्ति को 'अत्यन्त सराहना' करना ठीक नहीं, वस्तुतः 'अध्यवसान' तथा 'निगीर्ण' शब्दों को व्याख्या-सापेक्ष्य जानकर हिन्दी-आचार्य अपने-अपने सरलीकरण के प्रयत्न करते रहे हैं, दास ने भी यही किया परन्तु 'सराहना' शब्द उनके लक्षण को निर्दोष नहीं रहने देता।

काव्यनिर्णय के कुछ लक्षण दूसरों से स्वतंत्र भी हैं। उपमा के दो रूप हैं—श्रौती उपमा तथा आर्थी उपमा। तुल्य, समान, आदि शब्दों के प्रयोग में आर्थी; तथा इव, यथा आदि के प्रयोग में श्रौती उपमा होती है। इव, यथा आदि शब्द सर्वदा उपमान के साथ ही आते हैं उपमेय के साथ नहीं; परन्तु तुल्य, समान आदि शब्द उपमान और उपमेय दोनों के साथ प्रयुक्त होते हैं। 'चन्द्र इव सुन्दर मुख' वाक्य में चन्द्र में सामान्य धर्म सुन्दरता की अधिकता, तथा मुख में अपेक्षाकृत न्यूनता अभिलक्षित है। इसके विपरीत 'चन्द्र तुल्य सुन्दर मुख' वाक्य में सुन्दरता-धर्म चन्द्र-उपमान तथा मुख-उपमेय में समान मात्रा में ही है। काव्यनिर्णय में श्रौती उपमा का लक्षण है—

धर्म सहज अश्लेष करि, जहां सुकवि सरि देत।
श्रौती उपमा ताहि को, कहत सदा शुभ चेत॥

अर्थात् श्रौती उपमा की मुख्य विशेषता हुई 'धर्म सहज अश्लेष'। 'अश्लेष' के दो तात्पर्य हो सकते हैं—'श्लेष' तथा 'अश्लेष' (ब्रज भाषा में 'श्लेष' का 'अश्लेष', तथा 'स्थान' का 'अस्थान' हो जाया करता है)। 'श्लेष' शब्द के दो अर्थ होंगे—'श्लेष अलंकार', तथा 'समीप'। यदि यहां 'श्लेष' शब्द का अर्थ अलंकार विशेष लें तो अभीष्ट अभिप्राय 'श्लिष्ट धर्म' या 'अश्लिष्ट धर्म' माना जायगा। प्रथम इसलिए अमान्य है कि धर्म का अनिवार्यतः श्लिष्टत्व किसी आचार्य के उदाहरण में नहीं है; यदि द्वितीय को स्वीकार कर लें तो 'वैनतेय इव विनतानन्दजननः' आदि में श्रौती उपमा न मानी जायगी। अस्तु, दासकवि के इस वाक्य में 'श्लेष' अलंकार विशेष का नाम नहीं, प्रत्युत सामीप्य या नैकट्य का सूचक है; अतः इस उपमा का संबंध सहज धर्म की निकटता या दूरता से है—शायद दूरता से अधिक। दासकवि का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि श्रौती उपमा में सामान्य धर्म दूरस्थ (=भिन्न भिन्न वाक्यों द्वारा कथित) होता है। उदाहरण है:—

बुध गुन-अवगुन संग्रहैं, खोलैं सहित विचार।
ज्यों हर-गर गोये गरल, प्रगटे ससिहि लिलार॥

उदाहरण से यह प्रकट है कि दास कवि का श्रौती उपमा से ठीक वही अभिप्राय नहीं है जो कि दूसरे आचार्यों का; वे श्रौती उपमा साम्य के श्रवण में मानते हैं; परन्तु दूसरे आचार्य उपमा-मात्र के लिए 'वाक्यैक्य' (विश्वनाथ) भी अनिवार्य मानते थे; अतः उन आचार्यों के अनुसार इस उदाहरण में प्रतिवस्तूपमा हो सकती है; वस्तुतः यहां वाक्योपमा या उदाहरण अलंकार ही हैं।

प्रतिवस्तूपमा के काव्य निर्यण में दो लक्षण हैं:—

(क) **नाम जु है उपमेय कौ, सोई उपमा नाम।**
ताहि प्रतीवस्तूपमा, कहत सुकवि गुनधाम ॥
जहँ उपमा उपमेय को, नाम अर्थ है एक।
ताहू प्रतिवस्तूपमा, कहैं सुबुद्धि विवेक ॥

(ख) **जहां बिम्ब प्रतिबिम्ब नहिं, धर्मंहि तें सम ठानि।**
प्रतिवस्तूपमा तिहि कहैं, दृष्टांतहिं में जान ॥

पिछला लक्षण तो सर्वसम्मत है, परन्तु पहिले के विषय में मतभेद हो सकता है। एक ही शब्द (नाम) (आवृत्तिपूर्वक भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होकर) उपमान और उपमेय बन जावे तो प्रति-वस्तु-उपमा है; और यह अलंकार वहां भी होता है जहां एक ही शब्दार्थ उपमान तथा उपमेय के रूप में प्रयुक्त हो। दास का यह लक्षण बड़ा अस्पष्ट है, शायद उनका अभिप्राय समान शब्द द्वारा उपमान तथा उपमेय के धर्मकथन से है। उदाहरण से कुछ स्पष्ट नहीं होता:—

लाल बिलोचन अधखुले, आरस संजुत प्रात ॥
निन्दत अरुन प्रभात को, बिकसत सारस पात ॥

लक्षण नाम प्रकाश

यद्यपि दासकवि अलंकारों के नाम में ही लक्षण नहीं मानते फिर भी चन्द्रालोक के अनुकरण पर स्मरण, भ्रम तथा सन्देह के नामों से ही लक्षणों का प्रकट होना काव्य-निर्णय में स्वीकार किया गया है:—

(क) **सुमिरन, भ्रम, सन्देह कौ, लच्छन प्रगटै नाम ॥**

(ख) **लक्षण नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, सन्देह ॥**

अलंकारों के भेद

काव्यनिर्णय के तृतीय उल्लास में अलंकारों के भेद नहीं थे, परन्तु विस्तारपूर्वक वर्णन में एक-एक अलंकार के अनेक भेदों[1] का कथन है; परन्तु भरती के निराधार भेद नहीं हैं। प्रमुख अलंकारों में से अधिकांश के भेद दासकवि ने संख्या में औरों से अधिक लिखे हैं। अर्थान्तरन्यास की माला, अपन्हुति की संसृष्टि, तथा मालोपमा के अनेक भेदों के साथ-साथ अतिशयोक्ति के रूपकातिशयोक्ति के समानान्तर उपमातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षातिशयोक्ति भेद भी हैं। वस्तुत: दासकवि अतिशयोक्ति का अर्थ अत्युक्ति भी ले लेते हैं इसलिए ये नये उदाहरण और उनके आधार—ये भेद वे लिख गये। यदि काव्य-निर्णयकार भेदोपभेदों के झमेले में न पड़ता तो उसकी कृति बड़ी सुथरी बनी रहती; भेद-विस्तार में वह भटक गया है।

अलंकारों के उदाहरण

रीतिकालीन आचार्य लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं,

---

(१) **अलंकार रचना बहुरि, करौं सहित विस्तार।**
एक एक पर होत जहँ, भेद अनेक प्रकार ॥

और कई तो ऐसे हैं जिन्होंने मन लगाकर रमणीय वर्णनात्मक उदाहरण बनाये हैं। उदाहरण दास कवि के भी परम उपयुक्त हैं, परन्तु उतने रसीले नहीं; उनकी मुख्य विशेषता सामर्थ्य है। भ्रांतापन्हुति का प्रसिद्ध उदाहरण "**आनन हैं, अरविंद न फूले, अलीगन भले कहा मंडरात हौ**" काव्यनिर्णय से ही है। अर्थान्तरन्यास का एक उदाहरण भी देखने योग्य है:—

पंडित पंडित सों सुखमंडित, सायर सायर के मन मानै।
संतहि संत भनंत भलौ, गुनवंतनि को गुनवंत बखानै।
जा पर जाकर प्रेम नहीं, कहिये सु कहा तेहि की गति जानै।
सूर को सूर, सती को सती, अरु दास जती को जती पहिचानै॥

रीतिकाल के अधिकतर आचार्य उदाहरण के लिए जिस बड़े छन्द को लिखते थे उसका एक चरण (प्रायः अन्तिम) ही उस अलंकार का उदाहरण था, शेष में कवित्व की ही रमणीयता थी। दासकवि के उदाहरण में प्रायः चारों चरण उपयोगी हैं, व्यर्थ का कोई नहीं। निदर्शना अलंकार सत्-सत्, असत्-असत् तथा असत्-सत् वाक्यार्थ की एकता में आता है। असत्-सत् वाक्यार्थ की एकता का उदाहरण भानु-जुगनू, खगाधिप-माखी, कविंद्र-तुकजोरनहार, एवं करतार-कुम्हार की वाक्यार्थ-एकता का सुन्दर रूप तो उपस्थित करता ही है तत्कालीन कवियशःकामी जन पर भी चुभता व्यंग्य छोड़ता है:—

जुगनू भानु के आगे भली विधि आपनी जोतिन्ह को गुन गैहै।
माखियो जाइ खगाधिप सों उड़िबे की बड़ी बड़ी बात चलैहै।
दास जबै तुकजोरनहार कबिन्द उचारन की सरि पैहै।
तो करतारहु सों औ कुम्हार सों एक दिना झगरो बनि ऐहै॥

फिर भी दास जी के उदाहरण सरस हैं और युग की चित्तवृत्ति का उचित प्रतिफलन करते हैं, श्रृंगारिकता तथा शब्द-वैभव कला के उपकरण बन कर इन उदाहरणों को मनोहर काव्य की संज्ञा दे सकते हैं। हीन-अभेद-रूपक का एक उदाहरण हम को अनायास ही केशव का स्मरण करा देता है:—

कंज के संपुट हैं ये, खरे हिय में गड़ि जात ज्यों कुंत की कोर हैं।
मेरु हैं पै हरि हाथ में आवत, चक्रवर्ती पै बड़ेई कठोर हैं।
भावती तेरे उरोजनि में गुन दास लख्यौ सब औरई और हैं।
संभु हैं पै उपजावैं मनोज, सुवृत्त हैं पै परचित्त के चौर हैं॥

काव्यनिर्णय के उदाहरणों में दूसरों की छाया भी है, और छायानुवाद भी। छायानुवाद निर्दोष नहीं कहे जा सकते। अधिक अभेद रूपक का उदाहरण:—

बंधन-डर नृप सों करै, सागर कहा बिचारि।
इनको पार न शत्रु है, अरु हरि गई न नारि॥

कुवलयानन्द के इस छन्द की छाया में लिखा गया है

त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धु-
स्त्वं सेतुमन्थकृद्वतः किमसौ बिभेति।

द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवशंवदोऽद्य
त्वां राजपुङ्गव ! निषेवत एव लक्ष्मीः ॥

संस्कृत के तृतीय चरण का दोहे के तृतीय चरण में अनुवाद ठीक नहीं हुआ क्योंकि 'द्वीपान्तरेऽपि' में जो महत्त्व 'अपि' का था उसको दासकवि भूल गये—'इनको पार न शत्रु है' से यह सूचना नहीं मिलती कि 'कहीं भी (सागर के उस पार भी) इनका शत्रु (जीवित) नहीं है।' विश्वनाथ का अर्थापत्ति का उदाहरण एक भिन्न वेष धारणकर काव्य-निर्णय में निदर्शना का उदाहरण है :—

हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिंकराः ॥ (साहित्यदर्पण)
पदुमिनि-उरजनि पर लसत, मुकुलमाल की जोति ।
समुझावत यों सुथल गति, मुक्त नरन की होति ॥ (काव्यनिर्णय)

इसी प्रकार छायानुवादों के दूसरे स्थल भी लिये जा सकते हैं। भाषाकवियों के कुछ प्रभाव भी देखने योग्य हैं :—

(क) ललित स्याम लीला ललन, बढ़ी चिबुक छवि दून ।
मधु-छाक्यौ मधुकरु परचौ, मनौ गुलाब-प्रसून ॥ (बिहारी)
लख्यौ गुलाब प्रसून मैं, मैं मधु-छक्यौ मलिन्दु ।
जैसे तेरे चिबुक में, ललिता लीला बिन्दु ॥ (दास)

(ख) घटै बढ़ै सकलंग लखि, जग सब कहै ससंक ।
बालबदन सम है नहीं, रंक मयंक इकंक ॥ (दास)
जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलंक ।
सीय-मुख समता पाव किम, चन्द बापुरौ रंक ॥ (तुलसी)

इसी प्रकार के अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं ।

दास कवि ने अर्थालंकारों के उदाहरण एक से अधिक बनाये हैं, परन्तु केवल वर्णन के लिए ही नहीं, प्रत्युत स्पष्टीकरण के लिए। उदाहरण छोटे दोहा जैसे छन्दों में भी हैं, तथा कवित्त जैसे बड़े छन्दों में भी। वे अधिक गंभीर, अधिक स्पष्ट, मनोरम तथा उपयुक्त हैं।

कुछ अलंकार

दासकवि ने कुछ ऐसे अलंकार लिखे हैं जो या तो अन्यत्र वर्णित नहीं हैं या (अधिक उचित यह कहना होगा कि) अन्यत्र उस नाम-रूप से नहीं मिलते। स्वगुण, उत्तरोत्तर, रत्नावली, रसनोपमा, तथा देहलीदीपक ऐसे ही हैं। स्वगुण का वर्णन तद्गुण तथा अतद्गुण के प्रसंग में है। अपना गुण त्यागकर संगति का गुण ग्रहण करना तद्गुण है परन्तु स्वगुण फिर से पूर्वगुण-ग्रहण को कहते हैं:—

पाये पूरबरूप फिरि, स्वगुन सुमति कहि देत ।
पूर्वरूप गुन नहिं मिटै, भये मिटन के हेत ॥

दूसरे आचार्यों ने इसी अलंकार को पूर्वरूप नाम दिया था। परन्तु दासकवि ने इस दोहे में स्वगुण तथा पूर्वरूप का अन्तर स्पष्ट किया है। समर्थ-गुणनाशक कारण की विद्य-

मानता में भी अपने चिरन्तन (पूर्व) गुण (रूप) का न मिटना ही पूर्वरूप है; मुख ज्योत्स्ना का वितरक है, उसका यह गुण गृहगर्भ के अंधकार में भी तथैव समर्थ रहता है:—

भौन अँध्यारहु बीच गये,
मुख-ज्योति तें वैसिये होति उज्यारी ॥

वस्तुतः यहाँ विशेषोक्ति व्यंग्य है, परन्तु दासकवि ने पूर्व (प्रसिद्ध) रूप माना है, और प्रसिद्ध पूर्वरूप को स्वगुण नाम दे दिया है।

उत्तरोत्तर अलंकार एकावली तथा सार के संयोग की वस्तु है। एकावली में शृंखला होती है तथा सार में उत्तरोत्तर उत्कर्ष। काव्यनिर्णय के उत्तरोत्तर के लक्षण में तो 'एक एक तें सरल' का कथन है, परन्तु उदाहरण में उत्तरोत्तर आधार-वृद्धि है।

रत्नावली अलंकार कुवलयानन्द में था, दासकवि ने तत एव ग्रहण किया है :—

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः ॥
क्रमी वस्तु गनि विवित जो रचि राख्यो करतार ॥

इनका एक उदाहरण तो ठीक लगता है, परन्तु दूसरा रत्नावली की अपेक्षा मुद्रा के अधिक निकट है।

रसनोपमा का विषय काव्यप्रकाश में आया है; परन्तु काव्यनिर्णय में इसका भिन्न रूप है; इसको यथासंख्य आदि के उल्लास में स्थान मिला है, क्योंकि दासकवि इसको 'उपमा अरु एकावली को संकर' मानते हैं। अलंकार रूप में देहली-दीपक भी नया है, परन्तु इसमें अलंकारसुलभ चमत्कार तो है ही।

मौलिकता

इस अलंकार-प्रकरण के ११ उल्लासों में दासकवि आवश्यकतानुसार कुछ विवेचन भी करते गये हैं; सिद्धांत-प्रतिपादन जैसी वस्तु तो है नहीं, परन्तु प्रसंगतः स्वमत अवश्य प्रकट किया है। अर्थालंकारों के लक्षण पर विचार करते हुए हमने मौलिकता का कुछ परीक्षण किया था। कुछ स्थल और देखिए :—

(क) अनन्वयहु की व्यंग यह, भेवक अतिशय-उक्ति ।
(ख) अप्रस्तुत प्रशंस जहं, अरु अर्थान्तरन्यास ।
तहां होत अनचाहे हू, विविध भांति उल्लास ॥
(ग) लक्षन नाम प्रकाश हैं, सुमिरन, भ्रम, सन्देह ।
जदपि भिन्न हू हैं तदपि, उत्प्रेक्षहि को गेह ॥
(घ) वस्तूत्प्रेक्षा दोइ विधि, उक्ति अनुक्ति विधैन ।
उक्ति विषै जग, अनउकति होत कविहि की बैन ॥
(ङ) लुप्तोत्प्रेक्षा तेहि कहैं, वाचक बिन जो होइ ।
याकी विधि मिलि जाति है, काव्यलिंग में कोइ ॥
(च) अप्रस्तुतपरसंस अरु, व्याजस्तुति की बात ।
कहूं भिन्न ठहरात अरु, कहूं जुगल मिलि जात ॥

इन मौलिक प्रसंगों पर विचार कीजिए। 'भेदेऽप्यभेदः' ही भेदकातिशयोक्ति है;

'वह चितवन कुछ और ही है' वाक्य में उस चितवन की अद्वितीयता तथा अप्रतिमत्व का प्रतिपादन है; यदि तुलना करना आवश्यक हो तो यही कहा जायगा कि 'उस चितवन के समान वही चितवन है', यही अनन्वय है; परन्तु यहाँ अनन्वय व्यंग्य है, वाच्य नहीं। दासकवि का यह कथन सर्वमान्य है कि भेदकातिशयोक्ति में अनन्वय व्यंग्य रहता है।

उल्लास अलंकार अन्य के गुण दोष से अन्य के गुण दोष-कथन में है। इसके ४ भेद हो सकते हैं---गुण से गुण, गुण से दोष, दोष से गुण, दोष से दोष। अप्रस्तुतप्रशंसा में अन्य (अप्रस्तुत) के वर्णन से अन्य (प्रस्तुत) की प्रतीति (गुणदोष कथन) होती है; यही उल्लास है। परन्तु उल्लास केवल सारूप्यनिबंधना अप्रस्तुत प्रशंसा में ही दिखलायी पड़ता है, और उल्लास के वे ही भेद यहाँ समान हैं जिनमें गुण से गुण या दोष से दोष का कथन हो। अर्थान्तरन्यास में सामान्य से विशेष तथा विशेष से सामान्य का समर्थन भी होता है, यहां भी अन्य के गुण-दोष से अन्य के गुण-दोष कथन-रूपी उल्लास का साम्य है; परन्तु उल्लास में समर्थन जैसा कोई गुण नहीं होता---जो इस अर्थान्तरन्यास का प्राण है। पंडितराज ने उल्लास का अन्तर्भाव अर्थान्तरन्यास के भीतर न करके काव्यलिंग के अन्तर्गत किया था, परन्तु काव्यलिंग में भी समर्थन तो रहता ही है; अतः दासकवि ने उल्लास का अन्तर्भाव नहीं किया, प्रत्युत पाठक का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि उल्लास तो अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अर्थान्तरन्यास में भी किसी न किसी रूप से विद्यमान रहता ही है।

उत्प्रेक्षा के २ भेद उक्तविषया तथा अनुक्तविषया भी हैं; उक्तविषया में प्रस्तुत का कथन रहता है, अनुक्तविषया में नहीं; उक्तविषया का विश्वनाथ ने उदाहरण बताया है---कम्पमान वस्त्रयुक्त मृगाक्षी का ऊरु कामदेव के सपताका स्वर्णिम विजयस्तम्भ के समान शोभित है[1] और अनुक्तविषया वे मम्मट[2]-स्वीकृत **'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः'** में मानते हैं; अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा 'क्रियास्वरूपा उत्प्रेक्षा' है, इसमें विषय उपात्त[3] नहीं रहता। दासकवि उक्तविषया---अनुक्तविषया को कुछ और ही समझते हैं; उनके अनुसार जगत्प्रसिद्धसंभव विषय की उत्प्रेक्षा उक्तविषय है, और असंभव विषय की अनुक्तविषया :---

चंचल लोचन चारु विराजत पास लुरी अलकैं थहरैं।
खंजन, सांप, सुआ संग तारे मनो ससि बीच बिहार करैं॥

यह लक्षण तथा उदाहरण सदोष हैं---संभव असंभव के आधार पर वर्गीकरण सुन्दर नहीं बनता।

दासकवि यह मानते हैं कि लुप्तोत्प्रेक्षा की कुछ समानता काव्यलिंग अलंकार से

---

(१) **ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति।**
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव॥

(२) **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।**
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥

(३) **अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः। (साहित्यदर्पण)**

है। वाचक शब्दों के अभाव में लुप्तोत्प्रेक्षा या गम्योत्प्रेक्षा में संभावना व्यंग्य होती है :—

बिनहु सुमन-गन बाग में, भरे देखियत भौंर।
दास आज मनभावती, सैल कियो येहि ठौर॥

काव्यलिंग में समर्थनीय अर्थ का समर्थन होता है, और गम्योत्प्रेक्षा में इस समर्थन की संभावना। वस्तुत: अन्वय-भेद से इन दोनों अलंकारों की छाया एक ही उदाहरण में उपलब्ध हो सकती है। उत्प्रेक्षा के लिए उक्त उदाहरण का अन्वय होगा—कुसुम कुल के अभाव में ही आज इस उपवन में भ्रमर-वृन्द भरे हुए हैं, शायद यहां प्राणप्रिया अभी सैर करके गई है। काव्यलिंग के लिए—कुसुम-कुल के अभाव में ही आज इस उपवन में भ्रमर-वृन्द भरे हुए हैं, क्योंकि यहां प्राणप्रिया अभी सैर करके गई है। दासकवि के इस प्रकार के निरीक्षण प्रशंसनीय हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा तथा व्याजस्तुति अलंकारों में कहीं भिन्नता होती है और कहीं समानता। साहित्यदर्पण आदि में अप्रस्तुतप्रशंसा के तत्कालोत्तर व्याजस्तुति विषय है। दोनों का अन्तर स्पष्ट है; व्याजस्तुति में 'गम्यत्व'[1] ही प्राण है, अप्रस्तुतप्रशंसा में इसकी कोई आवश्यकता नहीं; अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य-विशेष, कार्य-कारण तुल्यता रहती है, व्याजस्तुति में इसके लिए कोई स्थान नहीं। दोनों का साम्य भी है; एक कथन से दूसरे कथन की गति दोनों में है। दास ने इतना ही तो कहा है कि दोनों की बातें तुलनीय[2] है।

शब्दालंकार

यदि चित्रालंकार के एक उल्लास को अलग कर लें तो काव्य-निर्णय के १९वें तथा २०वें उल्लासों में शब्द के अलंकार लिखे गये हैं। १९वें उल्लास का नाम तो 'गुण-निर्णय वर्णन' है परन्तु इसमें १० गुणों का वर्णन करने के अनन्तर शब्दालंकार अनुप्रास, वीप्सा तथा यमक को स्थान मिल गया है। अनुमानतः प्रतीत होता है कि इन तीनों शब्दालंकारों को दास ने एक ही माना है; ये सब अनुप्रास के ही भेद हैं, क्योंकि इस उल्लास में गुणों के अनन्तर गण-भूषक अनुप्रास का वर्णन ही कवि का अभीष्ट है, शब्दालंकारों का ही नहीं। अनुप्रास की शब्दालंकारों से अलग गणना, तथा उसकी भिन्न उल्लास में स्थिति अकारण नहीं है। गुण रस के नित्य शोभाकारक धर्म हैं, और गुण का सौन्दर्य अनुप्रास पर आश्रित है; अतः अनुप्रास का महत्व शब्दालंकार से विशेष मानना पड़ेगा:—

रस के भूषित करन तें, गुण बरने सुखदानि।
गुण-भूषण अनुमानि कैं, अनुप्रास उर आनि॥

गुणाधार (एवं अन्ततोगत्वा रसाधार) अनुप्रास आदि में तीन प्रकार का है—

---

(१) निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः। (साहित्यदर्पण)

(२) व्यंग्यहेतुकवैचित्र्यसारूप्याद् अप्रस्तुतप्रशंसानन्तरमस्या लक्षणम्; अस्याश्च स्तुतिनिन्दयोः सामान्यविशेषकार्यकारणतुल्याभावाद् अप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।
(साहित्य-दर्पण, लोचन व्याख्या, व्याजस्तुति प्रकरण)

सामान्यानुप्रास, वीप्सानुप्रास, तथा जमकानुप्रास। सामान्यानुप्रास के सर्वसम्मत तीन भेद हैं---छेक, वृत्ति तथा लाट । वीप्सा का लक्षण है:---

एक शब्द बहु बार जहं, हरषादिक तें होइ ।
ता कहं वीप्सा कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ ॥

जमकानुप्रास भी आचार्यों ने लिखा ही है। दास कवि ने इसके एक नवीन भेद 'सिंहावलोकन' का सलक्षण उल्लेख किया है:---

चरन अंत अरु आदि के, जमक कुंडलित होय ।
सिंह-विलोकन है वहै, मुक्तक पद ग्रस सोइ ॥

एक चरण के अन्तिम शब्द दूसरे चरण के प्रारंभ में आते हैं, क्रमशः पहिले के दूसरे में, दूसरे के तीसरे में, तीसरे के चौथे में, और चौथे के पांचवें में। (कुंडलिया छन्द में भी यह सौंदर्य रहता है)। दास का उदाहरण देखिए:---

सर-सो बरसौ करै नीर, अली, धनु लीन्हें अनंग पुरन्दर-सौं ।
दरसो चहुं ओरन तें चपला, करि जाली कृपान के ओझर सों ।
झर-सोर सुनाइ हरै हियराजु किये घन अंबर डंबर सो ।
बरसों ले बड़ी निसि बैरिन बीतति बासर भो विधि-बासर सो ।

काव्यनिर्णयकार ने (गुण-स्वतन्त्र) शब्दालंकार ५ ही माने हैं और उनका वर्णन विंशतितम उल्लास में किया है---श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति, तथा पुनरुक्तवदाभास । श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास काव्यप्रकाश में भी हैं। विरोधाभास चन्द्रालोक में है, परन्तु अर्थालंकार के रूप में। मुद्रा कुवलयानन्द में अर्थालंकारों के बीच रखा था। इस प्रकार शब्दालंकार विषय में कोई नवीनता तो नहीं मिलती, परन्तु कांट-छांट अवश्य है।

शब्दालंकार के इस प्रसंग में दासकवि लिखते हैं कि सभी अलंकारों में अर्थ-चमत्कार शब्दशक्ति पर ही निर्भर है परन्तु इन पांच अलंकारों को कोई भी अर्थ-चमत्कार के कारण अलंकार नहीं कहता, अतः शब्द-शक्ति पर आश्रित होने के कारण नहीं, प्रत्युत शब्द पर आश्रित होने के ही फलस्वरूप, इन पांच को, शेष अलंकारों से भिन्न, शब्दालंकार कहा जाता है:---

इन पाचहुं को, अर्थ सों, भूषन कहै न कोइ ।
जदपि अर्थ, भूषन सकल, शब्द-शक्ति में होइ ॥

दास के इस कथन से मतभेद का प्रश्न ही नहीं है, अर्थ शब्द-शक्ति पर ही निर्भर है; अतः अलंकार दो प्रकार के हुए---शब्द के तथा शब्द-शक्ति के। शब्द के अलंकारों को दूसरे आचार्यों ने शब्दालंकार तथा शब्द-शक्ति के अलंकारों को अर्थालंकार नाम से अभिहित किया है ।

श्लेष अलंकार दो प्रकार का है---शब्दाश्रित तथा शब्दार्थोभयाश्रित; प्रथम का बल अनेकार्थ है और द्वितीय का तात्पर्य । यह श्लेष दो, तीन, चार---अर्थ वाला हो सकता है। चार अर्थ के श्लेष का उदाहरण 'एतो गुनवारो दास, रवी है, कि चन्द है, कि देवी को

मृगेन्द है, कि जसुमति-नन्द है' लिखने के अनन्तर इनके मन में शंका जगी कि कोई इस कवित्त में संदेह अलंकार न समझ ले; अतः वे बोले——

सन्देहालंकार इत, भूलि न आनो चित्त ।
कह्यौ श्लेष दृढ़करन को, नहिं समता-थल मित्त ॥

(यहां संदेह अलंकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि संदेह का मूल आधार सादृश्य यहां विद्यमान नहीं; अन्तिम पंक्ति में जो अनेक नाम गिनाये हैं वे तो केवल श्लेष को स्पष्ट तथा दृढ़ करने के ही लिए हैं)

चित्रालंकार

काव्यनिर्णय का विंशतितम उल्लास 'चित्रालंकार' (शीर्षक से) या 'चित्र-काव्य' (अन्तकथन से) है, इसमें ९१ छन्द हैं। लेखक ने सर्वप्रथम उन सुविधाओं का उल्लेख किया है जो चित्र-काव्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है:——

चमत्कार हीनार्थ को, इहां दोष कछु नाहिं ॥
ब-व ज-य बरनन जानिये, चित्रकाव्य में एक ।
अर्धचन्द्र को जनि करो, छूटे-लगे विवेक ॥

चित्रकाव्य के चार प्रकार हैं——प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, वाणीचित्र तथा लेखनीचित्र । प्रश्नोत्तर के दो उपभेद तो अन्तर्लापिका तथा बहिर्लापिका हैं; गुप्तोत्तर, व्यस्तसमस्त, एकानेकोत्तर, नागपाश, क्रमव्यस्तसमस्त, कमलबन्ध तथा शृंखलोत्तर अन्य उपभेद हैं। वर्ण के लोप, परिवर्तन से जहां चमत्कार हों वह पाठान्तर चित्र है। वाणीचित्र के ५ उपभेद हैं——निरोष्ठ, अमत्त निरोष्ठामत्त, अजिह्व तथा नियमित वर्ण । लेखनीचित्र के खड्गबंध, कमलबंध, आदि अनेक उपभेद हैं।

लेखनीचित्र खड्गबंध आदि तो १३ हैं; इनके अतिरिक्त अनेक गतागत, त्रिपदी, सुमुख, सर्वतोमुख, कामधेनु तथा अक्षरगुप्त आदि भी अनेक उपभेद हैं; दास ने गतादिक[1] को २१ बतलाया है, जिनमें १३ खड्गबंध आदि भी सम्मिलित हैं——१३ खड्गबंधादि, + १ गतागत + ३ त्रिपदी + ४ सुमुख आदि ।

मूल्यांकन

हिन्दी आचार्यों में दास का स्थान बहुत ऊंचा है। मौलिक तथा सुगम प्रतिपादन शैली इन को सहज ही उच्च पद का अधिकारी बना देती है। केशव से सुगम प्रतिपादन में, देव से पांडित्य में, कुलपति से मौलिकता में, दास निश्चय ही अग्रसर हैं। पुरानी पुस्तकों में काव्यनिर्णय ही ऐसी है जो आजकल भी उपादेय है। भाषा की सुरुचि का जितना ध्यान दास कवि को था उतना किसी दूसरे उस समय के साहित्यिक को नहीं; वस्तुतः भाषा की प्रवृत्ति को देखकर अधिकारपूर्वक लिखित उस समय की कृतियों में यही एकमात्र ग्रंथ है ।

---

(१) 'इकइस आतादिक सहित' के स्थान पर 'इकईस गतादिक सहित' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

दासकवि को अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता, परन्तु चन्द्रालोक का उनकी विचारधारा पर निश्चय ही प्रभाव है; चन्द्रालोक तथा काव्यप्रकाश का समन्वित प्रतिबिम्ब काव्यनिर्णय में लक्षित होता है। दासकवि अलंकार को हारादिवत्[1] बाह्य आभूषण के समान मानते हैं; रस के बिना अलंकार तथा अलंकार के बिना रस की सत्ता संभव है---जब रस काव्य का नित्य धर्म नहीं है (चित्र-काव्य)[2] तो अलंकार को नित्य धर्म मानना दुराग्रह मात्र है---दासकवि ने बड़ी चतुराई से समन्वय उपस्थित किया है; फिर भी सुकवि की रचना दोनों से मंडित रहती है:---

अनुप्रास उपमादि जे, शब्दार्थालंकार।
ऊपर तें भूषित करैं, जैसे तन को हार॥
अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि।
सुकवि-वचन-रचनान सों, देत दुहुंन को मंडि॥

काव्य के तीन भेद हैं---अवर, उत्तम तथा मध्यम। अवर काव्य में केवल अलंकार निर्वाह होता है दूसरे गुण (हेतु) नहीं होते[3]; उत्तम काव्य में रोचकता का कारण रस, अलंकार गुणादि तथा व्यंग्य का चमत्कार रहता है; मध्यम काव्य में अलंकार-रस-गुण का अस्तित्व तो है परन्तु व्यंग्य नहीं होता। ये भेद तो पुराने हैं परन्तु दासकवि ने इनको रोचक रूप से कहा है; और अपनी दृष्टि में उत्तम काव्य का लक्षण निश्चित किया है।

---

(१) हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। (काव्यप्रकाश)

(२) अवर काव्य हू में करैं, कवि सुघराई मित्र।
मनरोचक करि देत है, बचन अर्थ को चित्र॥

(३) अवर हेतु नहि, केवलै अलंकार निरबाहु।

रसरूप : तुलसीभूषण

(१८११ वि०)

तुलसीभक्त रसरूप ने १११ अलंकारों[1] का ग्रन्थ 'तुलसी-भूषण' संवत्[2] १८११ में पूर्ण किया ; नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में इसकी सांवलदास श्री वैष्णवकृत सं. १९०० की लिपि[3] प्राप्य है। ५६ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने उन अलंकारों का प्रकाशन[4] किया है जो तुलसी ने अपनी वाणी में रख दिये थे---मुख्यतः आधार रामायण[5] है, गीतावली आदि गौणरूप से ही हैं। रसरूप ने अलंकारों के लक्षण औरों[6] से लिये हैं, तथा अलंकारों के उदाहरण मुख्यतः रामायण से---इस प्रकार 'तुलसी' तथा 'भूषण' उभय उद्देश्यों को ध्यान में रखकर इस 'तुलसीभूषण' की रचना हुई है। 'औरन' से रसरूप का अभिप्राय हिन्दी के आचार्यों से नहीं, संस्कृत के मम्मट, जयदेव[7] आदि आचार्यों से है, इन्हीं के अलंकार-विषय की छाया में अलंकार-लक्षणों का निर्माण हुआ है।

तुलसी-भूषण में अलंकारों के दोनों भेद हैं। शब्दालंकारविषय प्रथम तथा अर्थालंकार-विषय तदनन्तर है। शब्दालंकार ६ हैं--अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास। अनुप्रास के तीन उपभेद छेक, वृत्ति तथा लाट का विवेचन है। वृत्त्यनुप्रास में तीनों वृत्तियों के अलग-अलग उदाहरण हैं। शब्दालंकार में लेखक पर मम्मट का विशेष प्रभाव है। रसरूप ने लक्षण दोहे में बनाये हैं; उदाहरण में 'पुनर्यथा' बार-बार आता है; राम-चरित-मानस के अतिरिक्त गीतावली से भी उदाहरण प्रायः ले लिये गये हैं।

अर्थालंकार विषय में एक मुख्य विचित्रता यह है कि अलंकारों का वर्णन अकारादि क्रम[8] से है---आगे चलकर मुरारिदान में भी यही विचित्रता दिखाई पड़ी। इस प्रसंग में

---

(१) एकावस अरु एकशत मुख्य अलंकृत-रूप ॥

(२) वस वसु सत संवत् हुता अधिक और दश एक।
किय़ौ सुकवि रसरूप यह पूरन सहित विवेक ॥

(३) तुलसीकृत भूषण लिखितं सावलदास।
संवत् १९००। सावलदास श्री वैष्णव लिपिकार।

(४) श्री तुलसी निज भनित में भूषण धरे दुराय।
ताहि प्रकासन की भई मेरे चित में चाय ॥

(५) रामायण में जो धरे, अलंकार के भेद।

(६) औरन के लच्छन लिये, रामायन के लच्छ।
तुलसी-भूषन ग्रंथ कौ या विधि कियौ प्रतच्छ ॥

(७) सम्मत काव्यप्रकाश को और कुवलयानन्द।

(८) अक्षर कौ संबंध करि क्रमहि सो रसरूप।
आद्य बरन के नेम सौं भूषण रचे अनूप ॥

कतिपय स्थानों पर कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक का नामपूर्वक उल्लेख है, आशिष के लक्षण में केशव की छाया है; 'गीतावली' के अतिरिक्त 'बरवै-रामायण' से भी उदाहरण लिये हैं।

'तुलसीभूषण' में लक्ष्य तो तुलसीदास के विविध ग्रन्थों से आये हैं, इसलिए उनके गुण-दोष के विवेचन का प्रश्न ही नहीं आता; केवल लक्षण कवि के अपने हैं। केवल लक्षणों की रचना करके रसरूप हमारे सम्मुख रीतिकालीन कवि के रूप में नहीं आते, वे या तो आचार्य हैं या भक्त––भक्त अधिक, आचार्य कम। पुस्तक में लक्षण सामान्य कोटि के हैं, फिर भी रसरूप का प्रयत्न प्रशंसनीय है उन्होंने उदाहरणों के मोह से छूटकर अलंकार-ग्रन्थ की रचना की है।

ऋषिनाथ : अलंकार-मणि-मंजरी

(सं० १८३१)

गोरखपुर जिले के देवकीनन्दन मिश्र अच्छे कवि थे। एक बार मंझौली के राजा के यहां विवाह के अवसर पर देवकीनन्दन ने भाटों के समान कुछ कवित्त पढ़े और पुरस्कार प्राप्त किया। इस पर उनके बन्धुजन मिश्रों ने इनको जातिच्युत कर दिया। तदनन्तर असनी निवासी भाट नरहरकवि की पुत्री के साथ उनका विवाह हुआ ; ये भाट बन गये और असनी में रहने लगे[1]। इन्हीं के वंश में ऋषिनाथ का जन्म हुआ, ऋषिनाथ के पुत्र बन्दी-जन-प्रसिद्ध कवि ठाकुर हुए। ठाकुर कवि के पौत्र सेवक कवि भी प्रसिद्ध हुए हैं। ऋषिनाथ ने 'अलंकार-मणि-मंजरी' की रचना सं. १८३१ में काशिराज के दीवान सदानन्द[2] और रघुवर कायस्थ के आश्रय में की।

'अलंकार-मणि-मंजरी' दोहों में लिखी हुई अलंकार-विषय की छोटी सी पुस्तक है, बीच-बीच में कवित्त, गाथा और छप्पय भी इसमें हैं। उपलब्ध प्रति सेवकराम द्वारा ही संशोधित है और सं. १९३९ में आर्ययन्त्र वाराणसी से प्रकाशित हुई है। पुस्तक कवित्वपूर्ण है। इसमें ऋषिनाथ ने अर्थालंकार तथा शब्दालंकार दोनों का वर्णन किया है। एक अलंकार के एक से अधिक उदाहरण भी हैं। सामान्यतः भाषा सरल तथा सुबोध है, दृष्टान्त का उदाहरण देखिए:—

राधा ही में जगमगति, रुचिराई की जोति।
राका ही में सरद की, बिसद चांदनी होति॥

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास् पृ० ३७९-८०

२. छाया छत्र ह्वै करि करति महिपालन को
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख श्रौनन में
जगत जगत हंस, हास, हीरहार ह्वै।
ऋषिनाथ सदानन्द-सुजस बिलंद,
तमवृन्द के हरैया चन्दचंद्रिका सुढार ह्वै।
हीतल को सीतल करत घनसार ह्वै,
महीतल को पावन करत गंगाधार ह्वै॥

रामसिंह : अलंकार-दर्पण

(सं० १८३५)

नरवलगढ़[1] के नरेश छत्रसिंह के पुत्र रामसिंह ने संवत्[2] १८३५ में ५८ पृष्ठों की एक पुस्तक 'अलंकार-दर्पण'[3] लिखी, जिसमें लगभग ४०० छन्दों में अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। इस पुस्तक की एक विशेषता कई परन्तु छोटे-छोटे छन्दों का व्यवहार है ; प्रायः उदाहरण तो दोहे में हैं किन्तु लक्षण के लिए सोरठा, चौपाई, गाथा तथा दोहा सभी छन्द पाये जाते हैं।

राधा-नन्दकिशोर की वन्दना के अनन्तर कवि ने बहुत ही सधे हुए वाक्य से अलंकार का महत्व बतलाया है—अलंकार कविता और वनिता[4] को छवि प्रदान करता है। निषेधात्मक वाक्य (अलंकार के बिना कविता की शोभा नहीं होती) में जो आग्रह होता है वह इस सामान्य कथन में नहीं है। रामसिंह अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग नहीं मानते, सहायक-मात्र समझते हैं।

'अलंकार-दर्पण' के ३८३ छन्दों में केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन है। प्रारंभ उपमा से होता है। आगे अनुकरण प्रायः कुवलयानन्द का ही है। अलंकारों के लक्षण बड़े सरल तथा संयत हैं, (विविध छन्दों के प्रयोग का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई पड़ता) :—

(उत्प्रेक्षा) मुख्य वस्तु पै आन की संभावना विचारि ॥८२ ॥

(दृष्टांत) बिम्बहिं प्रतिबिम्बहि कौं बरनैं ।
सो दृष्टांत हिये मैं धरनै ॥ १३० ॥

(श्लेष) एक शब्द मैं अर्थ अनेकनि भाषिये ।
श्लेष कहत हैं ताहि सबै यह साषिये ॥ १५५॥

(काव्यलिंग) समर्थनीय अर्थ को जहां समर्थ कीजिये ।
बखान काव्यलिंग को तहां विचार लीजिये ॥२७६॥

(चित्र) प्रश्न पवन मैं उत्तर कहै ।
सोई चित्र अलंकृत लहै । ३४१॥

---

(१) नरवलगढ़ नृप वीर-वर छत्रसिंह मतिधाम ।
रामसिंह तिहिं सुत कियो नयो ग्रंथ अभिराम ॥३८६ ॥

(२) बरस अठारह सै गनौ, पुनि पैंतीस बखानि । ३९१॥

(३) हरिनाथ ने सं. १८२६ तथा रतनकवि ने सं. १८४३ में इसी विषय की और इसी नाम की पुस्तकें लिखी हैं ।

(४) कविता अरु बनितान कौं, अलंकार छवि देत ॥२॥

(अन्योन्य) जहं अन्योन्य होय उपकार ।
सो अन्योन्य कह्यौ निरधार ।।[1]

अलंकार के सम्बन्ध में जो उथलापन इस युग के अन्य कवियों में है वह रामसिंह में भी मिलता है। श्लेष, गूढोत्तर, चित्र आदि को इन कवियों ने समझना चाहा तक नहीं सन्देह आदि के अलंकारत्व को ये लोग भुला बैठे, सादृश्य का ध्यान इनको है ही नहीं। प्रायः सभी उदाहरण सामान्य हैं:—

(सन्देह) है यह मार, कुमार, कै सुन्दर नन्द कुमार ।।६९।।
(प्रस्तुतांकुर) मधुर सुरंग अनार कौं, तजि समीप सुखदैन ।
एरी वीर कईथ पै, गयौ कहा रस लैन ।

(१) तुलना कीजिए:—
अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम् ।। (चन्द्रालोक)
अन्योन्यालंकार है, अन्योन्यहि उपकार ।। (भाषाभूषण) ।।

सेवादास : रघुनाथ-अलंकार

(सं० १८४०)

श्री अलबेलेलाल के शिष्य सेवादास रामभक्त थे, इनकी 'रघुनाथ-अलंकार', 'रस दर्पण' तथा 'अलबेलेलाल को नखशिख' तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। 'रघुनाथ-अलंकार' मुख्यतः भक्ति की रचना है, परन्तु इसमें अलंकार-वर्णन[1] भी है। इसकी रचना सं: १८४० में हुई[2] थी। कवि ने इस पुस्तक का परिचय इस प्रकार दिया है :—

छप्पय कवित दोहा रचे हैं परम रूप
जाही को विचार किये पावत हरस है।
मंगल मनोहर है सीय को रुचिर गाथ
श्रवन सुनत मनौ अमृत बरस है।
सेवदास रसिकन कौं प्यारौ लगत सोइ
मूढ़ हीन पारतनैं खानि कै तरस है।
कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते सौं कह्यौ
अलंकार राम रघुवीर कौ सरस है॥

कवि का अलंकार-विषयक ज्ञान कुवलयानन्द-चन्द्रालोक[3] तक ही सीमित था—इसके एक से अधिक स्थलों पर संकेत हैं। सेवादास का मुख्य उद्देश्य तो भक्ति ही है, अलंकार-वर्णन प्रसंगतः आया है। यह भी संदिग्ध है कि कुवलयानन्द-चन्द्रालोक का इन्होंने अध्ययन भी किया था; इनके विवेचन पर भक्ति का ही प्रभाव अधिक है। जैसा कि कवि ने स्वयं भी कहा है इस पुस्तक में अनेक छन्दों का प्रयोग है। उदाहरणों में तो भक्ति है; लक्षणों से भी सन्तोष नहीं होता। दो अलंकार देखिए :—

(परिसंख्या) उपमा तें उपमेय में झलकै अधिक प्रकास।
परिसंख्या सो जानियै ताको कहत उजास॥
(छेकापन्हुति) प्रथम कहै पुनि बात कौ दूजै पलटै सोइ।
छेक अपन्हुति जानियै ताकौ कहत जु सोइ॥

इस पुस्तक में शब्दालंकार का प्रसंग है ही नहीं, परन्तु राम की भक्ति के साथ रामभक्त हनुमान की भी स्तुति है।

---

(१) श्री अलबेले लाल के जुगल चरन करि पीत।
सेवदास बरनन करौं अलंकार की रीति॥

(२) अठारह सै चलिस सो संवत सरस बखान॥

(३) कुवलयानंद चन्द्रालोक में अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोक कैं अलंकार कहि राम॥

पद्माकर : पद्माभरण

(सं० १८६७)

कविवर पद्माकर ने सं. १८६७ के लगभग[1] 'पद्माभरण' नाम का एक अलंकार-ग्रंथ बैरीसाल रचित 'भाषाभरण' के अनुकरण पर[2] लिखा। पद्माभरण ३४४ छन्दों का एक छोटा सा ग्रंथ है, जो छोटा होते हुए भी भाषाभूषण से दोगुने विस्तार का है। इसमें दोहा छन्द का प्रयोग है परन्तु कुछ स्थलों पर चौपाइयां भी आ गईं हैं। 'पद्माभरण' में दो प्रकरण हैं—— अर्थालंकार प्रकरण तथा पंचदश अलंकार प्रकरण; प्रथम प्रकरण में स्वीकृत अलंकारों के लक्षण-उदाहरण हैं, द्वितीय प्रकरण में मतभेद वाले १५ अलंकारों का विवेचन है।

सामान्य सिद्धान्त

पद्माकर ने युग की सामान्य प्रवृत्ति को देखकर[3] ही इस ग्रंथ की रचना की है। वे न तो किसी विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हैं, न अपना आचार्यत्व दिखलाना उनका अभीष्ट है, और न किसी शिष्य या शिष्या की शिक्षा की लिए इस ग्रंथ की रचना हुई है। यदि 'कवि' शब्द का अर्थ 'आचार्य' न लेकर हिन्दी के 'अलंकृती' ही लिया जाय तो पद्माभरण की प्रवृत्ति ('पंथ') को समझना असान होगा; क्योंकि संस्कृत–काव्य–शास्त्र का पंडित जब हिन्दी में अलंकार ग्रंथ लिखता था तो उसका आत्माभिमान उस रचना में विशिष्टता ला देता था, इसके विपरीत कुछ अलंकृती ऐसे भी होते थे जो केवल प्रवाह में बह कर ही अलंकार-ग्रंथ लिख देते थे—पद्माकर इसी पिछले वर्ग में आवेंगे। पद्माभरण में आचार्यत्व का प्रयत्न नहीं है, कुछ सिखाने की अपेक्षा प्रवाह में सुखपूर्वक बह जाना ही कवि की विशेषता है।

इसका एक प्रमाण ग्रंथ का दो प्रकरणों में विभाजन है। प्रथम प्रकरण में कुवलयानन्द के १०० मुख्य अलंकार हैं, जिनका क्रम भी कुवलयानन्द से भिन्न नहीं। और द्वितीय प्रकरण में शेष १५ अलंकारों की चर्चा प्रथम प्रकरण से भिन्न शैली पर की गई है। यद्यपि अलंकारों के प्रति यह दृष्टिकोण कुवलयानन्द में भी है फिर भी अलग-अलग प्रकरणों को अलग-अलग शैलियों में लिखना पद्माकर के ग्रंथ को अधिक बोधगम्य बना देता है; साथ ही यह भी सूचित हो जाता है कि कवि जितना महत्त्व प्रथम प्रकरण के अलंकारों को देता है उतना दूसरे प्रकरण वालों को नहीं——ये १५ अलंकार तो कवियों ने अपने-अपने मत के अनुसार[4] बखाने हैं।

---

(१) हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२।
(२) पद्माकर-पंचामृत, आमुख, पृ० ३४–५।
(३) देखि कबिन को पंथ।१।
(४) इह विधि पंद्रह और ये, अलंकार सब ठौर।
कविन बखाने बेस हैं, निज निज मत की दौर ।।२८४।।

'अलंकार-रीति'

मंगलाचरण के उपरान्त पद्माकर ने ३ दोहों में 'अलंकार-रीति' की चर्चा की है। अलंकार का लक्षण नहीं दिया, और न काव्य में अलंकार का स्थान ही निर्धारित किया है; प्रत्युत अलंकार के ३ भेद[1] किये हैं; शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। शब्द, अर्थ अथवा शब्दार्थ उभय में से जिसको भी हृदय को प्रभावित करने वाले, ('उर आनि') चमत्कार का विषय कवि बनाता है ('अभिप्राय जिहि भांति') उसी प्रकार का (सो) अलंकार वहाँ मानना चाहिए।[2] इन तीन भेदों का प्रसंग आगे कहीं भी नहीं मिलता, विवेचन भी केवल अर्थालंकारों का ही है, दूसरों का नहीं ।

यदि किसी स्थल पर एक से अधिक अलंकार दिखलाई पड़ते हों तो वहां क्या समझना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर पद्माकर ने यह दिया है कि ऐसे स्थल पर कवि ही प्रमाण है, अर्थात् जिस अलंकार को कवि (जितनी) मुख्यता देना चाहता है उसी अलंकार को पाठक भी (उतनी ही) मुख्यता दे; राजमहल में कितने ही एक जैसे भवन होते हैं परन्तु मुख्य वही समझा जाता है जो राजा के मन को अच्छा लगता है—

अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक ।
अभिप्राय कवि को जहां, वहै मुख्य गनि एक ।।
जा विधि एकै महल में, बहु मन्दिर इक-मान ।
जो नृप के मन में रुचै, गनियतु वहै प्रधान ।।

प्रश्न तो यह है कि कवि का अभिप्रेत अलंकार हम को किस प्रकार मालूम पड़ेगा; कवि का अभिप्राय किसी अलंकार-विशेष से तो नहीं होता, चमत्कार मात्र से होता है। अगर कहना ही हो तो यह कहा जायगा कि जहां सबसे अधिक चमत्कार है वहीं कवि का अभिप्राय भी है, अर्थात् अलंकार की मुख्यता चमत्कार के अतिशय पर निर्भर है । इस प्रकार अलंकार की मुख्यता अलंकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है न कि कवि के व्यक्तित्व पर । वास्तव में आभूषणों की शोभा आभूषण पहिनने वाले या पहिनाने वाले पर निर्भर नहीं उन सामाजिकों पर निर्भर है जिनके मन पर आभूषण का प्रभाव पड़ता है; दूसरे शब्दों में, यह शोभा स्वयं आभूषण पर ही निर्भर है—उसमें सामाजिकों के मन को प्रभावित करने की कितनी योग्यता है। कविवर बिहारीलाल ने शोभा के ग्रहण में व्यक्ति (शोभा-ग्राहक) तथा वस्तु (शोभा का कारण) दोनों को संबद्ध महत्त्व प्रदान किया है :—

रूप रिझावन हार वह, ए नैना रिझवार ।।६८२।।

यह एक आश्चर्य की बात है कि पद्माकर ने अलंकार के तीन भेद तो बतला दिये

---

(१) **सब्द हु तें, कहुँ अर्थ तें, कहुँ दुहुँ ते उर आनि ।**
अभिप्राय जिहि भांति जहँ, अलंकार सो मानि ।।

(२) **तुलना कीजिये :—**
कहुँ पद तें, कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुन तें जोइ ।
अभिप्राय जैसो जहां, अलंकार त्यों होइ ।। —(भाषाभरण)

परन्तु केवल अर्थालंकार का ही विवेचन करके उन्होंने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली; शब्दालंकार की चर्चा तो उस शैली के दूसरे कवियों ने की है—भाषाभूषण में शब्दालंकार विषय है; कविकुलकंठाभरण में नहीं है, परन्तु वहां ३ भेद भी नहीं हैं। कुवलयानन्द का यह अनुकरण यहाँ खटकता है।

अर्थालंकार-प्रकरण

पद्माभरण के इस प्रकरण में परम्परा के अनुसार ही 'अलंकार-शत' का विवेचन है। अतिशयोक्ति तथा तुल्ययोगिता के प्रसंगों के अतिरिक्त शेष प्रसंगों में केवल दोहा छन्द का ही प्रयोग है। चन्द्रालोक शैली पर एक ही छन्द में लक्षण-उदाहरण देने की प्रथा थी परन्तु पद्माकर ने इसका निर्वाह नहीं किया; अनेक बार ऐसा हुआ है कि लक्षण एक दोहे में है तथा उदाहरण एक दूसरे दोहे में, और 'पुनर्यथा' लिखकर एक से अधिक (प्रायः दो) उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। लक्षण तथा उदाहरण कवि की अपनी ही शब्दावली में हैं। दो दो उदाहरण विषय को अधिक स्पष्ट कर सके हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; पद्माकर चमत्कार में बहकर ही एक से अधिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सारूप्य निबंधना अप्रस्तुत प्रशंसा, विवृतोक्ति तथा प्रतिषेध अलंकारों के उदाहरणों के लिए दो बार 'पुनर्यथा' लिखना पड़ गया है, परन्तु प्रथम उदाहरण अन्य उदाहरणों से कम स्पष्ट नहीं है और न अन्तिम उदाहरण प्रथम से अधिक स्पष्ट है। प्रतिषेध के प्रसंग में यह बात भली भाँति देखी जा सकती है (दोहा संख्या, २७४, २७५, २७६ तथा २७७)।

अर्थालंकारों के उदाहरण

पद्माभरण के उदाहरण ठीक हैं, उनकी कोई विशेषता नहीं, इसलिए ध्यान देने योग्य भी कुछ नहीं मिलता। उदाहरणों में परम्परा का ही पालन है, फिर भी कुछ उदाहरण निर्दोष नहीं रह सके हैं। निम्नलिखित स्थल देखिए :—

(क) अनेक अवर्ण्य श्लेष—यह अलंकार उस समय माना जायगा जब श्लिष्ट शब्दों द्वारा अनेक अप्रस्तुतों का वर्णन किया जाय। इसका उदाहरण सदोष है:—

सगुन, सभूषन, सुभ, सरस, सुचरन, सुपद, सराग।
इमि कविता अरु कामिनी, लहै जु सो बड़भाग ॥१०४॥

यहां श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग अवश्य है परन्तु 'अनेक अवर्ण्य' कहां हैं? कविता तथा कामिनी दोनों को अप्रस्तुत किस प्रकार माना जा सकता है, यहाँ तो दोनों ही प्रस्तुत हैं।

(ख) विशेषोक्ति अलंकार का प्राण चमत्कार ही है, कारण के रहने पर कार्याभाव मात्र ही से विशेषोक्ति अलंकार नहीं बन सकता। नायिका ने नायक को किसी परकीया के साथ रमण करते हुए अपनी आँखों से देखा फिर भी (पर्याप्त कारण होने पर भी) उसने मान (कार्य) न किया :—

निरखि आन-रत कान्ह को, तदपि न तिय किय मान ॥१४३॥

इस घटना में सचाई हो सकती है परन्तु काव्योपयोगी चमत्कार नहीं है, इसलिए यहाँ अलंकार का प्रश्न ही नहीं आता।

(ग) असंगति—तृतीय असंगति का चमत्कार है किसी कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति कोई अन्य कार्य कर बैठे । इस कवि का उदाहरण :—

आये जीपन दैन घन, लगे सुजीवन लैन ॥१४८॥

चमत्कारपूर्ण अवश्य है, परन्तु चमत्कार, 'दैन' तथा 'लैन' के विरोध का उतना नहीं है जितना कि 'जीवन' शब्द के दो अर्थों में दो बार प्रयोग का—यहां मुख्य अलंकार यमक है, असंगति नहीं । यदि पद्माकर के उपरिकथित नियम को माना जाय कि मुख्य अलंकार वही मानना चाहिए जो कवि का अभीष्ट हो, तब तो असंगति मान सकते हैं, परन्तु हम ऊपर लिख चुके हैं कि कवि सर्वत्र हमको अपना अभिप्राय बतलाने के लिए हमारे साथ-साथ नहीं घूम सकता ।

(घ) प्रौढ़ोक्ति—हेतूत्प्रेक्षा में कारण की संभावना की जाती है, परन्तु प्रौढ़ोक्ति में उस कारण की संभावना करते हैं जिससे कार्य का कोई घनिष्ठ संबंध चमत्कारपूर्ण हो । पद्माकर ने 'सम' अलंकार का उदाहरण लिखा है—

सिय जो दुसह दुख सहि लियो, सुता भूमि की सोइ ।१५३।

पृथ्वी क्षमा की मूर्ति है, फिर पृथ्वी की पुत्री सीता में उस गुण का होना संभव ही है—यह प्रौढ़ोक्ति का उदाहरण हो सकता था । परन्तु :—

सुरसरि-तट के बरफ तें, धवल सुजस तुव राम । २१२ ।

इस उदाहरण में वह चमत्कार नहीं है ।

(ङ) संभावना—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा संभावना तीनों अलंकार एक-से ही हैं । काव्यप्रकाश ने संभावना को अतिशयोक्ति[1] से भिन्न नहीं माना, परन्तु कुवलयानन्द में इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है । पद्माकर ने कुवलयानन्द का अनुकरण किया है, ठीक है; परन्तु उदाहरण में साहित्यदर्पण से अतिशयोक्ति (असम्बन्धे सम्बन्ध) का अनुवाद रख देना उचित नहीं है :—

जु कहुं पावतो आप में, द्वै अरविंद अमंद ।
तो तेरे मुखचंद की, उपमा लहतो चंद । २१४ ।
यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।
तवोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥ (साहित्यदर्पण, १०,६६)

(च) ललित का उदाहरण लोकोक्ति का उदाहरण बन गया है, दृष्टान्त का परिसंख्या के अधिक निकट है, और अत्युक्ति में भ्रम का भ्रम होने लगता है । क्रमशः—

तब न सीख मानी भटू, कियो बिचार न कोइ ।
भख्यो चहत फल अमृत को, विष-बीजन को बोइ । २१७ ।
रति इक रस की खानि है, तू ही कला-निधान । ८४ ।
इते उच्च सैलनि चढ़े, तुव डर अरि सकलत्र ।
तोरत कंपित करन सों, मुकता समुझि नक्षत्र । २७१ ।

---

(१) 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । (काव्यप्रकाश ।१०।१००।)

(छ) सहोक्ति का सौंदर्य दो कार्यों के एक साथ होने में ही नहीं है प्रत्युत् उन दोनों कार्यों की चमत्कारपूर्ण सहक्रिया में है। पद्माकर का उदाहरण चमत्कारहीन है :—

हरिहि निरखि इक संग छुटे, लोकलाज कुललाज। ९६।

लक्षण तथा भेद

पद्माभरण में अलंकारों के नाम, लक्षण तथा भेद कुवलयानन्द के ही आधार पर हैं, भाषाभरण का भी पद्माकर पर प्रभाव है, तथा भाषाभूषण से भी ये परिचित जान पड़ते हैं। ध्यान एकावली तथा काव्यलिंग के दो-दो लक्षणों पर जाता है। एकावली के दो लक्षण इस प्रकार हैं :—

गहब तजब अर्थालि को जहं, एकावलि सोय। १७५।

दूजो लक्षण

पूरब गहहि जु उत्तरहिं, उत्तर तजि पूरब्ब।
गहै पदारथ और यों, एकावलि कहि सब्ब॥ १७६।

प्रथम लक्षण में चन्द्रालोक[1] का अनुवाद तथा भाषाभूषण की छाया है। दूसरा लक्षण संभवत: काव्यप्रकाश[2] से आया है। अन्तर केवल यह है कि काव्यप्रकाश में एक विशिष्ट पद 'विशेषण' रखा हुआ था, पद्माकर में वह कठिन शब्द नहीं रखा गया; यह ठीक ही रहा—इस लक्षण में 'विशेषण' शब्द का अर्थ कुछ भिन्न ही है[3]।

काव्यलिंग के पद्माकर ने नीचे लिखे हुए दो लक्षण दिये हैं :—

अर्थ समर्थहि जोग जो, करै समर्थन तास।
काव्यलिंग तासों कहत, जिन के सुमति-प्रकास।२००।

दूजो लक्षण

हेतु पदारथ लहि कहूं, कहुं वाक्यारथ पाइ।
करै समर्थन अर्थ को, काव्यलिंग सो आइ। २०१।

प्रथम लक्षण कुवलयानन्द[4] का अनुवाद है, जिसकी छाया भाषाभूषण तथा कण्ठाभरण में भी है। दूसरा लक्षण काव्यप्रकाश[5] तथा साहित्यदर्पण[6] से प्रभावित है। इन दो-दो लक्षणों का कोई विशेष कारण दिखलाई नहीं पड़ता। हमारा कवि पहिले तो आधार ग्रन्थ का ही अनुवाद करता है, फिर विशेष आवश्यकता होने पर दूसरे सम्मान्य संस्कृत ग्रन्थों के प्रभाव से भी उसको संकोच नहीं।

---

(१) गृहीत मुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावलि मंता ।।५।८८।
(२) स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु एकावली द्विधा ।।१०।१३१।
(३) स्वरूपमात्रेण अवगतस्य वस्तुनः यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तदविशेषणम्। (जयरथः)।
(४) समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम्। १२१।
(५) काव्यलिंगं हेतो र्वाक्यपदार्थता। १०। ११४।
(६) हेतो र्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते। १०। ८१।

पद्माभरण में लक्षण-उदाहरण-समन्वय पर भी ध्यान देना पड़ेगा। इस शैली पर हिन्दी में जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें से किसी में भी इतना स्पष्ट समन्वय नहीं है। सर्वप्रथम कवि अलंकार का लक्षण और भेद, प्रायः एक ही दोहे में, दे देता है, फिर बाद के दोहों में क्रमशः एक-एक भेद का एक-एक दोहे में उदाहरण दे दिया गया है—एक भेद का उदाहरण दूसरे भेद के उदाहरण से मिलकर घपला नहीं कर पाता। अपह्नुति आदि के भेदों में तो लक्षण एक साथ न देकर प्रत्येक दोहे को उस भेद के नाम, लक्षण तथा उदाहरण से युक्त ही हम देखते हैं। इस समन्वय से ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि होती है। स्मरण आदि के[1] लक्षण पद्माकर ने भी नाम में निहित माने हैं।

उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा

इस ग्रन्थ का प्रारंभ उपमा अलंकार से ही होता है। उपमा के चार अंगों का परिचय कराने के बाद उपमा का सामान्य लक्षण है, चार अंगों में उपमेय, उपमान, वाचक तथा धर्म का वर्णन ही है। प्रस्तुत, अप्रस्तुत आदि पर्यायवाची शब्दों का कहीं संकेत भी नहीं है। परंपरा के अनुसार उपमा के अनेक भेद दिये हुए हैं। पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा तो पुराने भेद हैं, मालोपमा तथा रशनोपमा साहित्यदर्पण में हैं, उपमा के दो भेद—आर्थी तथा श्रौती—मम्मट ने भी माने हैं। परन्तु लुप्तोपमा के १५ भेद हास्यास्पद हैं। यदि सभी अंगों का लोप हो जावेगा तो 'पूर्णलुप्ता' में रह क्या गया :—

जाहि निरखि सुक मंद हुव, ताहि लखहु करि चोप ।१९।

यहां उपमा का एक भी अंग नहीं है, फिर हम समानता किस प्रकार देख सकते हैं? इसी प्रकार जहां उपमेय ही न रहेगा (रूपकातिशयोक्ति की बात छोड़ दीजिए, वहां तो चमत्कार ही उपमेय के लोप में हैं) वहां उपमा किस प्रकार हो सकती है[2] ? त्रिलुप्ता केवल *वादि-धर्मोपमान-लुप्ता* ही संभव है, अन्य नहीं। व्याकरण के अनुकरण पर संस्कृत के आचार्यों[3] ने तर्क से लुप्तोपमा के जो भेद किये हैं उनके अनुसार चलकर पद्माकर ने अपने ग्रन्थ के मुख्य गुण सहज प्रवाह पर यह एक आक्षेप लग जाने दिया।

कुवलयानन्द में रूपक के ६ भेद माने गये हैं, जिनको परम्परा के सभी अलंकृतियों ने स्वीकार किया है। पद्माभरण में इन ६ भेदों के अतिरिक्त एक नया भेद सावयव रूपक भी है, इसका विवेचन मुख्य ६ भेदों के अनन्तर है। सांग रूपक या सावयवरूपक[4] काव्यप्रकाश में स्वीकार किया गया है, साहित्यदर्पण[5] में भी है। यदि सावयव का कथन

---

(१) स्मरन, भान्ति, संदेह तिहुं, लच्छन इनके नाम । ४३ ।

(२) उपमेयलुप्ता इज नौट पौसिबिल; फौर दि एबसेंस आफ उपमेय नौक्स आउट दि बौटम आफ दि फिगर इटसेल्फ। (सुखथांकरः काव्यप्रकाश, नोट्स, ५)

(३) दैट दि आलंकारिक शुड गो टु दि लेंग्थ आफ एडमिटिंग उपमेयलोप (दैट इन वादि-उपमान-लुप्ता) शोज विअर सरवाइल ओबीडिऍंस टु ग्रामर। (वही, पृ० ६)।

(४) साङ्गमेतत् (मूल), उक्तद्विभेदं सावयवम् (वृत्ति)। १०। ९४।

(५) तत्परम्परितं सांगं निरंगमिति च त्रिधा। १०। ४२।

किया था, तो निरंग का भी परिचय दे दिया होता। हाँ, सावयव रूपक का व्यवहार हिन्दी की प्रवृत्ति के अवश्य ही अनुकूल है।

उत्प्रेक्षा के प्रसंग में भी पद्माकर परम्परा से आगे गये हैं; वस्तु, हेतु, तथा फल के तीन भेदों के दो-दो उपभेद उक्तविषया तथा अनुक्तविषया किये हैं। अन्त में गम्योत्प्रेक्षा है। इस भेद का नाम चन्द्रालोक में 'गूढोत्प्रेक्षा' तथा कुवलयानन्द में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही है। यह उत्प्रेक्षा का भेद नहीं परन्तु भेदों का एक आधार-मात्र है।

दूसरों का ऋण

दूलह के समान पद्माकर ने उन आचार्यों के नाम तो नहीं गिनाये जिनसे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में सहायता मिली है, परन्तु यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि मैंने दूसरे कवियों के मार्ग को देखकर ही यह ग्रन्थ लिखा है। भाषाभरण की चर्चा ऊपर हो चुकी है, भाषा-भूषण का भी हमने संकेत किया है। संस्कृत-ग्रन्थों में केवल कुवलयानन्द का ही नहीं, काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण का यत्र-तत्र प्रभाव हम यथास्थान दिखला चुके हैं। वस्तुतः जहां तक आचार्यत्व का सम्बन्ध है इस शैली का कोई भी अलंकृती मौलिक नहीं कहा जा सकता। पद्माकर के उदाहरणों पर भी दूसरों का प्रभाव है। यहां हम पद्माकर पर उस युग के हिन्दी आचार्य तथा कवियों का प्रभाव देखते हैं :—

(क) जसवंतसिंह तथा पद्माकर—

(अ) अंतर बाहिर दिसि-बिदिस, वहै तीय सुखदैन ।१३३। (भा० भूषण)
घर-बाहिर अध-ऊरध हु, वहै तिया दरसाति ।१६४। (पद्माभरण)

(आ) सुक! यहि मधुरी बानि तें, बंधन लह्यो बिसेखि। १६६। (भा० भूषण)
कैद होत सुक-सारिका, मधुरी बानि उचारि।
कागा परत न बंध में, श्रुति-कटु सबद पुकारि ।२३३। (पद्माभरण)।

(ख) दूलह तथा पद्माकर—

(अ) हेतु बिनु कारज की उपज बिभावना है,
अंजन बिना ही नैन ऐन कजरारे हैं। (दूलह)
सो बिभावना जान, कारन बिन कारज जहां।
बिनु हु सु अंजन-दान, कजरारे दृग देखियतु। (पद्माकर)

(आ) राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर, ता
छला में मापि लीजै भई छाम कटि बाम की। (दूलह)
छला छिगुनिया-छोर को, भो भुज-भूषन जाइ। (पद्मा०)।

(इ) मेह-बस भए त्यों ही मेह मढ़्यो महा है। (दूलह)
तियहि मनावन पिय लग्यो, तब ही घन घहरान। (पद्मा०)

(ई) जाकी चित चाह तेई चौकी देन आए री। (दूलह)
चल्यहु परोसी कान्ह कौं, सौंपि चितचही जोइ। (पद्मा०)

(उ) रिद्धिवान जोग श्लाघ्य चरित भनै उदात्त,
बंसी-बट-तट नट रास-रचना करी। (दूलह)

करत भये जा के तरे, राधा-कृस्न-बिहार ।
सो न होइ क्यों तरुन को, बंसीवट सिंगार ॥ (पद्मा०)

(ग) बिहारी तथा पद्माकर —

(अ) पान-पीक अधरान में, सखी लखी नहिं जाइ । (बिहारी)
अरुन अधर में पीक की लीक न परति लखाइ । (पद्मा०)

(आ) जानी जात सुबास ही, केसर लाई अंग । (बि०)
समुझो परत सुगंध तें, तन केसर को लेप । (पद्मा०)

(इ) मुकु होहुगे नेंकुमें, मुकुर बिलौको लाल । (बि०)
लखि भोरहिं पिय कों जु तिय, मुकुर दिखायो आज । (पद्मा०)

(घ) अन्य कवि तथा पद्माकर

(अ) भलो नहीं यह केवरो, सजनी गेह-अराम ।
बसन फटै, कंटक लगै, निसदिन आठौ याम ॥ (मतिराम)
भली न घर केतकि लगै, उर कंटक अंगान । (पद्मा०)

(आ) बावरि, जो पै कलंक लग्यौ तब
क्यों न निसंक ह्वै अंक लगावति । (निवाज कवि)
झूंठे ही ब्रज में लग्यौ, मोहि कलंक गुपाल ।
सपनेहू कबहू हिये, लगे न तुम नंदलाल ॥ (मतिराम)
होइ कलंक, निसंक तौ मिलहुं मोहनै जाइ । (पद्मा०)

(इ) काहे को सौहैं हजार करौ तुम तौ कब हूं अपराध न ठायो ॥ (मतिराम)
सौहैं सौहैं खात कस, तुम न कियो अपराध । (पद्मा०)

पंचदश अलंकार-प्रकरण

अर्थालंकार-प्रकरण के बाद और संसृष्टि-संकर अलंकारों के विवेचन से पहिले पद्माभरण में ५१ छन्दों का पंच-दश अलंकार-प्रकरण है । ४ रसवत् आदि, ३ भावोदय आदि, तथा ८ प्रमाण अलंकारों का क्रमशः विवेचन है । इस प्रकरण को कवि ने अलग ही रखा है, और इसको लिखने से पूर्व 'गुरु गनेस' की अलग वन्दना भी की है । ध्यान इस बात पर जाता है कि गद्य में वार्तिक लिखकर 'लच्छन-लच्छ' के समन्वय को स्पष्टतः समझा भी दिया है । यद्यपि शैली बहुत पुरानी है इसलिए आज के पाठक को वह दुरूह मालूम पड़ेगी, परन्तु अपनी परम्परा की दृष्टि से वह काफी प्रवाहपूर्ण है । अर्थापत्ति का समन्वय देखिए :—

देवदत्त यह बहुत मुटानो । खात न दिन मँह एक हु दानो । ३२५ ।
मोटो रहत है यहै असिद्ध होइ कै राति-भोजन करत है यहि
अरथ को ठहरायो, राति को न खातो होइ तो मोटो न होइ ।

प्रत्यक्ष प्रमाण में पंचेन्द्रिय के अलग-अलग उदाहरण दिये गये हैं, तथा शब्द प्रमाण में भी श्रुतिवाक्य, स्मृतिवाक्य, आगम, आचार तथा आत्मतुष्टि आदि के भी अलग-अलग

उदाहरण हैं। सामान्यतः उदाहरण उपयुक्त हैं, परन्तु 'रसाभास तें ऊर्जस्वित' के उदाहरण *में ग्राम्य दोष आ गया है :—*

सुनि रन मंह तुव धनुष-रव, गे रिपु सागर-पार।
रिपु-रानी बन-बन फिरति, तिन सों रमत गंवार ॥२९६॥

लक्षण निश्चय ही सरल एवं स्पष्ट हैं :—

(अ) सो रस जहं अंग और को, है रसवत् तिहि ठाम।२८८।
(आ) पंच ज्ञान-इन्द्रियन तें, जहां वस्तु को ज्ञान।
तहं प्रत्यक्ष-प्रमान, सो अलंकार उर आन। ३०६।

संसृष्टि-संकर

पद्माभरण के अंतिम १२ दोहे संसृष्टि-संकर के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यह प्रसंग इस परम्परा में प्रचलित नहीं था, फिर भी पद्माकर ने इसको स्थान दिया है। पंचदश-अलंकार-प्रकरण के समान यहां भी संक्षिप्त वार्त्तिक का प्रयोग है, कहीं विरल, कहीं विस्तृत। ध्यान देने की विशेषता यह है कि कवि ने उदाहरण दूसरों के ही रखे हैं—बैरीसाल तथा बिहारीलाल को यह गौरव प्राप्त है, पद्माकर ने स्मरणपूर्वक इनका उल्लेख किया है। संसृष्टि-संकर का लक्षण कितना स्पष्ट है :—

तिल-तंदुल के न्याय सों, है संसृष्टि बखान।
नीर-छीर के न्याय सों, संकर कहत सुजान। ३३२।
जुदे-जुदे जानें परें, सो तिल-तंदुल-न्याय।
जहां जुदे न लखे परें, नीर-छीर सो आय ॥३३३॥

ब्रह्मदत्त : दीपप्रकाश

(१८६७ वि०)

काशीनरेश उदितनारायणसिंह के अनुज, दीपनारायणसिंह की आज्ञा[1] से ब्रह्मदत्त कवि ने संवत्[2] १८६७ वि. में 'दीपप्रकाश' की रचना की—भारत-जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित पुस्तक में सम्पादक स्व. रत्नाकर जी ने सं. १८६७ इसका लिपिकाल माना है रचनाकाल नहीं। ४९ पृष्ठों की यह पुस्तक ७ प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश के १५ दोहे परिचय में लगे हैं, दूसरा प्रकाश ४७ दोहों में नायक-नायिका-भेद का वर्णन करता है, तीसरे प्रकाश में भावादि तथा शब्दालंकार हैं, चतुर्थ में अर्थालंकार, तथा पंचम में दोष और गुण की चर्चा है। इस प्रकार इस छोटी-सी पुस्तक में काव्य के अधिकतर अंग आ गये हैं। शायद इसीलिए रत्नाकर जी इसको 'भाषाभूषण' से अधिक उत्तम पुस्तक मानते हैं।

पूरी पुस्तक प्रायः दोहों में रची गई है। विषय-विवेचन सामान्य है, एक दोहे में लक्षण तथा उदाहरण दोनों को रखने का प्रयास है। लक्षणों पर चन्द्रालोक का भी प्रभाव[3] है; उदाहरण श्रृंगार में हैं परन्तु निर्मल तथा सरल। पूर्व कवियों का प्रभाव सर्वत्र लक्षित होता है।

तीन उदाहरण देखे जा सकते हैं:—

(धर्मलुप्तोपमा) कहत धर्म उपमा लुपत, गोपित करि बुधि ऐन।
हरि नीके लागत लखत हरिनी के से नैन ।।१३।।

(परिणाम) विषई अन्तर विषय के करत काम परिणाम।
कर कंजनि तोरति सुमन चित चोरति वह बाम ।।२८।।

(प्रहर्षण) प्रथम प्रहर्षण जतन बिन वांछित फल जब होय।
चित चाहत हरि राधिकहि औचक आई सोय ।।१३४।।

---

(१) दीपनरायन सिंह की लहि आयसु कवि ब्रह्म।
कविकुलकंठाभरण लगि कीन्हो ग्रंथ अरंभ ।।

(२) मुनि रस बसु ससि बरस नभ मास चतुर्थी स्वेत ।।

(३) उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। (चन्द्रालोक)
शोभा सरिस दुहुन में सो उपमालंकार। (दीपप्रकाश)

काशिराज : चित्र-चन्द्रिका

(१८८९ वि०)

काशी-नरेश चेतसिंह के पुत्र[1] बलवान्‌सिंह ने सं. १८८९ में[2] छप्पय, दोहा सोरठा, कवित्त, तोमर, कुंडलिया, चौपाई आदि अनेक छन्दों में संस्कृत आदि से लैकर भाषा में चित्र के अगाध[3] समुद्र की थाह के लिए 'चित्रचन्द्रिका' की रचना प्रारम्भ की; यह पुस्तक १९३१ में पूर्ण[4] हो सकी। यह रचना अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तथा उपयोगी है। इसमें सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यप्रकाश आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी, प्राकृत तथा फारसी तक के अध्ययन की छाप अनेक स्थलों पर है। भाषाटीका तथा चित्रों ने इसका महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। चित्र काव्य के जाल को समझने के लिए एक इस प्रकार की पुस्तक आवश्यक थी भी। रचयिता का नाम ऊपर 'कवि काशिराज महाराज' लिखा है।

चित्र के तीन भेद हैं---शब्दचित्र, अर्थचित्र तथा संकर-चित्र। शब्दचित्र के ७ भेद हैं---वर्णचित्र, स्थानचित्र, स्वरचित्र, आकारचित्र, गतिचित्र, आकार-बंध-चित्र, तथा गुणबंध-चित्र---इनका वर्णन ग्रंथ के प्रथम ७ प्रकाशों में है। अर्थचित्र के ६ भेद हैं---प्रहेलिका, सूक्ष्मालंकार, गूढोत्तर, अपन्हुति, श्लेष तथा यमक; कवि ने इन सब का विवेचन अकेले अष्टम प्रकाश में कर दिया है। अन्तिम प्रकाश में पदार्थ (शब्दार्थ) संकर चित्र या उभयालंकार का वर्णन है।

चित्र काव्य का संस्कृत की पण्डित-सभाओं में जो महत्त्व था वह लोकभाषा में दिन-प्रतिदिन कम ही होता चला गया। केशवदास ही यह सोचने लगे थे कि इस अगाध समुद्र से पार निकलना अति कठिन है, अतः 'कविप्रिया' में उन्होंने इसके केवल कुछ भेदों का ही वर्णन कर दिया था। उनकी आशंका ठीक निकली और उत्तरकालीन आचार्यों ने चित्रकाव्य को चित्रालंकार-मात्र बना डाला। फिर भी चित्र का मोह लुप्त न हो सका। पाण्डित्य की इस कसौटी को भाषारसिक के लिए सुगम बनाने का काशिराज का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। इस पुस्तक से चित्रकाव्य का कठिन विषय भी ललित बन जाता है। कवि का ज्ञान ठोस तथा शैली परिमार्जित है; गद्यमयी व्याख्या तथा चित्रयोजना ने विषय को सुबोध बनाने में विशेष सहायता दी है।

---

(१) तासु तनय जग विदित है, चेतसिंह महराज़॥
हौं सुत तिनकौ जानियै, विदित नाम बलवान्॥

(२) निधि सिद्धि नाग चन्द्र विक्रम सु अब्द।

(३) चित्र समुद्र अगाध कोऊ कवि थाह न ल्यायौ॥

(४) इन्दु राम ग्रह ससि बरस, मार्ग शुक्ल रविवार।
चित्रचन्द्रिका पूर्ण भो पंचमि तिथि स विचार॥

गिरिधरदास : भारती-भूषण

(१८९० वि०)

भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरिधरदास ने 'भारती-भूषण' नाम की अलंकार-[1] पुस्तक सं. १८९० में लिखी, इसमें ३६ पृष्ठ तथा ३७८ छन्द हैं। इसमें दोहा छन्द का ही व्यवहार हुआ है। ३७६वें दोहे तक अलंकार-विषय समाप्त[2] करके कवि ने नायिका-भेद का दोहा[3] न जाने क्यों लिख दिया है। सामान्यतः पुस्तक का आधार कुवलयानन्द है, इस वर्ग की पूर्ववर्त्ती रचनाओं का भी प्रभाव लक्षित होता है।

'भारती-भूषण' में 'अर्थालंकार सत' का वर्णन करके दो शब्दालंकार---अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य, लाट) तथा यमक (अखंड, खंड)---का विवेचन किया गया है। शब्दालंकार प्रसंग से कवि के विस्तृत अध्ययन तथा स्वतन्त्र सूझ का पता लगेगा; अनुप्रास के 'श्रुति' तथा 'अन्त्य' भेद इस वर्ग के अन्य कवियों ने नहीं लिखे।

अर्थालंकारों का क्रम उपमा से हेतु तक कुवलयानन्द के ही अनुसार है। फिर भी कवि की स्वतन्त्र मति स्थान स्थान पर दृष्टिगत होती है। उसने दो प्रकार के उपमा-वाचक माने हैं---मूल तथा इतर ; मूल के अन्तर्गत लौं, सो, सें, सी, सौं, सरिस, सम, समान, इव, तूल,ऐसो, ऐसे, ए, (दोहा १३) को बताया है; और इतर में जिमि, तिमि, जैसोइ, तैसोइ जथा, तथा, ज्यों, त्यों, (दोहा १४) की गणना की है। दण्डी ने काव्यादर्श में उपमावाचक शब्दों की सूची गिनाई थी ; मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में श्रौती तथा आर्थी का भेद करने के लिए उपमावाचकों की चर्चा की है; गिरिधरदास का 'उपमा वाचक-मूल' तथा 'एऊ उपमावाचक' इन दो भेदों से अभिप्राय श्रौती-वाचक तथा आर्थी-वाचक मात्र नहीं माना जा सकता (यद्यपि 'मूल' वाचकों का प्रयोग श्रौती में होता है) ; जिनको 'मूल-वाचक' कहा है वे सादृश्य का स्वाभाविक संकेत देते हैं, 'इतर' में वैसा नहीं है---'इतर' वाचकों का प्रयोग उपमेतर सादृश्यमूलक अलंकारों में भी होता है।

'भारती-भूषण' में मालोपमा तथा रसनोपमा भी हैं। स्मरण, भ्रम तथा सन्देह को 'लच्छन लच्छित नाम' ही माना है ; स्मरण के दोनों भेद हैं---'सुनि' तथा 'लखि' के आधार पर ; अपन्हुति प्रसंग में हेतुपर्यस्तापन्हुति का वर्णन है। सामान्यतः अर्थालंकार, लक्षण तथा भेदों में, कुवलयानन्द के अनुसार हैं। लक्षणों में कसावट की आशा नहीं की जा सकती परन्तु स्पष्टता सर्वत्र मिलती है। उपमा का जयदेव ने लक्षण दिया था---'उपमा यत्र सादृ-

---

(१) इति श्री नन्दनन्दन पदारविन्द-मिलिन्दधनाधीश श्री बाबू गिरिधरदास कवीश्वर विरचितं भारतिभूषणमलंकारं समाप्तम् ।

(२) शब्द अर्थ आभरन दोउ, इह विधि भये समाप्त । ३७६ ।

(३) बैंगन कर लै कामिनी, कहति चितै घनश्याम ।
भर्त्ता करिहौं तुमहिं हौं, जौ चलिहौ मम धाम ॥

श्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयो:' इस कवि ने इसका अनुवाद किया है--'समताई सोभित सदा इमि कवि कहहिं सुजान'। यहां मूल के 'सादृश्यलक्ष्मी' का तो अनुवाद हो गया परन्तु 'द्वयो:' का नहीं, फिर भी प्रसंग में उसका अध्याहार हो जाता है।

गिरिधरदास के उदाहरण सरस हैं। प्राय: दूसरों का प्रभाव भी मिलता है :--

(क) कहा करति निज रूप कौ गरब, गहें अविवेक।
रमा, उमा, सचि, सारदा, तो-सी तीय अनेक ॥४१॥

(ख) जानि श्याम-घन घन तुम्हें नाचि उठें वन मोर।
हेम-सलाका मानि तोहि चोर फिरें सब ओर ॥६२॥

(ग) सजनी रजनी पाइ ससि, विहरत रस भरपूर।
आलिंगत प्राची मुदित, कर पसारि कै सूर ॥१३८॥

प्रथम उदाहरण में जसवंतसिंह, द्वितीय में बिहारी, तथा तृतीय में केशव की छाया स्पष्ट है। प्रथम उदाहरण तो प्रतीप का रूप स्पष्ट कर सकता है, परन्तु दूसरे का उत्तरार्ध हास्यास्पद बन गया है---नारी कनक-शलाका के समान तो हो सकती है परन्तु उसको देखकर चोर को स्वर्ण-यष्टि का भ्रम नहीं हो सकता; तृतीय उदाहरण समासोक्ति के लिए रखा गया है परन्तु उसमें झलक रूपक की मिलती है, जैसा कि 'सजनी-रजनी' से स्पष्ट है।

सरस उदाहरणों के लिए कुछ अन्य स्थल देखे जा सकते हैं।

उपमान-वाचक-धर्मलुप्ता

मृगनैनी, गजगामिनी, पिकबैनी सुकुमारि।
केहरि कटिवारी, खरी, नारी लखौ मुरारि ॥२९॥

अधिक व्यतिरेक

तिय पल्लव से तो अधर, अधिक अमृत रस पेखि। १२९।

न्यून व्यतिरेक

हरि से हरिजन जानु, पै हरि घट-घट विश्राम। १३०।

समव्यतिरेक

जो निज घेरे में परत, चूर करत दलि ताहि।
पथ्य संग, पै गहत नहि, खल खल-वृन्द सदाहि ॥१३१॥

लेखराज : गंगाभरण

(सं० १९३५)

गन्धौली ग्रामनिवासी पं. कृष्णबिहारी मिश्र के स्वर्गीय पिता पं. नन्दकिशोर मिश्र उपनाम "लेखराज" ने सं. १९३५ में एक अलंकार-ग्रन्थ 'गंगाभरण' लिखा। यह छोटी सी पुस्तक दोहे तथा कवित्तों में लिखी हुई है। लेखक आचार्य की अपेक्षा भक्त अधिक है, उसने इस पुस्तक को लिखकर गंगा की महिमा गाई है परन्तु साथ ही पुरानी पुस्तकों को पढ़कर विषय को सुगम बनाने का भी प्रयत्न किया है[1]।

गंगाभरण में विषय का विभाजन तीन भागों में किया गया है—अर्थालंकार, शब्दालंकार तथा चित्रकाव्य। अर्थालंकारों में अलंकारों के क्रम तथा संख्या में प्रायः भाषाभूषण का ही अनुकरण है। उपमेयोपमा, मालोपमा तथा रसनोपमा आदि भेद नहीं है। काव्यलिंग तथा प्रस्तुतांकुर आदि को स्थान मिला है। किसी भी भेद की उपेक्षा नहीं की गई। अर्थालंकारों में ही वक्रोक्ति तथा 'काकोक्ति' अलंकारों का वर्णन लेखराज ने किया है।

शब्दालंकार सभी अनुप्रास हैं, पांच भेद। यमक भी जमकानुप्रास नाम से यहीं आया है; छेक, वृत्ति, तथा लाट पुराने ही भेद हैं; 'श्रुत्वानुप्रास' की भी अलग चर्चा कर दी हैं।

चित्रकाव्य के ६ भेद लेखराज ने किये ह—सासनोत्तर, कमलवत्, प्रश्नोत्तर, शृंखलोत्तर, व्यस्तसमस्त, अंतादिवर्ण प्रश्नोत्तर तथा एकाक्षचित्र। यद्यपि विस्तार अधिक नहीं है, फिर भी इस छोटी-सी पुस्तक में इस विषय में इतनी रुचि समय के अनुकूल नहीं है।

'गंगाभरण' की अपनी कोई विशेष मान्यताएं नहीं हैं, परंपरा से जो कुछ चला आता था लेखराज ने उसको प्रायः ज्यों-का-त्यों लिखकर गंगा की महिमा गाई है। यदि समय की रुचि को समझकर लेखक अपने विषय की विवेचना करता तो उसकी रचना का ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता था।

---

(१) कहै लेखराज लिखो लख कवि-पंथ या तैं
अलंकार मिस कीन्हों गंगा-गुन-गान मैं।

लछिराम : रामचन्द्र भूषण

(सं० १९४७)

लछिराम नाम के कम से कम तीन कवि प्रसिद्ध हैं, एक के छन्दों को तो आगे चलकर 'काव्य प्रभाकर' के रचयिता ने उदाहरण रूप में रखा है; और 'रामचन्द्रभूषण' भी एक से अधिक हैं। प्रस्तुत कवि ने अपनी रचना का काल तथा अपना परिचय इन शब्दों में दिया है :—

संवत् समुनि वेद अंक विधु माधौ मास,
सित गुरु द्वादशी मैं पूरन प्रभासी कौ।
बंदीजन वंश राजहंस मानसिंह द्वार,
बिरद गवैया मन सब सविलासी कौ।
राजा राव राने मरदाने सनमाने और,
चरित अपार ब्रह्मपावन प्रकासी कौ।
रामचन्द्रभूषन अवध अभिराम रच्यौ,
लछिराम राव रामचन्द्र जसराशी कौ ।।६२५।।

ग्रन्थ के नाम में दो शब्द हैं—'रामचन्द्र' तथा 'भूषण'—जिनसे यह स्पष्ट होता है कि लछिराम ने इसकी रचना रामभक्ति के उदाहरणों द्वारा अलंकार-विषय को समझाने के लिए की है। अंत में इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया है[1]। विद्वानों से लेखक ने यह विनय की है कि और कुछ नहीं तो कम से कम यह समझ कर कि इस पुस्तक में राम-चरित का गान है, इसके दोषों को स्वयं सुधार कर इसको पढ़ें,[2]; और सामान्य पाठक को यह सम्मति दी है कि यदि तुमने प्रेमपूर्वक (मन लगाकर) इस पुस्तक का अध्ययन कर लिया तो तुम अलंकार-विषय को तो भली-भांति समझ ही जाओगे भगवान् राम भी तुमसे प्रसन्न हो जावेंगे[3]। इतना सब आश्वासन देने पर भी लेखक को सन्तोष नहीं होता, वह सोचता है कि शायद उसकी रचना विद्वानों को पसन्द न आवे, तब ? तब कोई बात नहीं, वह समझेगा कि उसने यह पुस्तक अलंकार-विषय के लिए नहीं लिखी प्रत्युत भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही लिखी थी[4]। इन आचार्यों की यह विशेषता है कि ये भक्ति को

---

(१) श्री सीतावर चरितमय, अलंकार शुभ रीति।८।

(२) सतकवि संत गुनीन सों, विनय करत लछिराम।
बिगरो बरन सुधारि हैं, चरित समुझि सियराम।६२६।

(३) रामचन्द्र भूषण पढ़ैं, जो सप्रेम करि गौर।
अलंकार समुझैं, द्रवैं रामचन्द्र सिरमौर ।।६२७।।

(४) सुकवि रीझि हैं करि कृपा, लौ कविता लछिराम।
नतरु व्याज सौं मैं रट्यौ, श्री सियवर कौ नाम ।।६२८।।

ध्येय नहीं बनाते, प्रत्युत आचार्यत्व में असफल होने पर भक्ति को विकल्प रूप से स्वीकार करते हैं।

विशेषताएँ

मंगलाचरण के अनन्तर 'रामचन्द्रभूषण' में जो अलंकार-वर्णन है उसकी कुछ तो पुरानी परम्परागत विशेषताएँ हैं। जैसे, लक्षण दोहों में हैं और उदाहरण छप्पय, कवित्त, सवैया, कुंडलिया आदि बड़े छन्दों में। परन्तु नवीन विशेषताएं भी ध्यान देने योग्य हैं, मतिराम तथा भूषण के समान लछिराम भी गुण-कीर्त्तन के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। *अतः उदाहरणों में उनका मन खूब लगा है—रामभक्ति के उदाहरण प्रत्येक अलंकार* के साथ एक से अधिक हैं; आगे (काव्यलिंग अलंकार के अनन्तर) चलकर तो प्रत्येक उदाहरण के साथ नियमपूर्वक एक छप्पय और जोड़ दिया है।

पहली बार अलंकार के अंत में 'तिलक' लिखा हुआ मिलता है सरल गद्य में, स्वयं कवि के ही शब्दों में। जिस प्रकार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के बाद में वह लिखता है—"**यह जो समस्त वृत्तान्त वर्णन कियो सो कारण प्रस्तुत है अरु सेना के प्रभाव ते जो दूत के दृश्य में भयानक भयो ताको नेकहू ना कह्यो सोई कारज अप्रस्तुत है।**" इस प्रकार का तिलक अनेक अलंकारों के बाद है, इसमें विशेष विवेचन तो नहीं है परन्तु लक्षण-उदाहरण-समन्वय अवश्य है।

लछिराम ने ग्रन्थ के प्रारंभ में अलंकार का लक्षण भी दिया है—अलंकार वह है जो शब्द (पद) तथा अर्थ के द्वारा काव्य की शोभा बढ़ाता है—"**भूषन वत पद अर्थ में, अलंकार अनुमान**" (९)। यहाँ पद्य में दोहे के दो चरणों द्वारा ही लिखे जाने के कारण अधिक स्पष्टता नहीं है; यह नहीं कहा जा सकता कि अलंकार शोभा का कारक है या वर्द्धक, नित्य धर्म है या अनित्य; परन्तु इतना निर्विवाद है कि अलंकार का महत्त्व भूषण के समान बाह्य ही है।

'रामचन्द्रभूषण' में ९८ अर्थालंकार तथा १ शब्दालंकार है। शब्दालंकार अनुप्रास के केवल २ भेद छेक तथा वृत्ति ही हैं; यमक तक को यहां स्थान न मिल सका। अर्थालंकारों का क्रम प्रायः 'भाषाभूषण' के ही अनुसार है।

अर्थालंकार

उपमा का इस ग्रन्थ में बड़ा विस्तार है। पूर्णोपमा के ही ७ उदाहरण हैं। तदनन्तर स्तवकोपमा का लक्षण लिखा है कि जहाँ अर्थ के सादृश्य में समान उपमान से समता दिखलाई जावे;[1] उदाहरण में एक पूरा कवित्त लिख दिया है। लछिराम ने पूर्णोपमा-माला भी लिखी है, तीन भेदों के सहित। फिर लुप्तोपमा के १४ भेद हैं। पूर्णलुप्ता भी परंपरा के अनुसार है, जिसके उदाहरण में एक बरवै दिया है:—

अंगद सौं कहि तारा, विरद संभार।
मम सोहाग हरसोहैं, तिनहिं निहार ॥४३॥

---

(१) **अर्थ सदृश में जहं परै, समता सम उपमान।**
जहं तहं मिलि तवकोपमा, अलंकार परमान ॥१९॥

इस उदाहरण में उपमा भी कैसे मानी जा सकती है, 'भम सोहाग हरसोहैं' में साम्य का कोई भी तो चिह्न नहीं है। कवि ने उपमा के श्रौती तथा आर्थी भेद तथा उन के लक्षण दिये हैं परन्तु उदाहरण नहीं दिये। इस प्रकार उपमा के प्रकरण में अधिकतर आचार्यों तथा परंपराओं का अनुकरण भर मिलता है।

रूपक का लछिराम ने एक विलक्षण लक्षण दिया है कि जहाँ वाचक तथा धर्म का अभाव होने से विषयी-विषय का एक गुण के कारण विलास हो :—

जहं अभाव वाचक धरम, विषयी विषय विलास।
करि एकै गुन थापिये, रूपक भूषन रास।६८।

वाचक तथा धर्म का लोप होने से वाचकधर्मलुप्ता उपमा क्यों नहीं होगी, रूपक क्यों हो जावेगा; और जब धर्म का अभाव होगा तो 'एक गुण के कारण विलास' का क्या अर्थ है ? लछिराम का लक्षण इन शंकाओं का कोई उत्तर नहीं दे पाता। ६ सामान्य भेदों के अनन्तर "**औरौ रूपक चतुर विधि, बरने बुध मतिमान**" लिखकर दूसरों के आधार पर निरंजन, परंपरित, प्रमान, तथा समस्त ४ भेद और बतलाये हैं—जो दूसरों के अनुकरण पर ही हैं।

उत्प्रेक्षा के परंपरानुसार ६ भेद ही हैं। हाँ, गम्योत्प्रेक्षा का लक्षण बतलाते हुए उसके दूसरे नाम भी बतला दिये हैं :—

वस्तु, हेतु, फल कल्पना, जनो मनो पद हीन।
गम्योत्प्रेक्षा कहत कोउ, ललित, गुप्त परबीन। १५४।

ध्यान रखना होगा कि दूसरे आचार्यों ने उत्प्रेक्षा 'संभावना' में मानी थी, परन्तु लछिराम ने 'कल्पना' में मानी है—जो शिथिलता भर की सूचक है, किसी मान्यता की नहीं।

समासोक्ति विषय बहुत ही चलता हुआ है। श्लेष का पर्याप्त विस्तार है। दूसरे आचार्यों के समान अभिन्न पद, भिन्न पद तथा तदनन्तर उपमा श्लेष का विवेचन है। अन्त में श्लेष के ३ भेद और दिये हैं जिनका आधार है गुण :—

माधुर्यौज प्रसाद में गुन संक्रमित सु धीर।
त्रिविध बरनि अश्लेष पुनि, सुकवि सुनत गंभीर। २४१।

श्लेष के भेदों का यह आधार और किसी आचार्य ने नहीं माना।

भाषाभूषण के समान रामचन्द्रभूषण में भी कारणमाला अलंकार का नाम "गुम्फ" है, और एकावली का लक्षण चन्द्रालोक की शब्दावली में ही इस प्रकार दिया है :—

ग्रहित मुक्त के संग जहं, सुपद जंजीरा जोर।
अलंकार एकावली, यों भनि कवि शिरमोर। ३५६।

एकावली तथा मालादीपक के बीच लछिराम ने एक नवीन अलंकार 'मुक्तप्रकेशी' को स्थान दिया है। एकावली के बीच जहाँ प्रश्नोत्तर की शोभा होती है वहां अलंकार मुक्तप्रकेशी है[1]। उदाहरण विषय को अधिक स्पष्ट नहीं कर पाता :—

---

(१) **एकावलि के बीच जब, प्रश्नोत्तर शुभरंग।**
मुक्त प्रकेशी तहँ कहैं, अलंकार नवरंग॥ ३५९॥

मरकत खंभ फँसे, परम प्रचंड जैसे,
भुजदंड जुगल जसीले रघुवीर के । ३६० ।

लछिराम ने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में रखा है और इसके दो भेद श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति किये हैं, काकु वक्रोक्ति का उदाहरण यह है :—

आय हैं फेरि कछू दिन में
करि हैं फिरि ऐसे लंगूर तमासे । ५४७ ॥

स्मरण आदि के लक्षण नाम में ही निहित माने हैं[1] । इस प्रकार अर्थालंकारों के लक्षण, व्यवस्था, भेदोपभेद आदि की दृष्टि से भी रामचन्द्रभूषण में कोई आकर्षण नहीं मिलता।

अलंकारों के उदाहरण

'रामचन्द्रभूषण' के उदाहरणों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सबके सब "श्री सीतावरचरित" से ही लिये गये हैं और यही उनका सबसे बड़ा दोष भी है—विशेषतः क्योंकि लेखक में भक्ति-भाव की ही प्रबलता है । कुछ उदाहरण शृंगार रस के ही प्रसंग में चमचमाते हैं, उनके स्थान पर उसी छाया में भक्ति रस का प्रवाह उखड़ा हुआ-सा लगता है । पूर्वरूप तथा मीलित के उदाहरण हमारे अभिप्राय को अधिक स्पष्ट कर सकेंगे :—

(क) भरत गरे लर मानिक, मरकत होत ।
परसत फिरि करकंजन, अरुण उदोत ॥ (पूर्वरूप)

(ख) जानि परे न मुनीशन हू को,
भरत्थ के ओठन पान की लाली । (मीलित)

पूर्वरूप वाले उदाहरण में तुलसी के उस बरवै का अनुकरण है जिसमें उन्होंने सीता के रूप-सौंदर्य का वर्णन किया है; लछिराम ने न जाने क्या सोचकर सीता के स्थान पर भरत को बैठाल दिया; भरत को 'कंचनबरनी' नायिका बनाकर न तो भक्तिभाव की प्रतिष्ठा होती है न भरत का गौरव ही बढ़ता है । इसी प्रकार बिहारी के "**पान-पीक अधरान में, सखी, लखी नहिं जाइ**" की छाया में, मीलित के उदाहरण के लिए, लछिराम ने भरत के ओष्ठों की लाली का जो वर्णन किया है वह 'श्रीसीतावर' की सभा का नहीं प्रत्युत वाजिदअली शाह के दरबार का सा चित्र उपस्थित करता है; और 'मुनीशन हू' पद तो बिल्कुल ही व्यर्थ है—अरुणाधर का रहस्य तथा मुनीशत्व का तो कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है, बेचारे मुनीश तो इस काम में सबसे कच्चे सिद्ध होंगे ।

प्रत्यनीक, विषादन और सहोक्ति के उदाहरण भी कवि की पकड़ की अवहेलना करते हैं, वह अलंकार के प्राण को समझ ही न पाया, केवल भक्ति में बह गया है :—

(क) राम की हेरि प्रचंड चमू,
छली मैथिली को डरपावन आयौ ।

शत्रु पर बल चलता न देखकर शत्रु के 'सम्बन्धी' का तिरस्कार इस अलंकार का प्राण है, परन्तु शत्रु के सम्बन्धी (=पक्ष वाले) का अभिप्राय अभिधा के आधार पर शत्रु

---
(१) सुमिरन, भ्रम, सन्देह के नामहिं अर्थ सुदेस । ९६ ॥

की माता, पत्नी या भगिनी नहीं कर सकते। विषादन के उदाहरण में बतलाया है कि शूर्पणखा 'चाहती रामहिं अंक भरयौ' परन्तु वह लालसा तो पूरी न हुई प्रत्युत 'कटी नासिका कान लै सूपनखा की'। इसी प्रकार सहोक्ति को लछिराम ने एक ही साथ बहुत से कामों का होना समझ लिया है :—

राजसिरी परमारथ स्वारथ भाल विभीषण के भरयो रूरौ।
आनन सामुहैं श्री, रघुनाथ के एकई बार मनोरथ पूरौ॥

प्रस्तुतांकुर के इस कवि ने दो उदाहरण दिये हैं, परन्तु शृंगार से बचने के प्रयत्न ने दोनों को निर्जीव बना दिया है।

रामचन्द्रभूषण के बहुत थोड़े उदाहरण आकर्षक हैं, कुछेक को उपयुक्त कहा जा सकता है। अपह्नुति तथा अतिशयोक्ति के निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—

(क) रामनरेस के ये न तुरंग, परिंद हैं सूरज के रथवारे। (शुद्धा)
(ख) मैथिली के चरनाम्बुज व्याज लसैं मिथिला-मग मंजु त्रिवेनी॥ (कैतवा)
(ग) कौसिला सामुहैं हेमलता बपुधारी सुब्रह्म किये गठि जोरैं। (रूपका)।
(घ) समर झमेले में झमकि एक बार कढ़ैं,
म्यान तैं कृपान प्रान अरिगन-अंग तैं। (अक्रमा)

मूल्यांकन

रामचन्द्रभूषण सामान्य कोटि का अलंकार ग्रन्थ है और लछिराम सामान्य कोटि के कवि। इस वर्ग के अलंकार-ग्रन्थों में आचार्यत्व तो बहुत ही कम मिलता है, परन्तु कवित्व की मात्रा कम नहीं—मतिराम शृंगार के तथा भूषण वीर रस के प्रथम श्रेणी के कवि हैं; लछिराम में यह बात नहीं—भक्त कवि के रूप में भी उनका कोई स्थान नहीं है। लछिराम के पक्ष में केवल एक बात कही जा सकती है कि उन्होंने किसी पार्थिव नरेश या आश्रयदाता का गुणगान न करके भगवान् का गुणगान किया है—उनका नायक सबका श्रद्धास्पद हो सकता है।

लछिराम के उदाहरणों में चमत्कार नहीं है परन्तु उनकी भाषा सरल है इसलिए लक्षण समझना अधिक कठिन नहीं पड़ता। साथ ही कुछ अलंकारों के साथ तिलक जोड़ कर उसने एक नया कदम उठाया है, जो उसके आचार्यत्व का मूल्य बढ़ा देता है। लछिराम पर संस्कृत का अधिक प्रभाव नहीं है—संस्कृत-ग्रंथों के अनुकरण का प्रयत्न कम ही है; जयदेव के चन्द्रालोक से स्तवकोपमा, गुम्फ तथा एकावली का लक्षण इस कवि ने ले लिया है। 'मुक्तप्रकेशी' को स्वीकार कर तथा यमक को त्याग कर लेखक ने किसी सिद्धान्त का आग्रह नहीं दिखाया, प्रत्युत यह घुणाक्षरन्याय का ही फल जान पड़ता है।

गुलाबसिंह : वनिताभूषण

(सं० १९४९)

बूंदीपति रघुवीरसिंह की आज्ञा[1] से कविराज गुलाबसिंह ने सं. १९४९ में[2] 'वनिता-भूषण' नामक एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा। इसकी मुख्य विशेषता है नायिका-भेद तथा अलंकार-विषय का एकत्र[3] विवेचन। लक्षण उदाहरण के साथ सरल ब्रजभाषा गद्य में टीका भी है। नायिका और अलंकार का साथ-साथ निर्वाह बड़ा रोचक बन गया है; प्रारंभ करते समय कवि ने नायिका को आधार माना है और उसके भेदों का वर्णन करते हुए अलंकार का विवेचन किया है; अधिकतर उदाहरण नायिका तथा अलंकार दोनों के हैं, जिनपर 'अथ साधारण नायिका पूर्णोपमा उदाहरण' आदि लिखा है; परन्तु आगे चलकर अलंकार-लक्षण मुख्य बन गया है और नायिका-भेद उसका अंग। इस दुहरे विवेचन में चमत्कार तो अवश्य है परन्तु विषय अधिक स्पष्ट नहीं हो पाता—वर्णन कविकर्म की अपेक्षा कविप्रतिभा का परिचायक ही अधिक लगता है। एक स्थल देखिए:—

अथ समस्त रतिकोविदा भ्रान्तापन्हुति लक्षण

दोहा—सो समस्त रतिकोविदा सकल सुरत परवीन।
भ्रान्तापन्हुति आन की करै भ्रान्ति कौं छीन॥

टीका—संपूर्ण सुरत सें प्रवीन होय सो समस्त-रति-कोविदा है,
और की भ्रांति कौं छीन करै सो भ्रान्तापन्हुति अलंकार है।

अथ समस्त रतिकोविदा भ्रान्तापन्हुति उदाहरण।

दोहा—नाना विधि निशि सुरत मैं श्रमित प्रात लखि ताहि।
पूछी पूछी कछु आधि है तिय कहि रति श्रम आहि॥

टीका—नाना प्रकार सें रात्रि में सुरत तैं ताकौं सवेरे श्रमित
देखि कैं सखी नें पूंछी कछु आधि है तिय नें कही
रति कौ श्रम है। यहां नाना प्रकार की सुरति तैं
समस्तरति कोविदा हैं और नायिका-वचन सें सखी
कौ भ्रम जातो रह्यौ—यातैं भ्रान्तापन्हुति अलंकार है।

'वनिता-भूषण' में गुलाबसिंह ने अलंकार-लक्षण बतलाया है:—

---

(१) बूंदीपति रघुवीर की सासन मानि सिताब।
बनिता-भूषण सार मैं उद्यम करौ गुलाब॥

(२) संवत सर उनईस सै उनचास कवि वार।
आश्विन नवमी शुक्ल पख भयो ग्रंथ अवतार॥

(३) क्रम सैं नायिका अलंकारन के एकत्र लक्षण।

रस-अर्थन तें भिन्न जो, शब्द-अर्थ के मांहि ।
चमत्कार भूषन, सरिस, भूषण मानत ताहि ।।

इस प्रकार के लक्षण कवि के अध्ययन के द्योतक हैं। इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर कई संस्कृत तथा हिन्दी पुस्तकों की सूचना है। 'नीति-मंजरी' कतिपय स्थलों पर आई है; 'भूषण-चन्द्रिका' के कुछ उदाहरण हैं; 'मेदिनी' आदि कोश शब्दों के एकाधिक अर्थ बतलाने के लिए उद्धृत किये गये हैं। दोहा के अतिरिक्त छप्पय बरबै आदि छन्द भी मिलते हैं। टीका की गद्य बड़ी सुलझी हुई है। सामान्यतः गुलाबसिंह को केशव के वर्ग का आचार्य माना जायगा, परन्तु उनमें केशव के समान पाण्डित्य नहीं है, कवित्व अवश्य ही कुछ अवश्य है। मौलिकता का प्रश्न यहां नहीं आता; स्वीया नायिका के दो भेद[1] --पतिव्रता-तथा साधारणा--किसी विशेष दृष्टिकोण के द्योतक नहीं; दासकवि बहुत पहिले ही यह बतला चुके थे कि श्रीमानों[2] के घर में विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त भी कुछ भोग्या स्त्रियां हुआ करती हैं उनको भी स्वकीया मानना चाहिए। अलंकार-भाग में प्रायः कुवलयानन्द का ही प्रभाव है इसलिए मालोपमा आदि अलंकारों की विवेचना नहीं है। कवि ने दूसरी पुस्तकों से भी सुन्दर उदाहरण दे दिये हैं--विशेषतः 'नीतिमंजरी'[3] तथा 'भूषण चन्द्रिका'[4] से ।।

---

(१) पतिव्रता साधारना स्वीया के भिद दोय ।।

(२) श्री मानन के भौन में भोग्य भाभिनी और ।
तिन हूं को सुकियाहि में गनैं सुकवि-सिरमौर ।।

(३) अस्तुति कीने दुष्टजन, रीझै कबहुं न कोय ।
माखन मसलै नरम नहि, लोह-सलाका होय ।।

(४) राज विरोधी नशत है, यौं जग कौं दरसात ।
चंद उदय मैं तम-निकर छिन-छिन छीजत जात ।।

गंगाधर : महेश्वर-भूषण

(सं० १९५२)

'अवधान्तर्गत सीतापुर प्रदेश दासापुर बलदेवनगर' निवासी द्विज बलदेवप्रसाद ने 'प्रताप विनोद' नामक ग्रन्थ महाराज प्रतापरुद्रसिंह जू देव के नाम पर बनाया; जब प्रतापरुद्रसिंह के अनुज महेश्वबक्स गद्दी पर बैठे तो उन्होंने उक्त कवि के पुत्र गंगाधर उपनाम द्विजगंग को वैसा ही ग्रन्थ लिखने की आज्ञा[1] दी। द्विजगंग ने 'महेश्वरभूषण' की रचना सं. १९५२ में[2] की। इसमें ५ उल्लास हैं, प्रत्येक उल्लास के अन्त में "एतत् श्री रैकवार वंशावतंस श्री गुमानसिंहात्मज महाराजा महेश्वरबक्ससिंह जू देव वीरेन्द्र आज्ञानुसारेण अवस्थिवंशोद्भव श्रीमत्पण्डित द्विजबलदेवप्रसादात्मज दासापुर बलदेवनगर निवासी पण्डित गंगाधर उपनाम द्विजगंगजी विरचिते महेश्वरभूषण ग्रन्थे...." इत्यादि लिखा हुआ है।

महेश्वरभूषण में ११४ पृष्ठ तथा ५ उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में राजवंश वर्णन तथा द्वितीय में कविवंश वर्णन है। अपने पूर्वजों की ख्याति में कवि ने भारतेन्दु बाबू तथा महारानी विक्टोरिया दोनों के प्रमाण दिये हैं[3]। चतुर्थ उल्लास में 'श्री राधिका जी को नखशिख वर्णन' है, और पंचम में दान-वर्णन के अनन्तर चित्रकाव्य के खड्गबद्ध, कामधेनु मध्याक्षरी आदि भेद दिये हुए हैं।

'अलंकार निर्णय' महेश्वरभूषण के तृतीय उल्लास में है। परम्परा पर अलंकार का लक्षण है:—

प्रथक पदारथ व्यंगि अरु, रस सो शब्दम आइ।
अर्थ प्रकासैं त्यहि कहत, अलंकार कविराइ॥

लक्षण दोहे में हैं और उदाहरण कवित्त या सवैये में; उदाहरण एक से अधिक भी

---

(१) आयसु सीस धरो द्विजगंग महेन्द्र महेश्वरबक्स उदार को।
हेरि अलंकृत ग्रन्थ यथामति मिश्रित निर्णय के कृत कार को॥

(२) माघ सुदी द्वितीया, दृग पंच नौ चन्द्र सु संवत श्री गुरुवार को॥

(३) पढ़ि विद्या वाराणसी लियो प्रसंसापत्र।
हरिश्चन्द्र आदिक सुकवि किय हस्ताक्षर तत्र॥
भयउ जबै इंग्लैण्ड में जुबली को दरबार।
चित्र काव्य वर विरचि कै पठयो तित सुखसार॥
महरानी भार्तेश्वरी वर अनुसासन दीन्ह।
बड़े लार्ड साहब सुकवि सनदयापता कीन्ह॥
तिनकर सुत मैं नाम मम गंगाधर अस भाखि॥

हैं। स्थान-स्थान पर 'तिलक' भी दिया हुआ है जो सामयिक प्रभाव के कारण स्पष्टीकरण के निमित्त प्रयुक्त है:—

तिलक—

प्रश्न —मिसिकरि कै तो पर्यायोक्ति में भी है।

उत्तर—पर्यायोक्ति मैं मिसि करि कै कार्य साध्यो है,

और कैतवापन्हुति में किसी मिसिकरि कै किसी को कहा जाय। काम स्वयं तरवार नहीं चलायी स्त्री के कटाक्ष के मिसि काम की तरवार वर्णी। (पृ० २७)

अलंकार-भाग में मुख्य प्रभाव चन्द्रालोक-कुवलयानन्द का है; मालोपमा, रसनोपमा तथा उपमेयोपमा का वर्णन नहीं किया गया परन्तु परिणाम तथा उल्लेख के बीच स्तबकोपमा अवश्य है। उपमा के भेद आर्थी तथा श्रौती दिये हुए हैं; परिकर नहीं है परन्तु परिकरांकुर है; मुद्रा, अतद्‌गुण, अनुगुण, विशेष, पिहित, आदि अलंकार भी नहीं लिखे गये। द्विजगंग ने 'उत्तर' को 'गूढोत्तर' तथा 'चित्र' को 'प्रश्नोत्तर' नाम दिया है। अर्थालंकारों के अनन्तर शब्द के लाटानुप्रास, जमक, वृत्यनुप्रास तथा वीप्सा अलंकारों का वर्णन है। इस प्रकार अलंकारों के क्रम, भेद या वर्णन को दृष्टि में रखकर द्विजगंग पर किसी एक ही आचार्य या ग्रन्थ का प्रभाव नहीं माना जा सकता।

'महेश्वरभूषण' में कितने ही स्थलों पर संस्कृत के आचार्यों का नामपूर्वक स्मरण है:—

विशेषोक्ति भूषण तहां, मम्मट को मत मानु ॥१५९॥
अधिक अलंकृत प्रथम तहं, कैयट को मत मानि ॥१६७॥
अलंकार मम्मट मते जानौ तदगुन तौन ॥२४६॥
विवृत्तोक्ति भूषण तहां मम्मट के मत होइ ॥२६२॥

मम्मट तथा कैयट का नाम केवल विवादास्पद स्थलों पर ही दुहाई के रूप में लिया या है। ऐसा जान पड़ता है कि सामान्यत: तो कवि जयदेव-अप्पयदीक्षित के अनुसार अलंकार-वर्णन करता जाता है, जहां दो-एक स्थल पर मतभेद प्रटक किया है वहां मम्मट-कैयट की बात सुनकर ही।

'महेश्वरभूषण' के लक्षण स्पष्ट नहीं है, उदाहरणों में भी मध्यकालीन सरसता न आ सकी, अलंकार-विषय के लिए गद्य का माध्यम सर्वत्र चल गया था परन्तु यह कवि पुरानी परिपाटी पर ही जमा रहा। अत: बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी कृति असफल रचना ही रही, इसमें पुरानी परिपाटी तथा नवीन उदय के बीच चमत्कृत कवि किसी भी उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सका।

'महेश्वरभूषण' सं. १९५३ में सम्पूर्ण हुआ, पाण्डेय भगवानदीन[1] ने इसको लिखा था, और सं. १९५४ में भारत-जीवन प्रेस से इसका प्रकाशन हुआ।

---

(१) वन्हि बाण निधि ससि संवत सुचारु सुचि
कीन्हौ है तयार जिमि सज्जन सुजानिये।
पांडे हौं प्रवीन, नाम मेरो भगवान दीन,
ताविन लिख्यौ है प्रेम पूरो पहिचानिये॥

गद्ययुगीन अलंकार-साहित्य

कविराज मुरारिदान : जसवंत जसोभूषन

(सं० १९५०)

महाराज जसवंतसिंह के आज्ञानुसार कविराजा मुरारिदान ने संवत्[1] १९५० में "जसवंत जसोभूषन" नामक ग्रन्थ लिखा; जो "प्रतापरुद्र यशोभूषण" तथा "शिवराज भूषण" ग्रन्थों के वर्ग का है। इस ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर भी हुआ और लघु संस्करण भी। हमारे सम्मुख इसका लघु[2] संस्करण "जसवंत-भूषण-ग्रन्थ" है।

इस ग्रन्थ में सात "आकृतियां" हैं; प्रथम में सामान्य-परिचय, दूसरी में काव्य-स्वरूप-निरूपण, तीसरी में शब्दालंकार, चौथी में अर्थालंकार, पांचवी में रसवदादि अलंकार-निरूपण, छठी में अन्तर्भाव और सातवीं में उपसंहार है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से भी यह सिद्ध है कि यह ग्रन्थ मुख्यतः अलंकार[3] का ग्रन्थ है और अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप आश्रयदाता की यशोगाथा यहाँ सन्निविष्ट हो गई है। प्रथम आकृति में ग्रन्थ-निर्माण का कारण कविराजा ने स्वयं इन शब्दों में बतलाया है :—

भाषा भूषन ग्रंथ कौ, इक दिन चल्यौ प्रसंग।
मोसों नृप पूछ्यो कहौ, याकौ कैसौ ढंग॥
भाषा में मत भरत के, है प्रथमहि यह ग्रंथ।

× × ×

पै साक्षात् न होत है, अलंकार कौ ज्ञान।
इस उत्तर पर हँसि कह्यौ, रचौ ग्रंथ कोउ आन॥

× × ×

बन्यौ पंचदश वर्ष में, निर्मल ग्रंथ नवीन।
लक्षण नाम प्रकाश

प्रस्तावना में लेखक ने बतलाया है कि **"राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रन्थ निर्माण करने का आरम्भ कर के विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रंथ अनेक हैं, पिष्टपेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिये कि जिससे विद्वानों को इस ग्रंथ के अवलोकन की रुचि होवे, और विद्यार्थियों को इस ग्रंथ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे, तब राजराजेश्वर के पुण्य प्रभाव से चन्द्रालोक ग्रन्थ की "स्यात्स्मृतिभ्रांतिसंदेहैस्तदंकालंकृतित्रयम्" इस कारिका की स्मृति होकर यह स्फुरणा हुई**

---

(१) उन्नीस सौ पचास, भलौ संवत् विक्रम भन॥ (समाप्ताकृति)

(२) जसवंत जसभूषन बड़ो, है मम निर्मित ग्रंथ।
संग्रह कीनो शिशुनहित, पेखन भूषन पंथ॥ (प्रथमाकृति)

(३) उपमादि अलंकारन दिखाय।
जसवंत जसहि बरन्यौ बनाय॥

कि दूसरे कवियों ने तो अलंकारों के नामों को लक्षण नहीं समझा है, इसलिये सबों ने नामों से अतिरिक्त लक्षण बनाये हैं। एक जयदेव कवि ने स्मृति, भ्रांति और सन्देह इन तीन अलंकारों के नामों को लक्षण समझा है......समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो गए (पृ० ३)।"

इस प्रस्तावना में कविराजा ने ग्रन्थ रचना के दो कारण बतलाये हैं जिनमें से एक तो सनातन है—"विलक्षणलाभ"; परन्तु दूसरा इस आचार्य की मुख्य विशेषता है। प्रथम आकृति में वे लिखते हैं :—

प्रथम नाम रखने वालों ने दूसरा कोई लक्षण नहीं बनाया है, क्योंकि नाम ही से अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से उनका दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं[1]। दूसरों ने लक्षण बनाये हैं सो कितनेक लक्षण तो साक्षात् स्वरूप के बोधक नहीं, और कितनेक अव्याप्त्यादि दोषग्रस्त हैं। उनका खण्डन उन उन अलंकारों के प्रकरण में 'जसवंत जसोभूषण' ग्रन्थ में किया गया है। (पृ० ३६-३७)

यह तो निर्विवाद है कि पहले अलंकारों के नाम पड़ गये, पश्चात् उनके लक्षण निर्मित हुए और नाम रखते समय भी अलंकार-विशेष के स्वरूप पर प्रथम आचार्य की दृष्टि अवश्य थी; परन्तु नाम लक्षण के ठीक-ठीक बोधक नहीं हो सकते क्योंकि जिस समय नामकरण होता है उस समय गुणों की यथार्थ परख नहीं हो पाती। अतः प्राचीन शास्त्र के आधार पर नाम में ही *लक्षण की खोज वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती। यदि सभी नामों में लक्षण* दिखाई पड़ते होते तो चन्द्रालोककार केवल स्मृति, भ्रान्ति तथा सन्देह के विषय में ही वैसा संकेत क्यों करते ?

कविराजा ने दूसरे ग्रन्थों को पढ़कर अलंकारों के नामों में लक्षण देख या अपनी सूझ से ही—यह कहना कठिन है। परन्तु यह निश्चय है कि जयदेव कवि के अतिरिक्त आचार्यों—हिन्दी आचार्यों—ने भी इस विलक्षणता पर ध्यान दिया था। यह प्रवृत्ति प्रायः तो उन्हीं तीन अलंकारों के विषय में थी :—

(क) सुमिरन, भ्रम, संदेह को लच्छन प्रगटै नाम। (काव्य निर्णय)

(ख) लच्छन नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, संदेह ॥(„ „)

(ग) सुमिरन सुमृति, सुभ्रान्ति भ्रम, बिन निश्चय संदेह।
निश्चय बिन संदेह, ये जानि नाम ते लेह ॥ (काव्य रसायन)

देवकवि में इस ओर कुछ अधिक झुकाव दिखाई पड़ता है :—

(क) दृष्टान्तालंकार सो लक्षन नाम प्रमान। (काव्य रसायन)

(ख) जहां अर्थ संभव नहीं, ताहि असंभव भाखि ॥ („)

परन्तु इन सभी आचार्यों ने नाम को संकेत भर माना है, लक्षण नहीं। वस्तुतः नाम स्वरूप का ठीक-ठीक बोध नहीं करा सकते। संभव है साहित्य-शास्त्र के शैशव में अलं-

---

(१) नाम धरे धुर पंडितन, सुध स्वरूप अनुसार।
× × ×
अलंकार कौ होत है, इन सों स्पष्ट स्वरूप ॥२॥

कारों के नाम कुछ सोच कर रखे गये हों। परन्तु ज्यों-ज्यों नये-नये अलंकार जन्मते गये त्यों-त्यों पुराने नाम अतिव्याप्त दिखाई पड़ने लगे---'उपमा' अलंकार का क्षेत्र सादृश्य-मात्र से किस प्रकार संकीर्ण होता चला गया है यह कभी फिर कहने की कहानी है। साहित्य-शास्त्र में एक ही शब्द "रूपक" आज अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न अर्थों का बोधक है। "स्मरण" भाव भी होता है तथा अलंकार भी। "अप्रस्तुत प्रशंसा" में "प्रशंसा" का विशिष्ट अर्थ न समझने वाले मतिराम आदि आचार्य कितनी बड़ी भूल कर बैठे हैं, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। अस्तु, अलंकारों के नामों में उनके लक्षण नहीं मिल सकते और यावत् शास्त्रीय लक्षण विदित न होगा तावत् अलंकारों का वास्तविक स्वरूप, पारस्परिक अन्तर, तथा वर्गीकरण समझा नहीं जा सकता।

कविराजा जी का यह सिद्धान्त भ्रामक था। वे नामों के टुकड़े करके उनमें लक्षणों की आभा खोजने का हठात् प्रयत्न करते हैं। अनुप्रास अलंकार का स्वरूप बतलाते हुए कविराजा जी ने लिखा है :---

अनु =वीप्सा ; अनेक बार
प्र =प्रकृष्ट ; उत्तम
आस=न्यास ; धरना
बारंबार उत्तम धरना

"अर्थ के बारंबार धरने में पुनरुक्ति दूषण होता है, उसमें विपरीत भाव अर्थात् भूषण का बोध कराने के लिए---इस नाम में 'प्र' उपसर्ग लगाया है। यहां काव्य के अलंकारों का प्रकरण है और काव्य में शब्द-अर्थ ये दो ही वस्तु होती हैं, सो अर्थ का बारंबार धरना तो दूषण है उत्तम नहीं इससे और शब्दालंकार के प्रकरण से, यहां शब्द बारंबार धरना अर्थसिद्ध है।"

इस व्याख्या में अनावश्यक खींचतान की गई है। अर्थ की आवृत्ति में दूषण क्या है? क्या किसी और आचार्य ने भी ऐसा माना है? क्या वीप्सा तथा पुनरुक्तप्रकाश में आवृत्ति नहीं होती? "शब्द का बारम्बार धरना" ही यदि अनुप्रास का लक्षण माना जाएगा तो क्या इसमें अतिव्याप्ति दोष न होगा? यह स्पष्ट नहीं कि यह आवृत्ति सव्यवधान हो सकती है या नहीं, क्या इसका एक ही चरण में होना आवश्यक है, और यह आवृत्ति एक बार होगी या अनेक बार?

ऐसा लगता है कि कविराजा जी सातवीं कक्षा के विद्यार्थियों को अलंकार विषय का काम-चलाऊ ज्ञान करा रहे हैं---किस प्रकार नाम सुनते ही सारी विशेषताएँ याद आ सकती हैं। केवल 'अनुप्रास' के प्रसंग में ही नहीं, 'उपमा' तथा 'परिसंख्या' आदि मुख्य अलंकारों के स्वरूप में भी यही विशेषता है[१]।

---

(१) उपमा---उप=समीपता ; माङ्=माने।

"एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है; न्यूनता का, अधिकता का, और समानता का। सो वर्णनीय की न्यूनता तो मनोरंजनता-विहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है।

कविराजा की इस विलक्षणता का सब आचार्यों ने खंडन किया है, वस्तुतः विलक्षणता कोई गुण नहीं—वैज्ञानिक अध्ययन के निष्कर्ष ही प्रतिभा के द्योतक माने जाते हैं। अस्तु, कविराजा जी की गर्वोक्ति[1] नितान्त थोथी है।

अलंकार-क्रम

इस ग्रंथ की दूसरी मौलिकता या विलक्षणता यह है कि अर्थालंकारों में **"उपमा अति प्रसिद्ध है, इसलिए उपमा को प्रथम कहकर फिर वर्णमाला क्रम से दूसरे अलंकार"** कहे गये हैं। अकारादि-क्रम से अलंकारों का विवेचन बड़ा हास्यास्पद है—क्योंकि इस व्यवस्था के अनुसार प्रथम आने वाले सभी अलंकार नगण्य ही हैं। पुराने आचार्यों अलंकारों का क्रम महत्त्व के अनुसार निश्चित करते थे; भामह ने स्वभावोक्ति की अवहेलना की अतः उसकी चर्चा एक वर्ग के अन्त में कर दी, दण्डी स्वभावोक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे इसलिए इसको योजना में प्रथम स्थान दिया; उपमा को आदिस्थान अधिकतर आचार्य इसीलिए देते हैं कि उपमा अनेक अलंकारों की मातामही है। किस अलंकार को कहां स्थान मिलना चाहिए इसकी एक कसौटी थी कि प्रतिवेशी सजातीय हो, अतः एक वर्ग के अलंकार सामान्यतः एक साथ रहते हैं। अलंकारों के क्रम का तीसरा सूत्र है जन्मकाल को प्रथमता, जो आयु में बड़ा है वह सामान्यतः पहिले स्थान पा लेगा। कविराजा जी इन सब बातों को भुलाकर अंग्रेजी शब्दकोषों के समान अकारादिक्रम को प्रथमता की कसौटी बना बैठे।

आचार्य को अपनी योजना शिथिल मालूम पड़ी, अतः प्रथमता का अधिकारी न होने पर भी उपमा को आदि स्थान मिल गया। इस पुस्तक में इस अनुचित पक्षपात का कोई कारण नहीं दिया गया। वस्तुतः नाम पर आधारित होने वाला यह अकारादि-क्रम से विवेचन नाम में लक्षणों की खोज से भी अधिक सारहीन तथा अवैज्ञानिक है।

अलंकार-विषय

कविराजा अलंकार-वादी थे, इसका मुख्य प्रमाण तो यही है कि उनके ग्रन्थ में केवल

सम निर्णय में उपमा अलंकार की रूढ़ि है।"

यदि लेखक के इस तर्क को मान भी लिया जाय तो इस वर्णन में सभी सादृश्यमूलक अलंकारों को स्थान मिल जावेगा; उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सभी में भी तो "समनिर्णय" होता है।

परिसंख्या

"संख्या गणना को कहते हैं। गणना का यह स्वभाव प्रसिद्ध है कि जिस विषय में जिसकी गणना की जाती है, उनमें उस विषय का नियम हो जाता है। जैसे युधिष्ठिर आदि पांच पांडव हैं, यहां युधिष्ठिर आदि को पांडुपुत्रता के विषय में ५ करके गिनने से पांडुपुत्रता का युधिष्ठिर आदि में नियम हो जाता है, तब अन्यत्र वर्णन अर्थसिद्ध है कि छठे में पांडुपुत्रता नहीं, 'परि' उपसर्ग का यही अर्थ वर्णन है।"

(१) भोज समय निकसी नहीं, भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवंत समय, भये भाग्य अनुकूल॥ (प्रथमाकृति)

अलंकार-विषय को ही स्थान मिला है; साथ ही अग्निपुराण के **'अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती'** का अनुवाद[1] करके भी उन्होंने काव्य में अलंकार के महत्व का प्रतिपादन किया है।

इस ग्रन्थ में ८१ अलंकार हैं—१ शब्दालंकार तथा ८० अर्थालंकार[2]। 'भाषा-भूषण' का अनुकरण करने वाले के लिए यह तो स्वाभाविक है कि वह शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास को ही मानें शेष को या तो अस्वीकार करे या उनका अन्तर्भाव अनुप्रास में ही कर दे; रीतिकाल के सभी कवियों ने ऐसा किया है; परन्तु आधुनिक लेखनी से ऐसी प्रवृत्ति खटकती है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि कविराजा जी ने, जानकर या अनजाने में ही, 'अनुप्रास' का अर्थ व्यापक समझा है; लाटानुप्रास तथा यमक इसी के रूप बने रहे हैं, वक्रोक्ति केवल अर्थालंकार है। यमक का अन्तर्भाव उदाहरण से सिद्ध है:—

(क) हार रहे गिरि तेरे हारवाले कुच सों।

(ख) है समर समरस सुभट मरुपति, वाहिनी विख्यात।

परन्तु चित्र में शब्दालंकारत्व का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है; **'प्राचीन कमलाकार, धनुषाकार इत्यादि रूप से काव्य लिखे जावें उनको चित्रकाव्य कहकर, शब्दालंकार के प्रभेद मानते हैं, सो भूल है; क्योंकि शब्द में रहकर काव्य को शोभा करे वह शब्दालंकार है'** (पृ० ७९)। वक्रोक्ति का अन्तर्भाव अर्थालंकार के बीच विवेचन से स्पष्ट है।

अर्थालंकार

कविराजा ने ८० अर्थ के चमत्कार माने हैं। इनमें सर्वप्रथम विवेचन 'उपमा' का है, कारण ऊपर दिया जा चुका है। उपमा के १० भेद हैं:[3] शुद्धोपमा, विपरीतोपमा, परस्परोपमा, परंपरितोपमा, निजोपमा, समुच्चययोपमा, बहूपमा, मालोपमा, रसनोपमा, कल्पितोपमा। लुप्तोपमा तथा पूर्णोपमा का भी लेख है। कुछ भेद नये लगते हैं, परन्तु हैं पुराने ही, नाम बदले हुए। विपरीतोपमा प्रतीप है, परस्परोपमा उपमेयोपमा, और निजोपमा अनन्वय है। परंपरितोपमा परंपरित रूपक का अनुकरण है। **'एक ही उपमान के अनेक**

(१) वेदव्यास भगवान् ने, परतछ कह्यौ पुकार।
कवि-बानी भूषन बिना, जैसी विधवा नार॥ (द्वितीय आकृति)

(२) परन्तु धोरियों की अनिर्वचनीय महिमा है कि उन्होंने बुद्धिबल से चुनकर ऐसे इक्यासी ८१ चमत्कारों का संग्रह किया है कि उनके सर्वव्यापी नामार्थों में अनन्त काव्यों के अनन्त चमत्कारों का समावेश हो जाता है। नामार्थों से ही अलंकारों का साक्षात् स्वरूप सुगमता से समझा जाता है।....विलक्षण स्वरूपवाला शब्दालंकार एक १ और अर्थालंकार अस्सी ८० हैं। (पृ. ३४५)

(३) सुध, विपरीत, परस्पर जानहु।
परंपरित, निज, समुचय मानहु।
बहु, माला, रसना, कल्पित पुन।
दस प्रकार उपमा भपति सुन॥

धर्मों से किसी एक उपमेय को उपमा दी जावे वह समुच्चयोपमा' (पृष्ठ २२) 'और एक ही धर्म के विषय में बहुत उपमानों की उपमा होवे वह बहूपमा', इनमें कोई सौन्दर्य नहीं दिखलाई पड़ता ।

नवीन-अलंकार

८० अर्थालंकारों में कम से कम १३ अलंकार बिलकुल नये हैं—अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच, संस्कार । इन नवीनों में सर्वप्रथम ध्यान उन पर जाता है जो पूर्व-स्वीकृत अलंकारों के विपरीत हैं—अतुल्ययोगिता, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक । इस विपरीत सृष्टि में कोई चमत्कार नहीं रह जाता, इसलिए अलंकारत्व को मानना भी संगत नहीं । उदाहरण के लिए अतुल्ययोगिता को ही देखिए । 'तुल्ययोगिता' में प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों के एक ही साधारण धर्म का एक बार कथन होता है । 'अतुल्ययोगिता' में इसका उलटा होगा । यदि प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों के एक ही सामान्य धर्म का कथन हो तो अलंकार 'दीपक' होगा न कि 'अतुल्ययोगिता' । अतः दीपक से बचने के लिए अतुल्ययोगिता का लक्षण हुआ प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों के (एक ही नहीं) अलग-अलग धर्मों का कथनः—

मेघमाल जल्प अल्प दें, विरल जु फल तरु-पंत ।
कलि-प्रभाव कम दान में, भयौ न नृप-जसवंत ॥

यहां प्रस्तुत है 'नृप-जसवंत', और अप्रस्तुत हैं 'मेघमाल' तथा 'तरु-पंत'; दोनों अप्रस्तुतों के अलग-अलग धर्मों का कथन है; 'मेघ-माल" का धर्म है 'जल अल्प', और 'तरु-पंत' का धर्म है 'विरल फल' । दो अप्रस्तुतों के अलग-अलग धर्म होने से सौंदर्य में कोई वृद्धि नहीं होती, यहां चमत्कार तो व्यतिरेक का है—प्रस्तुत अपने गुणों में अप्रस्तुतों से बढ़ गया है ।

नवीन अलंकारों में कुछ ऐसे हैं जो परस्पर में विपरीत हैं—अवसर तथा अनवसर, संकोच तथा विकास । जब 'अवसर' तथा 'संकोच' में ही कोई सौंदर्य नहीं तो उनके विपरीत किस प्रकार अलंकार बन जायेंगे । 'अनवसर' का विवेचन पहिले है (अलंकारादि क्रम के कारण), 'अवसर' का पीछे; 'अवसर' नाम का अलंकार पहिले भी था, रुद्रट ने वास्तव-गर्भ के २३ विशेषों के बीच इसका विवेचन किया है । कविराजा जी लिखते हैं:—

"जौं लौं परदेसी मनभावन विचार कीन्हौ,
तौं लौं तूती प्रकट पुकारी है तुही-तुही ।

यहां तू ही नायिका का प्राणघाती होगा ऐसा तूती (पक्षी) का बोलना अवसर पर हुआ इसलिए अवसर अलंकार है" (१२१) । रुद्रट ने अवसर अलंकार वहां माना है जहां न्यून अर्थ को उत्कृष्ट या सरस बनाया जाय[1], और उदाहरणों में वर्ण्य वस्तु[2] के

(१) अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते ।
अर्थस्य तदभिधानप्रसंगतो यत्र सोऽवसरः । ७।१०३।
(रुद्रट : काव्यालंकार)

(२) तदिदम् अरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥७।१०४॥ (वही)

ऐतिहासिक महत्व द्वारा उसके प्रति भावना का अतिरेक है। कविराजा का 'अवसर' अपने नाम के अनुसार ही गुणवान् है, इसलिए उसमें कोई सौंदर्य नहीं है। इसी प्रकार 'विकास' की सौंदर्यहीनता को समझना चाहिए; कविराजा की व्याख्या है **'विकास शब्द का अर्थ है पसरना'** और इसीलिए उनके उदाहरण में 'पसरने'[1] का ही वर्णन है। 'अनवसर' तथा 'संकोच' तो इनके विपरीत हैं ही।

इन नवीन अलंकारों में से 'अभेद' तो 'अभेद रूपक' ही है; 'नियम', तथा 'परिसंख्या' में कोई अन्तर नहीं; 'प्रतिमा' तथा 'संस्कार' में कोई अलंकारत्व नहीं दिखाई पड़ता। 'प्रतिमा' की व्याख्या में कविराजा जी लिखते हैं:—**"प्रतिनिधि का पर्याय प्रतिमा है।.....मुख्य के अभाव में मुख्य के सदृश जो ग्रहण किया जाता है उसको प्रतिनिधि कहते हैं।.......जैसे देवताओं के अभाव में देवताओं की मूर्त्ति रखी जाती है, उसको प्रतिमा कहते हैं। इस लोक व्यवहार छाया से धोरी ने इस अलंकार का अंगीकरण किया है"** (१७२); और उदाहरण दिया है:—

हौं जीवत हौं जगत में, अलि याही आधार।
प्रानप्रिया उनिहार यह, ननदी वदन निहार॥ (१७३)

'यहां विदेशस्थ पति के अभाव में पति के सदृशाकार होने से ननदी को नायिका ने पति के स्थानापन्न किया है।' संस्कार अलंकार में **'नायक अपने स्नेहवाली परकीया नायिका के घर जाने के अति अभ्यास जनित वासना वश से चाहकर न जाने पर भी उसके घर चला जाता है।'**

दूसरे शास्त्रों के पारिभाषिक शब्दों से अलंकार गढ़ने में कोई विशेष सौंदर्य नहीं उत्पन्न होता।

अलंकारों का अन्तर्भाव

इस ग्रन्थ की छठवीं आकृति 'अन्तर्भावाकृति' है। जिस प्रकार कविराजा नवीन अलंकारों को जन्म देने के शौकीन हैं उसी प्रकार पुरानों का अन्तर्भाव भी आपका प्रिय विषय है। १८ अलंकारों का अन्यत्र अन्तर्भाव है—अत्युक्ति, अनन्वय, अनुगुण, अर्थान्तरन्यास, असंगति, आशी, उन्मीलित, उपमेयोपमा, परिकरांकुर, पुनरुक्तिवदाभास, प्रतीप, प्रस्तुतांकुर, प्रौढोक्ति, ललित, व्याजनिन्दा, व्याजोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति। अनन्वय, उपमेयोपमा को तो उपमा के अन्तर्गत रख दीजिए; और अनुगुण, उन्मीलित, परिकांकुर तथा प्रस्तुतांकुर भी कुछ आचार्यों ने नहीं माने। परन्तु अर्थान्तरन्यास, असंगति, प्रतीप, विभावना तथा विशेषोक्ति इतने जम चुके हैं कि इनका उन्मूलन निर्विरोध स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थान्तरन्यास न दृष्टान्त है न काव्यलिंग, और असंगति विरोध-मात्र नहीं है। विभावना तथा विशेषोक्ति के विषय में कविराजा का मत है कि **'सो** (विभावना) **तौ विचित्र अलंकार में अन्तर्भूत है'**, **'हमारे मत में यहां** (विशेषोक्ति में) **भी कार्य-कारण सम्बन्धी चित्रता में पर्यवसान होने से यह भी चित्रहेतु का प्रकार होकर विचित्र में अन्तर्भूत**

---

(१) सर सरिता गिरि सिंधु सौं, रुकत नहीं दिन रात।
जस भूपत जसवंत कौ, जग में पसरत जात॥

है' (३१०)। यदि 'चित्रता' के आधार पर ही विभावना तथा विशेषोक्ति 'विचित्र' के अन्तर्गत आ जाते हैं तो सभी अलंकार 'विचित्र' के ही दूसरे रूप हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा 'चित्रता' या चमत्कार तो सर्वत्र रहता ही है। इसी प्रकार यदि 'प्रतीप' का अन्तर्भाव दूसरे सादृश्यमूलक अलंकारों में कर लें, तो फिर कौनसा अलंकार बच जाएगा——सभी उपमा के ही 'प्रपंच' तो है।

रसवदादि

कविराजा ने रसवदादि अलंकारों के निरूपण में पूरी पंचम आकृति लगा दी है; ये अलंकार ४ रसवदादि तथा ३ भावोदयादि हैं; अलंकार को प्रधानता देने वाले के लिए इन अलंकारों को इतना महत्त्व देना स्वाभाविक भी है। प्रमाण के अलंकार केवल ४ हैं और उनपर विचार किया गया है अन्तर्भावाकृति में। इसी प्रकार संसृष्टि तथा संकर है। इस ग्रन्थ के ८० अलंकार तो 'हेतु' पर समाप्त हो जाते हैं; रसवदादि, भावोदयादि, प्रमाण तथा संसृष्टि-संकर इनसे बाहर हैं; लेखक इनको अलंकारों के उस विवेच्य वर्ग में स्थान नहीं दे रहा, प्रत्युत इन पर अलग विचार कर रहा है।

आचार्यत्व

कविराजा बहुश्रुत थे और उनमें आचार्यजनोचित आत्म-विश्वास भी था; स्थान-स्थान पर दूसरे शास्त्रों का संकेत उनकी प्रज्ञा का प्रमाण है। 'परिणाम' में सांख्यशास्त्र,[1] 'संस्कार'[2] में चिन्तामणि-कोष आदि के संकेत सहायक ही होते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा तथा विषाद के प्रसंग में उनके विचार मूल्यवान् हैं:——

(क) प्राचीनों ने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की गम्यता में अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का स्वरूप समझा है, सो भूल है। वह तौ व्यंग्य का विषय है, अलंकार नहीं। और प्राचीनों ने कार्यनिबन्धना, कारण-निबन्धना नामक अप्रस्तुत-प्रशंसा के प्रकार कहे सो भूल हैं, उक्त स्थानों में अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं। (११४)

(ख) वांछित से अधिकार्थ की सिद्धि इत्यादि में प्रहर्षण अलंकार होता है, वैसे ही वांछित से विरुद्धार्थ की प्राप्ति इत्यादि में विषाद अलंकार होता है। ऐसा मत कहो, कि दुःख शोभाकर होकर अलंकार कैसे होता है? क्योंकि जिसको विषाद होता है उसके लिये तौ वह शोभादायक आनन्ददायक नहीं; परन्तु उसका वर्णन काव्य को शोभादायक होकर श्रोता को आनन्ददायक होता है। जैसे कि वीभत्सादि रस-स्थल में जुगुप्सादि का वर्णन श्रोताओं को आनन्ददायक होता है। (२१८)

उपर्युक्त कथन ठीक हैं या नहीं, इस पर विचार करना हमारा अभीष्ट नहीं, परन्तु इन कथनों से कविराजा की प्रतिभा का कुछ आभास मिल सकता है। अलंकार-विवेचन

---

(१) परिणामः प्रकृतेरन्यथाभावे; अवस्थान्तर को सांख्यशास्त्र में परिणाम माना गया है। उसकी छाया में धोरी ने परिणाम अलंकार का अंगीकार किया है।

(२) कहा है चिन्तामणि कोषकार ने 'संस्कारः वासनायाम्' जैसा कि कस्तूरी आदि पदार्थ निकाल लेने पर भी उस पात्र में उसकी वासना रह जाती है। इस न्याय से धोरी ने संस्कार अलंकार माना है।

करते हुए आपने क्वचित् अलंकारों का पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी बतलाया है; ऐसे स्थल भी गहरी पैठ के सूचक है, कुछ स्थल देखिए:—

(क) **नाटक में कायिक रूपक होता है, काव्य में वाचिक रूपक होता है। प्रतिमा अलंकार में तो मुख्य के बदले में दूसरी वस्तु का स्थापन करना है। वहां स्वांग की विवक्षा नहीं; क्योंकि चतुर्भुजादि स्वरूपवाले विष्णु के स्थान में गोलमटोल शालिग्राम भी स्थापन किया जाता है। (१९३)**

(ख) **आक्षेप में तो निषेध मात्र में पर्यवसान है और यहां (विनोक्ति में) किसी के निषेध-वाली वस्तु में पर्यवसान है; इसलिए निषेधरूप आक्षेप से इसका भेद है। (२१३)**

वस्तुतः काटछांट कविराजा जी के स्वभाव में थी। किसी वस्तु को ज्यों-का-त्यों इन्होंने नहीं अपनाया, ये विलक्षणता-प्रेमी हैं। नवीन का निर्माण तथा प्राचीनों का अन्तर्भाव करने के साथ-साथ इन्होंने कुछ अलंकारों का क्षेत्र भी घटाया-बढ़ाया है; ('प्रत्यनीक' का विवेचन देखिए)। संस्कृत के अच्छे छन्दों के कुछ छायानुवाद उदाहरण बन कर आये हैं। बिहारी, मतिराम का ऋण है ही, जसवंतसिंह को सर्वत्र आधार मानकर ही विलक्षणता का सम्पादन किया गया है; उपमा में केशव का भी ऋण है। रसगंगाधरकार का प्रभाव प्रचण्डता में है। नवीन अलंकारों के उदाहरण तो प्रायः मतिराम से ही आये हैं। कविराजा पंडित होते हुए भी अलंकार-विषय के श्रद्धालु विद्वान् नहीं हैं; इनके निष्कर्ष शीघ्रता का फल प्रतीत होते हैं।

कविराजा की शैली निर्दोष नहीं। अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण पद्य में दिये हैं, फिर उनकी गद्य में व्याख्या की गई है। जो बात पद्य में लिख दी उसी को फिर गद्य में लिखना उस समय शायद गुण समझा जाता रहा हो, परन्तु आजकल की व्यस्त दृष्टि से एक दोष है। कविराजा ने लगभग प्रत्येक अलंकार के लक्षण पर अनावश्यक समय लगाया है, फिर दूसरों की आलोचना के अवसर हाथ से जाने नहीं दिये। हां, लक्षणों में उदाहरणों को घटाने का संकेत छात्रों के लिए लाभदायक हैं। कविराजा पंडित थे परन्तु अलंकार-विषय के आचार्य नहीं—विषय को स्वयं पचाकर दूसरों के लिए सुगम ये न बना सकते थे। इनका विवेचन गद्य का माध्यम स्वीकार करके भी उलझ गया है। मौलिकता के प्रयत्न में ये पाठक को प्रायः पथभ्रष्ट कर देते हैं। इनकी योग्यता का ठीक-ठीक अनुमान कठिन है, परन्तु इनका आत्मविश्वास संदेहरहित है। 'जसवंत जसोभूषन' में न तो यशोगाथा ही ('शिवराज भूषण' के समान) सफल हो पाई है, और न भूषण-दर्शन ही स्पष्ट है : लेखक की विद्वत्ता अवश्य ही पद-पद पर उद्घोष करती हुई दृष्टिगत होती है।

जगन्नाथ प्रसाद भानु : काव्य-प्रभाकर

(सं० १९६६)

सं० १९६६ में बा. जगन्नाथ प्रसाद (भानु कवि), असिस्टेण्ट सेटलमेंट आफिसर मध्य प्रदेश, ने साहित्य-शास्त्र पर 'काव्य-प्रभाकर' नाम का ग्रन्थ लिखा, जो १२ मयूखों के ७८६ पृष्ठों में साहित्य के सभी अंगों पर प्रकाश डालता है। प्रथम मयूख में छन्दवर्णन, द्वितीय में ध्वनि, तृतीय में नायिकाभेद, चतुर्थ में उद्दीपन, पंचम में अनुभाव, षष्ठ में संचारी, सप्तम में स्थायीभाव, अष्टम में रस, नवम में अलंकार, दशम में दोष, एकादश में काव्यनिर्णय, तथा द्वादश में कोष-लोकोक्ति-संग्रह का विस्तृत विवेचन है। ३ पृष्ठ की अंग्रेजी की प्रस्तावना[1] में लेखक ने दीर्घाकार ग्रन्थ की रचना के दो मुख्य कारण बताये हैं —

(क) दूसरी प्राप्य पुस्तकें प्रायः शिथिल तथा अव्यवस्थित हैं ;

(ख) इन पुस्तकों में काव्य के सभी अंगों पर विचार नहीं किया गया।

विशेषताएं

इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(क) काव्य के सभी अंगों पर व्यवस्थित विचार। छन्द को आचार्य प्रायः छोड़ देते हैं, भानुकवि ने उसको प्रथम ही मयूख दिया है।

(ख) दीर्घाकार—अधिक से अधिक उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करना।

(ग) अंग्रेजी पढ़े-लिखे (प्रायः विदेशी) पाठकों का ध्यान। भानुकवि ने प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है, प्रस्तावना अंग्रेजी में लिखी है, और ग्रंथारंभ में २८ पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय दे दिये हैं। इन में से ७ पर ध्यान देना आवश्यक है :—

अनुकरणवाचक शब्द	ओनोमैटोपीया
अजहत् लक्षणा	मैटोनमी
उपलक्षण	सिनैकडोकी
चेतनधर्मोत्प्रेक्षा	परसोनिफिकेशन
निदर्शना	ट्रांसफर्ड एपीथैट
सार	क्लाइमैक्स
भाविक	प्रोसोपोपीया

(१) माई ओनली जस्टिफिकेशन फौर सच ए वेंचर इज दैट दो मैनी बुक्स औन रिटोरिक एग्जिस्ट इन हिन्दी, यट दिअर ट्रीटमेंट आफ दि सब्जैक्ट इज मोस्टली लूज एण्ड इंट्रीकेट एण्ड फरदर दैट नन आफ दैम डील्स कम्प्रीहेन्सिवली विद ऑल दि वेरियस ब्रांचेज आफ दि सब्जैक्ट।

काव्यसिद्धान्त

'अनुभूमिका' आदि में भानुकवि ने कुछ काव्य-सिद्धांतों को स्वीकार किया है। वे सिद्धांत ये हैं :—

(क) जो काव्य की शोभा को बढ़ावे वही अलंकार है। (पृ. ४७२)

(ख) अलंकार काव्य का हृदय स्वरूप है, क्योंकि उसका आभास हृदय में ही होता है[1]। (पृ. १५)

(ग) जहां चमत्कार नहीं, वहां कोई अलंकार नहीं। (पृ. १५, पृ. ४७२)

(घ) अलंकारहीन काव्य नग्न कहलाता है। (पृ. १५, पृ. ४७२)

(ङ) अलंकार के ३ भेद हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार। (पृ.४७२)

(च) मेरे मत में अलंकार १०८ हैं—शब्दालंकार ८, और अर्थालंकार १००। (पृ. ४७२)

इन सिद्धांतों में कोई मौलिकता नहीं, प्रत्युत समन्वय का प्रयत्न है। भानुजी अलंकार को शोभाकारक नहीं मानते, प्रत्युत सौंदर्यवर्द्धक स्वीकार करते हैं; साथ ही केशव से सहमति प्रकट करते हुए अलंकारहीन काव्य को नग्न भी कह देते हैं। भानु कवि को हम अलंकारवादी नहीं कह सकते, परन्तु वे अलंकार के महत्त्व की अवहेलना न कर सके, वे मम्मट-विश्वनाथ से ही अधिक सहमत जान पड़ते हैं। अलंकार को काव्य का हृदय बताना केवल चमत्कारोक्ति भर है, युक्तियुक्त नहीं; काव्यमात्र का आभास हृदय में ही होता है तो केवल अलंकार को ही हृदय कैसे कहा जा सकता है। छन्द का वर्णन प्रथम मयूख में करके भानुजी पिछली क्षति-पूर्त्ति कर रहे हैं या छन्द को काव्य का सर्वमुख्य अंग मानते हैं—यह एकपद कहना संभव नहीं।

अलंकार-विषय

काव्य-प्रभाकर के नवम मयूख में अलंकार विषय १६५ पृष्ठों में फैला हुआ है। विस्तार का कारण लक्षणों या उदाहरणों की व्याख्या या आलोचना नहीं, प्रत्युत उदाहरणों की भरमार है। अष्टम मयूख के भीतर शान्त रस के प्रकरण में उदाहरणों के लिये ४६ सवैये और छप्पय जुटाये गये थे, इस प्रकरण में भी यही प्रवृत्ति है। इसी प्रकरण में 'अलंकारों' के दूषण तथा '३६ प्रकार के न्यायों का वर्णन' भी सन्निविष्ट है। प्रत्येक अलंकार के प्रसंग में उसका नाम, संस्कृत लक्षण, इन लक्षणों के पदों का अर्थ, संस्कृत उदाहरण, भाषा-लक्षण, भाषा-उदाहरण, भावार्थ, तथा अन्त में 'अन्यान्य उदाहरण' की लड़ी मिलती है।

काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, कविप्रिया, रसराज, जगद्विनोद, काव्य-निर्णय, भाषा-भूषण, पद्माभरण, ललित-ललाम तथा अन्यान्य साहित्य-ग्रंथों के स्थान-स्थान पर संकेत आ गये हैं : जो इस बात के द्योतक हैं कि इस अलंकार-प्रकरण में भानुकवि ने बड़ा परिश्रम किया है।

---

(१) व्यंग्य रु रस तें भिन्न जो, हृदय रूप सरसाहिं।
चमत्कार भूषण सरिस, सोई भूषण आंहि॥

शब्दालंकार

काव्य-प्रभाकर में अलंकारों के ३ भेद हैं :—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभया-लंकार। "'शब्दालंकार' में प्रथम नाम, फिर संस्कृत-लक्षण, भाषा-लक्षण, भावार्थ और अन्त में उदाहरण दिये गये हैं"। शब्दालंकार ८ हैं—पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र। पुनरुक्तावदाभास के २ भेद अभंग तथा सभंग हैं। अनुप्रास के ५ भेद हैं—छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट तथा अन्त्य। वक्रोक्ति २ प्रकार की है, श्लेष तथा काकु। भाषा-समक का उदाहरण बड़ा मनोहर है। चित्र में केशव को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया गया है। समय की प्रवृत्ति के अनुसार भानुकवि ने चित्र को सूक्ष्म नहीं बनाया। 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' दोनों का इस प्रकरण में समान प्रभाव है।

अर्थालंकार

सर्वप्रथम भानुकवि ने 'भूषण' का लक्षण दिया है, फिर केशव के 'जदपि सुजाति सुलक्षणी०' को उद्धृत करके अलंकार के महत्त्व की स्थापना की है। उपमेय तथा उपमान की व्याख्या करके उपमा का विवेचन है; उपमा के ४ भेद हैं—पूर्णा, लुप्ता, रशना तथा माला। मालोपमा तथा रशनोपमा के नामार्थ को (माला=पंक्ति+उपमा=समता) (रशना=कर्धनी=शृंखला+उपमा=समता) कदाचित् सरल बनाने के लिये ही टुकड़े करके समझा दिया है। अनन्वय से प्रमाण तक अलंकारों का क्रम प्रायः साहित्यदर्पण के अनुसार है, परन्तु चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। अलंकार की संख्या १०० कुवलयानन्द के ही अनुकरण पर है। उदाहरण के लिये हिन्दी के अनेक कवियों के छन्द आये हैं, जिनसे कुछ कम प्रसिद्ध भी हैं, जैसे माखन, गोकुल, रसिकबिहारी, गुलाब आदि; तुलसी, बिहारी, लछिराम तो प्रायः आ जाते हैं।

उभयालंकार

भानुकवि के अनुसार उभयालंकार के २ भेद हैं :—संसृष्टि तथा संकर; संसृष्टि के भेद ३ तथा संकर के ४ हैं। वस्तुतः उभयालंकार कवि की योजना में न थे, फिर भी उसने इनकी चर्चा कर दी है। रस तथा भाव के ७ अलंकार लेखक को मान्य[1] नहीं, परन्तु ये कुवलयानन्द में पाये जाते हैं, अतः "उनसे भी काव्य-प्रभाकर के पाठक अज्ञात न रहें, एतदर्थ उन्हें भी 'भूषण-चन्द्रिका' से उद्धृत कर अपनी सम्मति सहित" लिख दिया है। अन्त में ४ दोष शब्दालंकारों के तथा ९ दोष अर्थालंकारों के आ गये हैं।[2] उभया-लंकारों के अन्तर्गत 'न्यायदर्पण' है, जिसमें ३६ प्रकार के न्याय समझाये गये हैं।

(१) मेरी सम्मति में इन सातों में अलंकारता नहीं, क्योंकि ये सब रसविषयक हैं, और रस व्यंग्य के अन्तर्गत हैं, एवं व्यंग्य अलंकार से पृथक् है। (६१९)

(२) जिस पद्य, पाद अथवा वाक्य में एक से अधिक अलंकारों का समावेश हो वहीं उभया-लंकार है फिर चाहे उन समावेशित अलंकारों में से शब्दालंकार हो चाहे अर्थालंकार हो और चाहे दोनों के सम्मिलित क्यों न हों पर उसकी उभयालंकार ही संज्ञा है। (४७२)

विवेचन-शैली

'काव्यप्रभाकर' की अपनी कोई विशेष मान्यता नहीं, फिर भी उसका महत्व निर्विवाद है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि भानुकवि ने अंग्रेजी पढ़े-लिखे तथा विदेशियों का ध्यान रखा है। साथ ही विषय को विस्तार देकर भी सरल बनाना लेखक का सदा अभीष्ट रहा है। केवल अलंकार-विषय ही नहीं समस्त काव्यांग 'ऐसी सरल और स्पष्ट भाषा में कहा गया है कि पढ़ते ही विषय हृदयंगम हो जाता है; अन्त में उदाहरण यथासाध्य रामायणादि सद्ग्रन्थों से ललित और सुन्दर खोज खोजकर लिखे गये हैं' (१६)।

भानुकवि ने मूल के साथ 'सूचना', 'प्रश्नोत्तर' तथा 'फुटनोट' की ३ विशेषताओं को भी जोड़ा है। 'सूचना' के द्वारा लेखक प्रायः दो या अधिक अलंकारों का पारस्परिक भेद सरल गद्य में समझा देता है, या छात्रों के लिये ध्यान देने योग्य बातें बतला देता है :—

(क) वक्रोक्ति प्रसंग पृ० ५९३

सूचना—छेकापन्हुति में प्रश्न करने पर सत्य को छिपा कर असत्य कथन से समाधान किया जाता है।

सूक्ष्म में दूसरे के इशारे पर इशारे में ही उत्तर देना होता है।

व्याजोक्ति में गुप्तभेद प्रकट हो जाने पर किसी बहाने से उसको छिपाते हैं।

युक्ति में चतुर क्रिया द्वारा मर्म को छिपाया वा गुप्त भाव से जताया जाता है।

वक्रोक्ति में काकु (तानेबाजी) से अर्थ पलटा जाता है।

(ख) उत्प्रेक्षा-प्रसंग पृ० १११

उत्प्रेक्षालंकार के समर्थन को अर्थान्तरन्यास का कथन अनुचितार्थ दोष हैं। जैसे—

रच्छत हिमगिरि तमहि मनु, गुफा लीन रविभीत।
शरणागत छोटेहु पर, करत बड़े जन प्रीत॥

यहां अचेतन तम को सूर्य से भय होना ही संभव नहीं है फिर हिमालय द्वारा यह केवल व्यर्थ संभावना है, इसके समर्थन के लिए दोहे में उत्तरार्द्ध में अर्थान्तरन्यास कथन करना व्यर्थ है। अतएव अनुचितार्थ दोष है।

'प्रश्नोत्तर' द्वारा लेखक ऐसे विषयों को स्पष्ट करता है जिनमें शंका-समाधान की अपेक्षा थी। प्रश्न करके जिज्ञासा जगाना और फिर उसकी शांति के हेतु उचित उत्तर देना इस प्रश्नोत्तर-प्रणाली की विशेषता है :—

(क) प्रश्न—लेश और उल्लास में क्या अन्तर है ?

उत्तर—लेश में दोष को गुण अथवा गुण को दोष कल्पना करना होता है, और उल्लास में एक के गुण-दोषों से दूसरे के गुण-दोष कथन किये जाते हैं।

तीसरी प्रणाली फुटनोट की है। फुटनोट केवल स्वमत प्रकट करता है, विषय के स्पष्टीकरण के लिये इसकी आवश्यकता नहीं होती —

(क) भ्रमर के व्याज से नायक प्रति जहां कोई उक्ति कही जाय उसे कतिपय कवियों ने भ्रमरोक्ति कहा है। मेरे विचार में भ्रमरोक्ति और अन्योक्ति दोनों ही गूढोक्ति के अन्तर्गतहैं। (पृ. ५८८)

मौलिकता

काव्य प्रभाकर प्रायः संग्रह-ग्रन्थ है, इसलिये भानुकवि से शास्त्रीय मौलिकता की आशा व्यर्थ है। फिर भी कुछ स्थलों पर इन्होंने स्वमत से विवेचना की है :—

(क) परिहासापन्हुति एक नया अलंकार है। यह भ्रान्तापन्हुति का ही एक उपभेद है, यहां **'प्रबोधक स्वयं श्रोताओं को भ्रान्ति में डालकर पश्चात् निवारण करके हर्षित कर देता है।'** विवाह आदि अवसरों पर गीत गाती हुई स्त्रियां मनोरंजन के लिये इस चमत्कार का बहुशः प्रयोग करती हैं। भानुकवि ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उदाहरण का संचय किया है :—

छाती मीड़त सब समधिन कर, रूप छटा अति देखि।
डारत अतर लगाइ अरगजा, ताहि रंगीली पेखि॥
समधिन तू लगवावत डोलत, सब सों चोवा रंग।
फटी दरार परी समधिन की, चोली उभरि उमंग॥

(ख) पदार्थावृत्ति दीपक को भानुकवि अर्थालंकार नहीं मानते, क्योंकि इसमें पद की आवृत्ति होती है। **'पदार्थावृत्ति—यह अलंकार शब्दालंकार के भेदों में से जंचता है, परन्तु 'शिष्टस्य गतिश्चिन्तनीया' इस वाक्य प्रमाण से यहीं लिख दिया है।'**

(ग) प्रहेलिका अलंकार को शब्दालंकारों में स्थान मिला है, परन्तु एक अर्थ की प्रहेलिका भी होती है; भानुकवि ने 'गूढ़ोत्तर' के प्रसंग में इसी प्रहेलिका की चर्चा की है और इसका वर्णन[1] किया है।

"शब्दालंकार में जो शब्द-प्रहेलिका कही है, वह शब्दान्तर्गत है। और जो प्रहेलिका अर्थान्तर्गत है उसे चित्रोत्तर अलंकार के अन्तर्गत जानना चाहिए। यद्यपि प्रहेलिका की गणना अलंकारों में नहीं, तथापि इसमें कुछ-कुछ झलक अलंकार की पाई जाती है इसलिए इसका लिखना भी उचित जाना गया" (५८३)।

उदाहरण

भानुकवि उदाहरणों के लिये प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के ये प्रथम आचार्य हैं जिसने उदाहरण पररचित रखे हैं। उदाहरणों की दो विशेषतायें हैं—'ललित' तथा 'सुन्दर'। संस्कृत तथा हिन्दी के महान् कवियों से ही इनका प्रायः संग्रह किया गया है। साथ ही हिन्दी के कुछ अप्रसिद्ध कवियों के सुन्दर तथा उपयुक्त पद्य भी रख दिये गये हैं, अनुवाद अधिक नहीं है। 'प्रमाण' के उदाहरण में माखन कवि का यह कवित्त कितना सुन्दर है :—

वेद के पढ़ैया को अढ़ैया को न लागै जोग,
आल्हा के गवैया को रुपैया रोज लानो है।
होली क्यों न होती गरे पोती कुलनारिन के,
हार बारनारिन को बसन खजानो है।

---

(१) **एक नारि करतार बनाई। ना वह क्वारी, ना वह ब्याही॥**
सूहे रंग सदा ही रहै। भाभी भाभी सब जग कहै॥ (वीर-बहूटी)

'माखन' कहत गुर पैसा को पसेरी भर,
पैसा ही को पैसा भर माहुर बिकानो है।
यारो गुन मानो और गुन को न दोष देहु,
गुन ना हिरानो गुन-गाहक हिरानो है ॥

संस्कृत तथा हिन्दी के अतिरिक्त फारसी-मिश्रित उदाहरण भी हैं। सर्वप्रथम भानु-कवि ने ही गद्य के व्यावहारिक उदाहरण अलंकारों के लिये रखे हैं। यह कहा जा सकता है कि गद्य के उदाहरणों में चमत्कार का अभाव है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नित्यप्रति के उन उदाहरणों से अलंकार के स्वरूप को समझना कुछ सहज बन जाता है :—

(क) उल्लेख अलंकार का उदाहरण—'**हमारे तो डिपुटी कमिश्नर, कमिश्नर, चीफ कमिश्नर, और लाट साहब सब आप ही हैं।**'

(ख) प्रयत्नीक के प्रसंग में—'**कुम्हारिन से बस न चलै, गधैया के कान उमेठै।**'

(ग) तद्गुन के प्रसंग में—'**मार हिमायल की गधी एराकी के लात**'।

(घ) गूढोक्ति में—'**कहै सास को और सुनावै बहू को।**'

इसमें सन्देह नहीं कि गद्य के ये उपर्युक्त उदाहरण अलंकारत्वहीन हैं, अतः ये उपयुक्त भी नहीं। परन्तु केवल यह ध्यान में लाना चाहिये कि भानुकवि अलंकार को जीवन के निकट की वस्तु समझते थे, अतः उन्होंने सुपरिचित उदाहरणों द्वारा भी उनके सौंदर्य को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है।

मूल्यांकन

भानुकवि में अधिक मौलिकता नहीं, फिर भी उनका यह विशालकाय ग्रन्थ अलंकार के क्षेत्र में एक विशेष प्रगति का द्योतक है। कोरे पाण्डित्य के स्थान पर आचार्यत्व का यहां से प्रारंभ समझना चाहिये। अब तक जितने अलंकारी आये वे मौलिकता तथा पाण्डित्य के नशे में छके हुए थे, लक्षण तथा उदाहरणों में वे अपने पद्य बनाते थे और दूसरों का अनुकरण करते हुए भी उनका नाम न लेते थे। भानुकवि इस कोटि के नहीं। उनका उद्देश्य विषय का साभार स्पष्टीकरण है, उन्होंने अपना कम लिखा है, दूसरों के लिखे की परीक्षा करके उसको यथावश्यकता अपनाया है। स्पष्टीकरण के नवीनतम साधन 'अनुभूमिका', 'सूचना', 'प्रश्नोत्तर', तथा 'फुटनोट' यहां व्यवहृत हुए हैं। गद्य का समुचित उपयोग है। लेखक की सारग्राहिणी बुद्धि तथा विनम्र विद्वत्ता प्रशंसनीय है। शिकायत केवल एक है—अति विस्तार ; परन्तु जब हम यह जानते हैं कि विस्तार भी यथासंभव स्पष्टीकरण के ही लिये है तो यह भी उस समय की दृष्टि से कोई दोष नहीं लगता। यद्यपि ग्रन्थ का इतना बड़ा आकार आज के व्यस्त पाठक को खटकता है फिर भी नवम मयूख के विषय में हम लेखक से सहमत हैं कि "**इस सम्पूर्ण मयूख में ऐसा सुगम क्रम रखा गया है कि पढ़ते ही विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता है।**"

भगवानदीन : अलंकार-मंजूषा

(सं० १९७३)

परीक्षा में प्रविष्ट होने वाले युवकों की कठिनाई को दूर करन के लिए सं. १९७३ में ला. भगवानदीन ने 'अलंकार-मंजूषा' नामक पुस्तक लिखी। यह बड़ी लोकप्रिय हुई, हमारे समक्ष इसका सं. २००४ का नवम संस्करण है। 'मंजूषा' में ४ पटल हैं; परन्तु विवेचन केवल अलंकार-विषय का ही है। प्रथम पटल में अलंकार की परिभाषा, अलंकार का स्थान तथा अलंकारों के तीन प्रकार बतला कर (यहां तक केवल गद्य का ही व्यवहार है) लेखक ने शब्दालंकारों का वर्णन किया है। दूसरे पटल में १०८ अर्थालंकार हैं, तीसरे में उभयालंकार, तथा चौथे में अलंकार-दोष का विवेचन है। इस प्रकार अलंकार-मंजूषा का नाम सार्थक है; अलंकार-विषय से सम्बद्ध समस्त सामग्री यहां विधिपूर्वक एकत्रित मिल जाती है।

विशेषताएं

इस युग में आश्रयदाता के नाम पर पुस्तक लिख कर ही सम्मान न मिल सकता था इसलिए कविराजा मुरारिदान ने राजाश्रय प्राप्त करते हुए भी अपनी पुस्तक में 'विलक्षणता' लाने का प्रयत्न किया; भानुकवि ने संस्कृत-लक्षण, पदार्थ, अनेक उदाहरण, सूचना, प्रश्नोत्तर, फुटनोट तथा अनुभूमिका के सहारे लोकप्रियता प्राप्त की। भगवानदीन भी लोक की प्रवृत्ति से सुपरिचित थे, उन्होंने अपनी पुस्तक में निम्नलिखित विशेषताएं रखी हैं:—

(क) प्रत्येक अलंकार के कई एक उदाहरण दिये गए हैं।

(ख) जहां-तहां विशद टिप्पणियां और सूचनाएं भी दी गई हैं।

(ग) अलंकारों की बारीकियां और भेद गद्य में समझाये गए हैं।

(घ) पुराने अलंकार ग्रन्थों को "पढ़ाने में शिक्षकों को संकोच-भाव धारण करना पड़ता था, अर्थात् कोई गुरु अपने शिष्य को, कोई पिता अपने पुत्र को, या कोई भाई अपने छोटे भाई को निस्संकोच-भाव से नहीं पढ़ा सकता था", इस पुस्तक से वह कमी दूर हो गई और सूर तुलसी आदि भक्त-कवियों या भूषण आदि वीर कवियों की रचनाओं से अलंकारों के अच्छे-अच्छे उदाहरण प्राप्त होने लगे।

शब्दालंकार

'मंजूषा' में शब्दालंकार १० हैं—अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट, अन्त्य), चित्र, पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक, वक्रोक्ति, वीप्सा तथा श्लेष। अलंकारों का क्रम ऐतिहासिक दृष्टि वाले पाठक को चौंका देता है; अनुप्रास तो सर्वप्रथम ठीक है, परन्तु शेष अलंकारों में क्रम का कोई सिद्धान्त दिखाई नहीं पड़ता; अनुमान से ज्ञात होता है कि दीनजी के सामने छात्र ही थे अतः उनको जिसका सरल परिचय मिल जाय उसी शब्दालंकार को अपेक्षाकृत आदि में स्थान दे दिया गया। इन अलंकारों में

नया तो कोई नहीं है, परन्तु पुनरुक्तिप्रकाश तथा वीप्सा बहुत दिनों बाद दिखलाई पड़ रहे हैं; अनुकरण कदाचित् दासकवि का है, और यमक का भेद बन कर सिंहावलोकन भी उन्हीं के प्रभाव से आया लगता है। केशव का प्रभाव चित्र तथा यमक में है, यमक के विषय में दीनजी लिखते हैं कि—'**इसके सबसे अधिक भेद केशवदास ने अपनी कविप्रिया में लिखे हैं।**'

अलंकारों के लक्षण अधिक कसे हुए नहीं हैं। वक्रोक्ति का पद्य में लक्षण है:—

होय स्लेष सों काकु सों, कल्पित औरै अर्थ।
ताहि कहत वक्रोक्ति हैं, सिगरे सुकवि समर्थ॥

इस पद्य से वक्रोक्ति के उस मूल का संकेत नहीं मिलता कि "....**जब वक्ता कोई वाक्य एक अर्थ में कहता है और श्रोता उसका दूसरा ही अर्थ लगाता है**......." तब यह अलंकार माना जाता है, नीचे 'विवरण' के द्वारा यह बात स्पष्ट की गई है—या तो लक्षण पद्य में न होता, या फिर उसे कसा हुआ होना चाहिए था। पृ० ४०-४१ पर श्लेष अलंकार का 'विवरण' भ्रामक है; शब्दालंकार और अर्थालंकार का भेद उससे ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं होता, उदाहरण भी सहायक नहीं होता, यदि 'सूचना'[1] न होती तो उनके श्लेष के विषय में पाठक गलत धारणा ही बना बैठते।

कुछ अलंकारों की तुलना फारसी तथा अंग्रेजी से कर दी गई है; भानुकवि में इसके बीज थे, परन्तु इसका पल्लवन इसी पुस्तक के कुछ अलंकारों के प्रसंग में दृष्टिगोचर होता है। यह तुलना यहां केवल अनुप्रास के विषय में है:—

(क) **फारसी, अरबी तथा उर्दू में अनुप्रास और यमक अलंकारों को 'तजनीस' कहते हैं। हिन्दी की तरह इन भाषाओं में भी इन अलंकारों के अनेक भेद हैं।** (३)

(ख) **छेक और वृत्ति अनुप्रासों को अंग्रेजी में अलिटरेशन कहते हैं।** (पृ. ८)

यह कहना कठिन है कि यह तुलना अलंकारों के अध्ययन में कितनी लाभदायक हो सकती है, परन्तु इससे युग-प्रवृत्ति का कुछ आभास अवश्य मिलता है। दीन जी ने गद्य के उदाहरण भी दिये हैं, और 'सूचना' तथा 'विवरण' द्वारा विषय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है।

अर्थालंकार।

'अलंकार-मंजूषा' के दूसरे पटल में १०८ अर्थालंकार हैं। सर्वप्रथम स्थान "**अलंकारों में सर्वोत्तम और अनेक अलंकारों का मूल उपमा अलंकार**" को मिला है। फिर मालोपमा, रसनोपमा, अनन्वयोपमा, उपमेयोपमा तथा ललितोपमा अलग अलंकार माने गये हैं। अनन्वय आदि को उपमा कहकर भी इनको स्वतन्त्र अलंकार मानने में किसी सिद्धान्त के बीज नहीं छिपे, कदाचित् स्मरणोपयोगिता को ध्यान में रखकर इनको स्वतन्त्र अलंकार मानकर गिना दिया है। यहां ललितोपमा जयदेव से नहीं आई, प्रत्युत

(१) "**यदि ये शब्द पर्यायवाची शब्दों में बदल दें तो वह अलंकार ही मिट जाता है। इसी से उसे शब्दालंकार मानना पड़ा है। अर्थश्लेष में शब्दों को बदल देने पर भी अलंकार बना रहता है**"।

भूषण से ग्रहण की गई है; लक्षण, उदाहरण, तथा 'लीलादिक पद' की नामावली में वही अनुकरण है; 'सूचना' द्वारा केशव की संकीर्णोपमा का इसी में अन्तर्भाव कर देना लेखक की प्रौढ़ता का द्योतक है।

रूपक का लक्षण मुरारिदान से आया है, सांगरूपक के लम्बे-चौड़े उदाहरण खटकते हैं। उल्लेख के उदाहरण मे रामचरितमानस की इतनी चौपाइयां न आतीं, तो हानि क्या थी ? जिस प्रकार रीतिकालीन कवि उदाहरण देते-देते तन्मय हो जाता है उसी प्रकार उस युग के आचार्य भी सरसता में बह जाते थे।

स्मरण, उत्प्रेक्षा, क्रम, वक्रोक्ति तथा अत्युक्ति में दीनजी की मौलिकता है। प्राचीनों ने स्मरण अलंकार वहां माना था जहां "सदृश वस्तु लखि सदृश की सुधि आवै," परन्तु "हिन्दी-साहित्य में हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि प्राचीनों का यह लक्षण पर्याप्त नहीं"; अस्तु लेखक ने इस अलंकार के क्षेत्र में विस्तार कर दिया और सदृश को देखकर ही नहीं, **सुन कर या सोच कर भी** जहां सदृश की याद आ जाती है वहां इस अलंकार को मान लिया है; यह क्षेत्र-विस्तार सर्वथा स्वीकार्य है।

उत्प्रेक्षा का लक्षण कदाचित् मुरारिदान की सहायता से लिखा गया है। **"उत्प्रेक्षा (उद्+प्र+ईक्षन) शब्द का अर्थ है बलपूर्वक प्रधानता से देखना।"** लेखक पारिभाषिक शब्द 'संभावना' से बचना चाहता था, परन्तु नाम के टुकड़े करके तो छुटकारा नहीं हो सकता; 'बलपूर्वक प्रधानता से देखना' तो और भी कम समझ में आने वाली चीज है।

क्रम अलंकार के दीनजी ने ३ भेद किये हैं। ये हैं—यथाक्रम, भंगक्रम, तथा विपरीत-क्रम। यथाक्रम तो क्रम या यथासंख्य अलंकार ही है। 'भंगक्रम' को फारसी में 'लफोनशर गैर मुरत्तब' कहते हैं, यह संस्कृत-हिन्दी में दोष माना गया है, अलंकार नहीं; क्योंकि 'यथाक्रम' तथा 'भंगक्रम' दोनों ही शोभावर्द्धक अलंकार नहीं हो सकते। 'विपरीतक्रम' लेखक की अपनी सूझ है; परन्तु इसमें कोई विशेष चमत्कार तो दिखाई नहीं पड़ता:—

राज्य नीति बिनु, धन बिनु धर्मा। हरहि समर्पे बिनु सतकर्मा।
विद्या बिनु विवेक उपजाये। श्रम फल पढ़े, किये अरु पाये॥

यहां राज्य, धन, सत्कर्म तथा विद्या यदि क्रमशः नीति, धर्म, हरिसमर्पण तथा विवेक से रहित है, तो (अब 'विपरीतक्रम' है) उन चारों का पढ़ना, करना, तथा प्राप्त करना श्रम-फल ही है।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में सुधार करके प्राचीनों के अनुसार दीनजी ने 'उदाहरण' अलंकार माना है और विस्तारपूर्वक दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास से उसका अन्तर बताकर उदाहरण की स्वतन्त्र स्थापना की है। 'मंजूषा' में 'वक्रोक्ति' शब्दालंकार भी है तथा अर्थालंकार भी, शब्द-वक्रोक्ति तो उस समय सब लोग स्वीकार करते थे परन्तु अर्थ-वक्रोक्ति अर्थ-श्लेष पर आश्रित है, लेखक ने इसके शब्दमूला वक्रोक्ति से अन्तर की भी व्याख्या कर दी है। 'अत्युक्ति' के विषय में लेखक की रुचि विशिष्ट है; उसके कतिपय नवीन भेद हैं—सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य, प्रेम तथा विरह; वस्तुतः इनको भेद कहना उचित नहीं, ये तो आधारभूत गुण हैं, दीनजी लिखते हैं कि "इसी प्रकार और भी समझ लें" (पृ० २६०);

अंग्रेजी पर्याय 'एग्जैजरेशन' तथा फारसी पर्याय 'मुबालिग़ा' भी दे दिये हैं (२६१)।

'अलंकार-मंजूषा' में रसवदादि अलंकार नहीं हैं; 'प्रमाण' नाम का केवल एक अलंकार है, शेष को भेद मान लिया गया है। फिर भी अर्थालंकारों की संख्या १०८ है, कारण यह कि कुछ भेदों को स्वतन्त्र अलंकारत्व प्राप्त हो गया है—उपमा के भेद तो स्वतन्त्र हो सकते थे; परन्तु दीपक, आवृत्तिदीपक, कारकदीपक, मालादीपक, तथा देहरी-दीपक को अलग-अलग अलंकार मानना कदाचित् व्याख्या-हेतु सुविधाजनक हो परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं लगता।

तीसरा तथा चौथा पटल

तीसरे पटल में दो उभयालंकार हैं। जहां एक से अधिक भूषण मिले हुए आ जाते हैं उस मिश्रण को उभयालंकार कहते हैं, इसके दो भेद हैं—संसृष्टि तथा संकर; तिल-तन्दुल-न्याय से मिश्रण 'संसृष्टि' है, और नीर-क्षीर-न्याय से मिश्रण 'संकर' कहलाता है। संसृष्टि के ३ भेद हो सकते हैं—शब्द-शब्द-मिश्रण, शब्दार्थ मिश्रण, तथा अर्थार्थ-मिश्रण। संकर के ४ भेद हो सकते हैं—अंगांगी भाव, समप्रधान, सन्देह, तथा एकपद। यह समस्त वर्णन पूर्व आचार्यों के समान ही है। इसी स्थल पर रसवदादि के अलंकारत्व का निषेध करके उनकी व्याख्या से पाठक को निराश कर दिया है।

चौथा पटल 'दोष-कोष' है। आदि में शब्दालंकारों के दोष हैं; शब्दालंकारों में सर्वप्रधान अलंकार 'अनुप्रास' तथा 'यमक' के; अनुप्रास के मुख्य ३ दोष हैं—प्रसिद्धाभाव, वैफल्य, तथा वृत्ति-विरोध; यमक का १ दोष 'अप्रयुक्त' है। अर्थालंकारों में से उपमा (९ दोष), उत्प्रेक्षा (२ दोष), समासोक्ति (१ दोष), तथा अन्योक्ति (१ दोष) के ही दोषों का वर्णन है। उत्प्रेक्षा-प्रसंग में 'अनुचितार्थता' दोष भानुकवि से ज्यों-का-त्यों उठाकर रख दिया है।

नवीन अलंकार

भगवानदीन ने पाण्डित्य छांटने की कोशिश नहीं की, क्योंकि उनका उद्देश्य प्रतिष्ठित का सुगम प्रतिपादन था, अतः मौलिकता की आशा यहां अधिक नहीं रखनी चाहिए। फिर भी वक्रोक्ति, श्लेष, उदाहरण तथा क्रम आदि के विषय में लेखक के स्वतन्त्र विचार हैं, और ये विचार निश्चय ही लाभदायक हैं। एक अलंकार 'तिरस्कार' नवीन भी है, सम-सामयिक आचार्यों ने इसको नहीं लिखा; जहां दोष-विशेष के देखने पर आदरणीय का भी त्याग हो जावे वहां अलंकार[1] 'तिरस्कार' है:—

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
तेहि त्यागिए कोटि वैरी-सम यद्यपि परम सनेही॥ (पृ. २२३)

---

(१) **एक उदाहरण, भानुकवि के समान, कहावत का है:—**
वा सोने को जारिये जातें फाटै कान।
अन्यत्र भी देखिए:—
सो सुख धर्म-कर्म जरि जाऊ। जहां न राम-पद-पंकज-भाऊ॥ (पृ. २२३)

इस अलंकार से हठात् मुरारिदान की याद आ जाती है, जिस कथन में चमत्कार नहीं उसको अलंकार कैसे मान लें—सौन्दर्य के अभाव में अलंकार नाम असंगत है।

विवेचन

'अलंकार-मंजूषा' पाण्डित्य-प्रसूत रचना नहीं है, इसका उद्देश्य तो शिष्यों के लिए कठिन विषय को सरल शैली में उपस्थित करना है। अतः दीनजी का विवेचन भानुकवि से भी अधिक सफल है, विद्यार्थी अपने परिचित संसार से ही सब कुछ प्राप्त कर लेता है, यदि कोई नवीन उदाहरण उसको मिलता है तो वह ऐसा जिससे उसका जीवन उत्तम बने। दीनजी का यह प्रयत्न सराहनीय है।

इससे भी अधिक मूल्य उनकी व्याख्या का है। पुस्तक में लक्षण तो युग की प्रवृत्ति को देखकर पद्य में ही दिये हैं, परन्तु जहां लक्षण कठिन है वहां 'विवरण' द्वारा उसको सरल भाषा में समझा दिया गया है; लक्षणों के पद्य भी अत्यन्त सरल तथा मंजे हुए हैं। अंग्रेजी तथा फारसी से स्थान-स्थान पर तुलना भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बड़ी लाभ-दायक है। लेखक यह भी बतलाता चलता है कि अमुक अलंकार हिन्दी के अमुक कवि में अधिक आया है और अमुक ने इसको सफलता से अपनाया है; इस प्रकार के संकेत दोषों में भी हैं—परन्तु समकालीन कवियों के दोष नहीं दिखलाये।

स्वकीय सम्मति के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर समान अलंकारों का पारस्परिक अन्तर भी है तथा उदाहरण लक्षणों में घटाये भी गये हैं। अपने दृष्टिकोण को स्वमत कह कर देने से पाठक मौलिकता में भूलकर वास्तविकता से अपरिचित नहीं रहता। दीनजी की पुस्तक का यह एक विशेष गुण है। उनकी सम्मति संतुलित तथा निष्पक्ष है, आचार्य के रूप में वे सफल हैं।

व्याख्या के लिए 'सूचना', 'विवरण' आदि की सहायता ली गई है। ऐसे स्थल लाभ-दायक होने के साथ-साथ अत्यन्त स्पष्ट भी हैं, इनसे लेखक के निर्भ्रांत ज्ञान का परिचय मिलता है:—

"सूचना—फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा की पहिचान करना विद्यार्थियों के लिए तनिक कठिन बात है। इसकी जांच के लिए सर्वप्रथम 'क्रिया' को जांचो। यदि क्रिया किसी हेतु से कही गई जान पड़े तो हेतूत्प्रेक्षा समझो और यदि उस क्रिया से किसी फल की इच्छा प्रकट हो तो फलोत्प्रेक्षा समझो। नीचे लिखे उदाहरणों पर विचार करो—

१. राधिकाजी के अधर और नासिका की छवि अनूप है, मानो बिंबाफल को देखकर लालच-वश आकर शुक बैठा हो। (सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा)

२. राधिका जी के अधर और नासिका की छवि अनूप है, मानो बिंबाफल का स्वाद लेने के लिए शुक चोंच मारना चाहता है।" (सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा)

मूल्यांकन

दीनजी ने दूसरों से बहुत कुछ लिया है; उदाहरण तो सभी दूसरों के ही हैं; क्वचित् दूसरों के लक्षण लेने में भी संकोच नहीं किया; क्योंकि लेखक मौलिकता का मतवाला नहीं है। 'अलंकार-मंजूषा' में दूसरों की आलोचना प्रायः नहीं है, उसकी आवश्यकता न

थी; यत्र-तत्र स्वमत कथन अवश्य है। केशव, जसवंतसिंह, तथा दासकवि का प्रभाव कतिपय स्थलों पर है ही। प्रथम बार यह ऐसी पुस्तक देखने में आई जो संस्कृत के प्रत्यक्ष प्रभाव से स्वतन्त्र है, इसका असंस्कृतज्ञ पाठक अपने ज्ञानाभाव में हीनता का अनुभव नहीं करता।

'अलंकार-मंजूषा' निश्चय ही अपने क्षेत्र में प्रगति की परिचायक है। भानुकवि की अपेक्षा दीनजी का विवेचन सरल तथा सुगम है; इन्होंने लक्षणों में उदाहरणों को घटाया भी है; यहां तुलना भी अधिक है तथा व्याख्या भी अधिक स्पष्ट। भानुकवि के समान इस आचार्य ने भी बोलचाल[1] की गद्य से उदाहरण रखे हैं, और उनकी संख्या काफी है। 'काव्य-प्रभाकर' के सभी गुण 'अलंकार-मंजूषा' में पाये जाते हैं, और बहुत अंश तक यह उसके दोषों से मुक्त है। आकार का संतुलन इसका एक विशेष गुण है। 'मंजूषा' ने स्तम्भाकार चित्रों द्वारा विषय को समझाने का एक नया ढंग अपनाया, और ध्यान देने योग्य बातों को अलग-अलग गिनाकर प्रतिपाद्य विषय को कंठस्थ करने की सुविधा पाठकों को दे दी (दे० पृ. ५० पर उपमा अलंकार का महत्त्व, तथा पृ० ५६-५७ पर लुप्तोपमा सूचक चक्र)।

संगति का प्रभाव अवश्य पड़ता है, यह इससे भी सिद्ध है कि यद्यपि दीनजी ने कविराजाजी के अकारादि क्रम को ग्राह्य न समझा, फिर भी 'अलंकार-सूची' में उन्होंने अलंकारों को अकारादि-क्रम से ही रखा है।

---

(१) वीप्सा अलंकार के गद्य-उदाहरण देखिए:—

(क) (आश्चर्य) : राम! राम! यह क्या करते हो।

(ख) (घृणा) : छिः! छिः! उसे मत छुओ।

(ग) (अहंकार) : भाई! भाई! क्या तुम्हीं बड़े बुद्धिमान हो। (पृ. ४०)

अर्जुनदास केडिया : भारती-भूषण

(सं० १९८७)

सेठ अर्जुनदास केडिया ने सं. १९८७ में अलंकारों का एक ३८३ पृष्ठ का ग्रन्थ 'भारती-भूषण' लिखा। भानुकवि तथा दीनजी के समान प्रस्तुत लेखक नवीन शैली को न अपना सका, वह मुरारिदान तथा कन्हैयालाल पोद्दार के वर्ग का है, उसमें पुरानी शैली ही है, पाण्डित्य के बोझ से लदी हुई। केडियाजी आचार्य-वर्ग में न रहकर पंडित-वर्ग में प्रविष्ट होने वाले हैं, उनका प्रयत्न यह है कि दूसरों से कम-से-कम लिया जाय, और यदि लिया भी जाय तो वह गुप्त-ग्रहण हो। समसामयिकों से लेना या लेकर स्वीकार करना वे उचित नहीं समझते; समकालीनों की अपेक्षा प्राचीनों का, तथा हिन्दी-आचार्यों की अपेक्षा संस्कृत-आचार्यों का भार उनको कुछ सह्य है। अस्तु, 'भारती-भूषण' में लक्षण बिलकुल मौलिक हैं; और ७५० उदाहरणों में से ३७५ दूसरों के हैं तो ३७५ स्वरचित। ध्यान रखना होगा कि भानु कवि तथा भगवानदीन इस 'स्व' का कोई महत्त्व नहीं समझते।

यह 'मौलिकता' अपने आप में कोई बहुत बड़ा गुण नहीं, इससे मिथ्या अहंकार तथा प्रच्छन्नहीनता की सूचना मिलती है; परन्तु पुराने पंडितों में यह था, और आजकल के विद्वान् दूसरों का नाम लिये बिना ही दूसरों की चीजों को चुपचाप पचा जाते हैं। जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है उनका आभार स्वीकार कर लेना उदीयमान आचार्य पर कोई आक्षेप नहीं लाता; इसके विपरीत प्रसिद्ध तथा उपयुक्त उदाहरणों को इसलिए त्याग देना कि दूसरों की नकल समझी जावेगी और अपने नये-नये उदाहरण गढ़कर पाठक को भुलावे में डालना—पाठक के प्रति कर्त्तव्य की उपेक्षा है। दीन और केडिया इस दृष्टि से एक दूसरे के नितान्त विपरीत हैं। 'भारती-भूषण' में जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, मुरारिदान तथा उत्तमचंद भंडारी से तो यथावसर सहायता ली गई है, परन्तु समकालीन भानु, दीन तथा पोद्दार की छाया को भी बचाया है—जहां छिपकर कुछ लिया गया है वहां अपने को बचाने के लिए किसी पुराने ग्रन्थ का नाम ले लिया है, जैसे 'तिरस्कार' अलंकार 'दीन' में भी था परन्तु केडिया इसको 'रस-गंगाधर' से लिया गया ही बतलाते हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि 'भारती-भूषण' में ३७५ उदाहरण दूसरों के रचे हुए हैं; परन्तु 'दूसरों' से यहां अभिप्राय हिन्दी के कवियों से है, हिन्दी के आचार्यों से नहीं। खड़ी-बोली के उदाहरण दो-तीन ही हैं; कोई भी पद्य संस्कृत का अविकल अनुवाद मात्र नहीं है। लक्ष्योपमामाला, सिंहावलोकन, भ्रान्तापन्हुति आदि के उदाहरण सुन्दर हैं।

कुछ विशेषताएँ

(क) 'भारती-भूषण' की सर्वमुख्य विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों के लक्षण गद्य में हैं, अब तक किसी आचार्य ने इस समयोपयोगिता पर ध्यान दिया न था। पोद्दारजी ने भी अपनी पुस्तक में यह विशेषता दी है।

(ख) अलंकारों के साथ-साथ अलंकार-भेदों की भी व्याख्या लक्षणों में हो गई है।
(ग) इसके उदाहरण किसी संस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद मात्र ही नहीं हैं।
(घ) समकालीन आचार्यों से कोई उदाहरण नहीं आया।
(ङ) अलंकारों के कम से कम २ उदाहरण दिये गये हैं; परन्तु भानुकवि के समान 'अन्यान्य' उदाहरण जुटाकर ग्रन्थ को विशालकाय नहीं बनाया।
(च) लक्षणों के प्रसंग में उदाहरणों को समझा दिया गया है।
(छ) लक्षणों की भाषा सरल है।
(ज) समान अलंकारों का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट किया गया है।
(झ) १२५ कवियों की ३७५ कविताएं उदाहरण-स्वरूप आई हैं।
(ञ) आजकल अंग्रेजी ढंग से पुस्तकों को आकर्षक बनाने का जो उद्योग किया जाता है, वह इसमें बहुत कम है'।

शब्दालंकार

इस पुस्तक में शब्दालंकार ८ हैं—अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, पुनरुक्तदाभास, शब्दवक्रोक्ति, शब्दश्लेष, वीप्सा, तथा चित्र। 'वक्रोक्ति' तथा 'श्लेष' के स्थान पर 'शब्दवक्रोक्ति' तथा 'शब्दश्लेष' नाम निश्चय ही अधिक उपयुक्त हैं; नाम से ही पाठक को सूचना मिल जाती है कि ये अलंकार शब्दमूलक भी होते हैं और अर्थमूलक भी। 'वीप्सा' के अतिरिक्त सभी अलंकार संस्कृत के आचार्यों को मान्य रहे हैं, 'वीप्सा' इस आचार्य ने 'काव्यनिर्णय' से लिया होगा, 'अलंकार-मंजूषा' से नहीं। 'चित्र' का इतना विस्तार खटकता है; पुराने आचार्यों की यह प्रवृत्ति तो क्षम्य थी, परन्तु गद्य में अलंकारों के लक्षण लिखने वाला आचार्य यदि एक चित्र अलंकार में ११ पृष्ठ लगावे तो यह उसका पाठक के प्रति अत्याचार ही है।

शब्दालंकार-प्रसंग में निम्नलिखित स्थलों पर ध्यान देना उचित है:—

(क) अनुप्रास शब्दालंकार का एक नया भेद "बैण सगाई' है। लेखक की जन्मभमि राजपूताने में इस अलंकार का प्रचार है; उत्तमचंद भंडारी ने अपने ग्रन्थ 'अलंकार-आशय' में इसका विवेचन किया है (भारती-भूषण, पृ० १४), उसी अनुकरण पर केडियाजी ने लिख दिया है। उदाहरण मारवाड़ी या डिंगल के हैं। हमारी सम्मति में प्रादेशिक सौन्दर्य राष्ट्र-भाषा पर लादना उचित नहीं, सौन्दर्य प्रादेशिक भी होता है और राष्ट्रीय भी—प्रायः दोनों अलग-अलग। आचार्य का काम नवीन अलंकार गढ़कर कविता-वनिता को सजाना नहीं है, उससे तो स्वीकृत आभूषणों के परिचय या विवेचन की ही आशा की जाती है।

(ख) अनुप्रास के अन्त में कुछ आचार्यों से मतभेद प्रकट करते हुए लेखक ने यह माना है कि अनुप्रास में 'व्यंजन-साम्य' ही पर्याप्त नहीं, 'स्वर-व्यंजन-साम्य' होने पर ही सौन्दर्य आनन्द-प्रद होगा। समर्थन में 'चन्द्रालोक' की दुहाई दी है, और भूषण के उदाहरणों से उसको पुष्ट किया है। वस्तुतः यह सूझ उत्तमचंद भंडारी[1] की है हमारे लेखक की नहीं,

---

(१) केडिया जी की बहुत कुछ मौलिकता दूसरों से, छिपकर, आई जान पड़ती है, भंडारी की पुस्तक से तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ और भी रहस्य प्रकट हो सकता है। उपमा तथा रूपक का प्रसंग भी इसी छाया में देखा जाना चाहिए।

उसने डरते-डरते इसको छिपे हुए स्वर में स्वीकार भी किया है:—

'इसी प्रकार उत्तमचंद भंडारी कृत 'अलंकार-आशय' नामक भाषा-ग्रन्थ में भी व्यंजन के साथ स्वर-समता का स्पष्ट विधान है।' (पृष्ठ १६)

(ग) लाटानुप्रास के, वाक्य तथा शब्द की आवृत्ति के अनुसार, दो भेद किये हैं। इसमें कोई विशेषता नहीं, क्योंकि शब्द-समूह का ही नाम वाक्य है, इस प्रसंग में दोनों का सार्थक होना भी अनिवार्य है।

अर्थालंकार

'भारती-भूषण' में अर्थालंकार १०० हैं। सर्वप्रथम 'उपमा' है; दो भेद लुप्ता तथा पूर्णा तो हैं ही, माला, लक्ष्या (ललिता), रसना तथा समुच्चया भी हैं। लेखक ने उपमा के अनेक भेदों में कोई गौरव माना है और इसीलिए 'कविप्रिया' तथा 'अलंकार-आशय' का नामपूर्वक स्मरण किया है; फिर भी यह आश्चर्य है कि 'श्रौती' तथा 'आर्थी' नामक भेदों की चर्चा नहीं की। उपमा के प्रसंग में उदाहरण संस्कृत के भी हैं तथा डिंगल के भी। दीन जी के समान यहाँ चार्ट तो नहीं बनाया, परन्तु उसके अनुकरण पर सभी भेदोपभेदों के उदाहरण, तुलनात्मक अध्ययन के लिए, रख दिये हैं। लक्ष्योपमा में 'भूषण' का उदाहरण नहीं रखा, प्रत्युत बेनी कवि का एक प्रसिद्ध कवित्त दिया है, जो मधुर होने के साथ उपयुक्त भी है:—

करी की चुराई चाल, सिंह की चुराई लंक,
ससी कौ चुरायौ मुख, नासा चोरी कीर की।
पिक के चुराये बैन, भृग के चुराये नैन,
दसन अनार, हांसी बीजुरी गंभीर की।
कहै कवि बेनी बेनी व्याल की चुराइ लीन्हीं,
रती-रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तौ कन्हैयाजू कौ चित्तहू चुराइ लीन्हौ,
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की॥

रूपक-प्रसंग में प्रभाव 'अलंकार-आशय' का है, विशेषत: उदाहरणों में। भगवानदीन के समान केडिया ने स्मरण का क्षेत्र व्यापक बनाया है, और विरोध द्वारा भी स्मरण-अलंकार माना है; लक्षण[१] दीन के लक्षणों के समान होते हुए भी भिन्न हैं; 'स्मरण-वैधर्म्य-माला' में कोई सौंदर्य नहीं दिखलाई पड़ता। 'उत्प्रेक्षा' का लक्षण दीन जी के अनुकरण पर ही है, केवल 'प्रतिभा' का विशेष योग हो गया है, 'संभावना' शब्द का अर्थ संस्कृत आचार्यों से ले लिया गया है। 'एकावली' का लक्षण स्पष्ट नहीं, अनुवाद न करके यदि केडिया जी पाठक का ध्यान रख कर सरल लक्षण बनाते, तो अधिक उपकार कर सकते थे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि 'तिरस्कार' अलंकार 'भारती-भूषण' में 'रस-गंगाधर' से आया माना गया

---

(१) "जहां पहिले के देखे सुने या समझे हुए किसी साकार पदार्थ के समान ही, फिर किसी समय कोई अन्य पदार्थ दिखाई पड़ने, उसका वर्णन सुनने, अथवा चिन्तन करने आदि से उस पहिले वाले पदार्थ का स्मरण हो आवे, वहां स्मरण अलंकार होता है।"

है, परन्तु हमको उसकी तत्काल प्रेरणा 'अलंकार-मंजूषा' लगती है। भगवानदीन के समान केडिया ने 'अत्युक्ति' के अनेक भेद दिये हैं और 'प्रमाण' अलंकार के ८ भेदों की व्याख्या की है।

विवेचन

केडिया जी से पूर्व अलंकार-विवेचन की जितनी प्रगति हो चुकी थी, उससे उन्होंने लाभ उठाया है परन्तु उसको छिपाने का भी प्रयत्न किया है; अतः उनका विवेचन उतना स्पष्ट नहीं जितना कि उनसे आशा थी। 'सूचना' की प्रणाली इन्होंने अपनाई और अनेक बारीकियों को स्पष्ट करने में उससे सहायता ली, प्रायः तुलनात्मक अध्ययन इसी माध्यम से हुआ है। फिर भी उनमें उलझन है, जिसका कारण पंडिताऊपन है। स्थान-स्थान पर संस्कृत के उद्धरण देकर तथा शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग करके लेखक भोले पाठक पर अपने पांडित्य की धाक भले ही जमा ले, उसको प्रकाश नहीं दिखला पाता। जो पाठक संस्कृत जानता है वह तो उस स्थल को मूल में देख लेगा, परन्तु जो संस्कृत-ज्ञान-शून्य है, उसके समक्ष संस्कृत के अर्थवर्जित उद्धरण रखने से क्या लाभ ? वस्तुतः ऐसा लेखक जिज्ञासु पाठक तथा विद्वान् पाठक को एक ही लाठी से हांकने का प्रयत्न करता है, और अपने इस संयुक्त प्रयास में एक के भी प्रति न्याय नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए समासोक्ति अलंकार के प्रसंग की टीका-टिप्पणी देखिये। लगभग ३ पृष्ठ की टीका-टिप्पणी में विषय की सुगमता कठिनता में परिणत हो गई है। इसी प्रकार 'दीपक-अलंकार' की टीका-टिप्पणी में पाठक के मस्तिष्क में केवल वामनाचार्य तथा जीवानन्द विद्यासागर ही रह जाते हैं, प्रतिपाद्य विषय का एक कण भी हाथ नहीं लगता।

यदि इन 'सूचनाओं' पर विचार करें तो ये अधूरी तथा असमर्थ हैं। 'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' का भेद बड़ा सूक्ष्म है, सामान्य पाठक की उस तक पहुँच नहीं होती, इसीलिए भगवानदीन ने इनके अन्तर को सरल तथा स्पष्ट भाषा में समझा दिया था। हमारे केडिया जी ने भी वैसा करना चाहा, परन्तु व्यर्थ :—

'फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा का निर्णय करना क्रिया से ही सुगम होता है। यदि क्रिया किसी कारण से कही गई हो तो हेतूत्प्रेक्षा और यदि किसी फल की इच्छा से व्यवहृत हुई तो फलोत्प्रेक्षा होती है।' (पृ.१३३)

इतनी बात तो प्रत्येक पाठक जानता है कि 'फलोत्प्रेक्षा' का अर्थ है 'फल की उत्प्रेक्षा,' और 'हेतूत्प्रेक्षा' का अर्थ है 'कारण की उत्प्रेक्षा'। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं; उदाहरण देकर सरल भाषा में घटाना चाहिए। भारती-भूषणकार का अधिकतर विवेचन इसी प्रकार का है, जिसमें गोल-मोल भाषा तथा उदाहरणों की अनुपस्थिति सदा खटकती है। यह लेखक की विद्वत्ता की कमी नहीं, प्रत्युत उसकी शैली का ही दोष है।

उदाहरणों के विषय में एक कठिनाई आ गई है। हिन्दी-साहित्य में प्रत्येक अलंकार के अच्छे-से-अच्छे उदाहरण हैं, परन्तु उनको दूसरे लोग अपना भी चुके हैं; अगर उन्हीं को केडिया लिखते तो आप सोचते कि इस लेखक ने दूसरों की पुस्तक भी अवश्य देखी होगी— वह यह बदनामी नहीं लेना चाहता। अस्तु, हमारे लेखक ने पर-रचित अप्रसिद्ध उदाहरण

अपनाये हैं, फलतः विषय उनसे इतना स्पष्ट नहीं हो पाता। विषादन का उदाहरण है :—

मन चीती ह्वैहै नहीं, हरि-चीती तत्काल।
बलि चाह्यौ आकाश कौं, हरि पठयौ पाताल॥

यहाँ चमत्कार विशेष से सामान्य के समर्थन में अधिक है, इच्छा से विपरीत की प्राप्ति का अपेक्षाकृत कम। रूपकातिशयोक्ति के कितने सुन्दर एवं प्रसिद्ध छंद हैं, परन्तु सेठ जी उनको क्यों रखने लगे; उनको पसंद आया गड्डु का एक छायानुवाद-सा, जिससे पाठकों की प्रवृत्ति नहीं मँज पाती। सहोक्ति, पर्यायोक्ति, तथा समासोक्ति अलंकारों के विषय में भी यही शिकायत है। दीन जी ने उदाहरणों में उपयुक्तता तथा सौंदर्य के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा था कि वे अधिक-से-अधिक श्लिष्ट तथा श्लील हों, इस लेखक ने इस दिशा से भी कोई लाभ न उठाया। उदाहरणों की दृष्टि से 'भारती-भूषण' अधिक सफल नहीं है, विशेषतः जबकि यह 'अलंकार-मंजूषा' के बाद में लिखा गया है।

केडिया जी की विवेचन-शैली के कुछ गुण भी हैं। इनके लक्षण गद्य में होने के कारण अधिक उपयुक्त हैं, और भेदों में भी उनका समन्वय है। केडिया जी ने अलंकार का लक्षण गद्य में लिखा, इसलिए 'विवरण' की आवश्यकता ही न रही, फिर उदाहरण दिया और उसको लक्षण में घटा दिया, साथ ही प्रत्येक भेद को अलग-अलग उदाहरणों से मिलाकर समझा दिया। ये लक्षण प्रायः सरल तथा सुबोध हैं, यद्यपि पारिभाषिक शब्दों का बहिष्कार नहीं है, फिर भी हिन्दी की प्रवृत्ति सदा ध्यान में रही है। विनोक्ति का लक्षण देखिये :—

"जहां कोई प्रस्तुत किसी वस्तु के बिना अशोभन, अथवा किसी के बिना शोभन कहा जाय, वहां 'विनोक्ति' अलंकार होता है। इसका वाचक प्रायः 'बिना' शब्द होता है, किन्तु कहीं 'हीन', 'रहित', 'न हो' आदि भी हो जाते हैं।"

यह लक्षण-शैली लेखक का सामान्य आदर्श है। इसमें 'प्रस्तुत' तथा 'वाचक' जैसे सरल पारिभाषिक शब्द, 'शोभन कहा जाय' जैसी पंडिताऊ अभिव्यक्ति, तथा 'न हो' को वाचक मान कर हिन्दी की प्रवृत्ति का ध्यान है। प्रथम वाक्य को पारिभाषिक लक्षण कहा जा सकता है। और दूसरे वाक्य को उसका विस्तार, 'आदि भी' लिख कर लेखक ने वाचकों की सूची को परिसीमित होने से बचा लिया है।

मूल्यांकन

केडिया जी अलंकारवादी हैं, इसके कुछ प्रमाण हैं। उनकी पुस्तक में केवल अलंकार-विषय का ही विवेचन है, इस कृति में काव्यप्रकाश साहित्य-दर्पण की अपेक्षा चन्द्रालोक, कविप्रिया, अलंकार-आशय आदि की ओर झुकाव अधिक है। साथ ही पुस्तक के मुखपृष्ठ पर केशव का 'जदपि सुजाति सुलच्छनी' दोहा भी लिखा हुआ है। **'गोरख-धंधे की भांति कष्ट काव्य'** (पृ० ५१) चित्र अलंकार का सविस्तार वर्णन भी लेखक की अलंकार-प्रियता का द्योतक है। परन्तु इस पुस्तक में रसवदादि अलंकार नहीं हैं, और अलंकार-दोषों को भी स्थान नहीं मिला। 'अलंकार-सर्वस्व', 'अग्नि-पुराण' आदि का प्रभाव भी अलंकार-प्रेम का प्रतीक है।

'भारती-भूषण' के लक्षण सुलझे हुए हैं, परन्तु उदाहरण अधिक उपयुक्त नहीं हैं।

यदि समय की प्रवृत्ति का ध्यान होता तो यह पुस्तक 'अलंकार-मंजूषा' से अधिक उपयोगी बन सकती थी। आचार्यों ने अपनी पुस्तक संस्कृत की किसी न किसी पुस्तक को सामने रखकर ही लिखी थी, और जल्दी में उसके अनुवाद अपनी पुस्तक में रख दिये थे। केडिया जी ने अनुवाद नहीं किया, यह उनकी एक मुख्य विशेषता है। यह ग्रंथ कहीं-कहीं अधिक क्लिष्ट बन गया है। इस लेखक ने समसामयिक लेखकों से ऊपर उठने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह उठ नहीं पाया। उसने उनसे कुछ न लेने की प्रतिज्ञा की किन्तु फल उल्टा ही हुआ। 'सूचनाएँ' अधिक लाभदायक नहीं हैं। फिर भी लेखक का प्रयत्न सराहनीय है। गद्य में लक्षण पहली बार इसी लेखक ने लिखा और अनुवाद की प्रवृत्ति को छुट्टी दे दी।

बिहारी लाल भट्ट : साहित्य-सागर

(सं० १९९४)

सं० १९९४ में बिजावर के राजकवि पंडित बिहारीलाल भट्ट ने २ भागों में 'साहित्य-सागर' नाम का एक ग्रंथ लिखा, जिसमें नाटक और गद्यकाव्य के अतिरिक्त साहित्य के समस्त अंगों का वर्णन है। ६०० पृष्ठों के इस ग्रंथ में १५ तरंगें हैं। प्रतिपाद्य विषय का तरंगों में वर्गीकरण इस प्रकार है :—

प्रथम तरंग—देवस्तुति, नृप-कुल-कथन, ग्रन्थहेतु, सुभ अंग।
द्वितीय तरंग—साहित्य, काव्य, काव्यकारण, काव्य-प्रयोजन, पिंगल।
तृतीय तरंग—छन्द।
चतुर्थ तरंग—गणादि, वर्णिक छन्द।
पंचम तरंग—शब्दार्थनिर्णय।
षष्ठ तरंग—श्रृंगार
सप्तम तरंग—नायिका।
अष्टम तरंग—षड्ऋतु।
नवम तरंग—श्रृंगारादि तथा अन्य रस।
दशम तरंग—अलंकार।
एकादश तरंग—अर्थालंकार (पूर्वार्द्ध)
द्वादश तरंग—अर्थालंकार (उत्तरार्द्ध)
त्रयोदश तरंग—आध्यात्मिक नायिका-भेद।
चतुर्दश तरंग—निर्वाण।
पंचदश तरंग—(परिशिष्टांश)—दान-प्रकरण।

विषय-सूची से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य वर्णन है—आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए और अपना पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए। 'दान-प्रकरण' तो निश्चय ही इसी उद्देश्य से लिखा गया है, त्रयोदश तथा चतुर्दश तरंगों का भी कोई अन्य कारण दिखाई नहीं पड़ता। प्रतिपाद्य विषय द्वितीय तरंग से प्रारम्भ होकर अलंकारों के साथ पूर्ण हो जाता है।

कतिपय विशेषताएँ

बीसवीं शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ यह ग्रंथ पुराने पदचिह्नों पर चल रहा है; इसमें समय की प्रगति का ध्यान नहीं रखा गया; माध्यम पद्य है, गद्य नहीं; उद्देश्य वर्णन है, विवेचन नहीं। लेखक यह नहीं जानता कि समकालीन आचार्यों ने क्या-क्या लिखा है और अपने ग्रंथ को उपयोगी बनाने के लिए उसे कौन-सी विलक्षणता को अपनाना चाहिए। वस्तुतः बिहारीलाल कवि हैं, आचार्य नहीं; वे रचयिता हैं, व्याख्याता नहीं; उनका दृढ़

विश्वास है कि पिंगल के बिना जो कविता करते हैं, वे अजान[1] हैं, पिंगल के बिना कविता हो ही नहीं सकती। लेखक के अनुसार उसकी रचना की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(क) काव्य के संपूर्ण अंगों का विवेचन है।
(ख) लक्षण तथा उदाहरण नवीन (स्वरचित) हैं।
(ग) लक्षण तथा उदाहरण सरल—प्रसादगुणपूर्ण—हैं।
(घ) लक्षण छंदोबद्ध होने के कारण सुकंठ्य हैं।
(ङ) नायिका-भेद का क्रम नवीन है।
(च) नायिका-भेद का अध्यात्म रूप है।

अलंकार-विषय

दशम, एकादश तथा द्वादश तरंगों में अलंकार-वर्णन हैं; इसमें न कोई मौलिकता है न कोई नवीनता। दशम में अलंकार का महत्त्व बतला कर अलंकार के तीन वर्ग बनाये हैं—शब्द, अर्थ तथा उभय। ऐसी कविता और कामिनी बड़े पुण्य से प्राप्त होती है जो सरल तथा सरस हो, जिसकी पद-गति मधुर हो और जो भूषण तथा गुण से युक्त हो (पृ० ३५६)। यत्र-तत्र गद्य में वृत्ति दे दी गई है। एकादश तरंग में उपमा से लेकर प्रतिवस्तुपमा तक के अर्थालंकार हैं, और द्वादश में दृष्टांत से लेकर संकर तक के। द्वादश तरंग के अन्त में विद्यार्थियों के बोधार्थ सदृश अलंकारों का अन्तर (पृ० ५०८) बतलाया गया है, और फिर 'चित्रकाव्य—तृतीय श्रेणी' (पृ० ५११) का १० पृष्ठ में वर्णन है।

शब्दालंकार १० हैं—अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य), चित्र, पुनरुक्ति-प्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक (मुक्तपदग्राह्य या सिंहावलोकन), वक्रोक्ति, वीप्सा तथा श्लेष। अन्त्यानुप्रास के अन्तर्गत भिन्न-तुकान्त (पृ० ३६४) पर भी विचार है। उदाहरण या तो स्वरचित हैं या रामायण (रामचरितमानस) से गृहीत। चित्र-अलंकार अथवा चित्र-काव्य का यहां नाम लेकर यह प्रतिज्ञा कर दी है कि इसका समस्त भेदोपभेद सहित वर्णन आगे किया जायगा (पृ० ३६४)। प्रहेलिका के दो भेद हैं—शब्दगत तथा अर्थगत। श्लेष का वर्णन अति संक्षिप्त है, इसके दो भेद हैं—शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष, शब्दश्लेष की चर्चा इसी दशम तरंग में है। अन्त्यानुप्रास के प्रसंग में लेखक यह बतलाता है कि उर्दू भाषा में इसको 'काफिया' कहते हैं।

ध्यान देना होगा कि शब्दालंकारों का क्रम किसी भी प्राचीन आचार्य के अनुसार नहीं है; चित्र को द्वितीय स्थान तो किसी ने दिया ही नहीं। इस क्रम का आधार है अकारादि क्रम, जिसके प्रथम प्रचारक मुरारिदान थे। बिहारीलाल ने शब्दालंकार में इसी अकारादि-क्रम को अपनाया है, इसलिए यथास्थान चित्र का नाम ले लिया, उसका वर्णन द्वादश तरंग के भी अन्त में है। न जाने क्यों लेखक ने यह कहीं भी नहीं लिखा कि वह शब्दालंकार को अकारादि-क्रम से वर्णन कर रहा है, और अर्थालंकार में क्रम का यह आधार उसको मान्य नहीं होगा।

अर्थालंकार

एकादश तथा द्वादश तरंगों में अलंकारों का वर्गीकरण किस आधार पर किया है,

(१) कविता बिन पिंगल नहीं, करें ते महा अजान। (पृ.२७)

यह कहना कठिन है; प्रतिवस्तूपमा पर तरंग का अन्त कर देने से वह अपने समवर्गी दृष्टांत से एकदम अलग जा पड़ता है, 'पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध' नाम तो शुद्ध आकार को ही दृष्टि में रख कर दिये गए होंगे। उपमा (लुप्तोपमा) के प्रसंग में १२ लुप्तोपमाओं में से दस ही क्यों मान्य हैं, यह चक्र द्वारा भली-भांति स्पष्ट किया गया है (पृ० ३७५)। रूपक का वृक्ष केवल चमत्कार का द्योतक है (पृ० ३८३), किसी सिद्धांत का नहीं। स्मरण अलंकार में 'संबंधी वस्तु दर्शन से स्मरण' (पृ० ३९३) का उदाहरण गलत है, और 'कथा-वार्त्ता सुन कर स्मरण' (पृ० ३९४) भी अलंकार नहीं बन सकता, इसको भाव कहेंगे; चित्रकूट को देख कर मन का और ही हो जाना 'भाव' है; अलंकार नहीं। जिसे बिहारीलाल जी 'दीपयोग' अलंकार कहते हैं, वह अर्थालंकार भी नहीं, शब्दालंकार है।

(क) जगत नहीं है तोउ जगत कहावै है। (४२३)

(ख) आ, तुर पै आनंदघन, आतुर करी सम्हार ॥ (वही)

यहाँ चमत्कार यमक का ही है।

उत्तरार्द्ध में कवि जी ने 'उदाहरण' को अलग अलंकार नहीं माना, क्योंकि 'विशेष ग्रंथों में इसका निरूपण नहीं किया गया।' सहोक्ति के चमत्कार को भट्ट जी समझे ही नहीं और बहुत-सी बातों के एक साथ वर्णन को ही सहोक्ति कह बैठे हैं (पृ० ४३२)। लेखक ने 'तिरस्कार' अलंकार माना है, और इसको 'अनुज्ञा का विरोधी' बतलाया है—'उल्लास' तथा 'अवज्ञा' परस्पर विपरीत हैं और 'अनुज्ञा' तथा 'तिरस्कार' भी एक दूसरे के विरोधी हैं। 'गुणोक्ति' एक नया अलंकार है, 'जहां अनेक गुण छोड़ कर एक को एक ही गुण से श्रेष्ठता देवे' (४८५); कविजी लिखते हैं—'इस भाव की कविता कुछ-कुछ पहले भी हुई, किन्तु इसमें प्रधान रूप से कोई अर्थ अलंकार स्पष्ट घटित नहीं होता है, इसी कारण इस भाव के लिए हमें यह गुणोक्ति नाम का अलंकार नवीन निर्माण करना पड़ा।' (पृ० ४८५)। इसमें कोई विशेष चमत्कार तो लक्षित नहीं होता।

"कामिनी वही है जाकी प्रीति निज प्रीतम सों
जामिनी वही है जामें जोति है जुन्हाई की।"

'रत्नावलि' तथा 'मुद्रा' दो अलग अलंकार न माने जाते तो अच्छा था क्योंकि मुद्रा में जो अन्य 'अर्थ' की सूचना मिलती है, उसका आधार भी तो 'नाम' ही है (४८६)। उक्तियों की बीच इस पुस्तक में 'अर्थमूला वक्रोक्ति' भी आ गई है, जिसका उदाहरण (संस्कृत से अनुवाद) उपयुक्त है परन्तु लक्षण ठीक नहीं—**'जहां अर्थ कछु श्लष सों, उलट-फेर हो जाय'** (पृ. ४९७)।

उभयालंकार २ हैं—संसृष्टि तथा संकर। इनके भेदोपभेदों का वर्णन है; यहां वृत्ति पूर्ण है। अनेक लोगों के समान चित्रकाव्य तथा चित्र-भूषण को कवि जी एक ही समझे हैं। द्वादश तरंग के अन्त में (पृ० ५११ से ५२२ तक) उसका विस्तार है; इसको यहां लिखने का कोई कारण समझ में नहीं आता।

विवेचन इन अलंकारों के अनन्तर बिहारीलाल जी लिखते हैं :—

"बहुत से अलंकार एसे हैं, जो लक्षणों और उदाहरणों से एक से प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनमें अन्तर अवश्य है, तथापि वह अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म होन से वे समान ही प्रतीत होते हैं। अलंकारों के कई एक ग्रन्थों में इनके अन्तर बतलाए गये हैं। 'भारती भूषण' और 'अलंकार-मंजूषा' ग्रन्थ जो एक नए ढंग की शैली से लिखे गये हैं, उनमें यथाविधि सदृश अलंकारों के भ्रम भली भांति निवारण किये गये हैं। उन्हीं के मत से सहमत होकर हम यहां विद्यार्थियों के लिए उन अलंकारों का अन्तर लिखे देते हैं जो समझने में समान प्रतीत होते हैं।" (पृ.५०७)

और इस कथन का फल है 'रूपक, वाचक-धर्म-लुप्ता का अन्तर', 'कैतवापन्हुति, द्वितीय पर्यायोक्ति', 'तीसरी तुल्ययोगिता, दूसरा उल्लेख', 'पहली तथा दूसरी तुल्ययोगिता और दीपक का अन्तर', 'लाट, यमक, दीपकावृत्ति का अन्तर', 'प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत', 'अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति', 'विरोधाभास, दूसरा विषम', 'काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास', 'प्रस्तुतांकुर, गूढ़ोक्ति', 'अन्योक्ति, गूढ़ोक्ति', 'शुद्धापन्हुति, पर्यस्तापन्हुति', 'तृतीय सम, तृतीय-प्रहर्षण' (पृ० ५०८ से ५११ तक)। इस पुस्तक का सबसे अधिक लाभदायक अंश यही है। और किसी सीमा तक यह प्रेरक पुस्तकों से भी अधिक लाभदायक है क्योंकि यहां सारे अन्तर एक साथ दे दिये हैं।

'साहित्य-सागर' में अलंकारों की वर्णनात्मक चर्चा है, फलतः उदाहरणों का बोल-बाला अधिक है, ये अलंकार प्रायः सरस नहीं हैं—इस युग में किसी आश्रयदाता की अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा पाठक निगल नहीं पाता। सन्देह (पृ० ३९७) तथा प्रस्तुतांकुर (पृ० ४४२) के इतने अधिक और अनुपयुक्त उदाहरण पुस्तक में भार बन जाते हैं। मुरारिदान बिहारी-लाल से बहुत अधिक सफल थे।

अलंकारों के लक्षण सामान्य ढंग से ही लिखे गए हैं। उत्प्रेक्षा (पृ० ४०३) आदि में पूर्व पुस्तकों का प्रभाव है; लुप्तोपमा का विषय स्पष्ट है, अलंकारों के अन्तर भी अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं। नवीन अलंकारों में कोई प्रतिभा नहीं दिखलायी पड़ती। शब्दालंकारों का क्रम अकारादि के आधार पर चुपचाप रखा हुआ है। बिहारीलाल ब्रजभाषा के भी अधिकारी कवि न थे। उनकी भाषा खड़ी बोली से सक्षत है, उनमें न अनुप्रास की छटा है न उक्ति-चमत्कार। अतः उनका वर्णन भी पाठक को अच्छा नहीं लगता।

कन्हैयालाल पोद्दार : अलंकार-मंजरी

(सं० २००२)

'जसवन्त-जसोभूषन' की रचना के ३ वर्ष अनन्तर हिन्दी में अलंकार-शास्त्र पर एक दूसरी पुस्तक 'अलंकार-प्रकाश' लिखी गई। इसके लेखक सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने २७ वर्ष उपरान्त संवत् १९८० में इस पुस्तक को काव्यशास्त्र का पूर्ण ग्रंथ बनाकर इसका नाम 'काव्य-कल्पद्रुम' रखा। आगे चल कर 'कल्पद्रुम' दो भागों में, 'रस-मंजरी' तथा 'अलंकार-मंजरी' के रूप में, प्रकाशित हुआ। हमारे सामने इसका संवत् २००२ का संस्करण है। सं० १९५३ से सं० २००२ तक अर्द्ध शताब्दी की अवधि में लेखक के विचारों में उत्तरोत्तर प्रौढ़ता आती गई, पुराने संस्करणों पर उसको आलोचकों की सम्मतियां मिलीं, और समान-शास्त्र की अन्य रचनाओं को देखने का अवसर मिला—दूसरे किसी भी आचार्य को ये सुविधाएं प्राप्त न थीं। फलत: 'अलंकार-मंजरी' वर्तमान रूप में अपने विषय की सबसे उपादेय पुस्तक है। इसमें जो कमियां हैं, वे लेखक के दृष्टिकोण-विशेष के कारण ही, प्रमादवश नहीं; यथा, लेखक ने उदाहरण ब्रजभाषा के रखे हैं और उसकी विवेचना में कसावट नहीं है, उसने उदाहरण दूसरों के ही नहीं दिये, स्वरचित तथा अनूदित भी प्रचुर परिमाण में हैं। लेखक ने "संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रंथों के आधार पर" एक ऐसा ग्रंथ बनाया है जिसमें विषय-प्रतिपादन मात्रैव उसका उद्देश्य नहीं रहा, प्रत्युत, विषय-विवेचन भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगा है। संस्कृत का ठोस आधार तथा आलोचनात्मक दृष्टि—ये दो इस पुस्तक के द्रष्टव्य गुण हैं।

प्राक्कथन

ग्रंथ को प्रारम्भ करते ही भूमिका के रूप में ५९ पृष्ठों का 'प्राक्कथन' है, उसमें लेखक ने 'काव्य में अलंकार का स्थान', 'अलंकार क्या है', 'अलंकारों के नाम तथा लक्षण', 'संस्कृत-साहित्य के प्राचीन अलंकार-ग्रंथ', 'अलंकारों का क्रम-विकास', 'अलंकारों का वर्गीकरण', तथा 'हिन्दी-साहित्य में अलंकार-ग्रंथ' शीर्षकों से जो प्रबंध लिखा है, उसमें हमको 'अलंकार साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' मिल जाता है। इस प्राक्कथन का आधार संस्कृत के आचार्यों तथा विद्वानों से ज्यों का त्यों आया है, स्थान-स्थान पर संस्कृत के उद्धरण भी हैं। अतः इस 'इतिहास' में कोई मौलिकता नहीं है, फिर भी पांडित्य स्पष्ट है। तालिकाओं द्वारा लेखक ने विषय के स्पष्टीकरण का पूर्ण प्रयत्न किया है। मुख्य बात यह है कि अलंकार-साहित्य का इतिहास हिन्दी भाषा को प्रथम बार मिला है। जब हिन्दी भाषा में अलंकार-विषय की चर्चा चलती है तो पुराने आचार्यों का तो लेखक ने परिचय दे दिया है, परन्तु समसामयिकों की रचनाओं में यह बतलाया है कि अमुक कृति में अमुक दोष है, अमुक में अमुक कमी है; गुण किसी भी समकालीन आचार्य के नहीं बतलाये। दोष-दर्शन की यह प्रवृत्ति पंडिताऊपन का ही प्रसाद है, जो तादृश लेखकों में सर्वत्र झलकता है—मुरारिदान, केडिया तथा पोद्दार

तीनों ही में आत्मश्लाघा आधुनिक पाठक को क्षुब्ध बना देती है। पोद्दारजी ने अपनी कृतियों की प्रशंसा तथा परकृतियों की निन्दा इस प्रकार की शब्दावली में की है :—

'अलंकार-प्रकाश तथा काव्य-कल्पद्रुम के बाद अलंकार-विषय के जो हिन्दी में अन्य लेखकों द्वारा ग्रन्थ लिख गये हैं, प्रायः उनमें बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनों ग्रन्थों से ही ली गई है।' (प्राक्कथन, पृ. ५२)

शब्दालंकार

'काव्य-कल्पद्रुम' के अन्तिम ३ स्तवक (अष्टम, नवम तथा दशम) ही 'अलंकार-मंजरी' हैं; क्योंकि इनमें अलंकार का विवेचन है—अष्टम में शब्दालंकार, नवम में अर्थालंकार, तथा दशम में संसृष्टि-संकर आदि।

शब्दालंकार ६ हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र। इनकी संख्या तथा क्रम मम्मट के अनुसार हैं—'काव्यप्रकाश' में चित्र पहले है, 'अलंकार-मंजरी' में पुनरुक्तवदाभास पहले है। प्रथम ३ अलंकारों का विषय विस्तृत है और अन्तिम २ का संक्षिप्त—'चित्र' का महत्त्व तो स्वभावतः नवीन संस्करणों में कम होता गया है। वीप्सा, पुनरुक्तप्रकाश, या सिंहावलोकन को इस कृति में स्थान न मिला। मम्मट ने यमक के दो भेद सव्यपेत तथा अव्यपेत नहीं लिखे, परन्तु 'काव्यादर्श', 'अग्निपुराण', आदि में इनका उल्लेख है। हमारा लेखक भी इनको न लिखता, परन्तु एक समकालीन आचार्य पं० रामशंकर शुक्ल की भूल दिखलाने के लिए इनका लिखना भी आवश्यक हो गया है :—

'रीति ग्रन्थों के कुछ आधुनिक प्रणेताओं ने भी उसी का अन्धानुसरण ही नहीं किया किन्तु कुछ का कुछ समझ लिया है।' (पृ. ८७)

संस्कृत के पांडित्य में अतिविश्वासी लोगों की यह धारणा होती है कि उनके सभी कार्य शास्त्रानुमोदित हों, पोद्दार जी भी इसी वर्ग के हैं। उन्होंने चित्र का अनादर खुली आंखों देखा, परन्तु जब मम्मट उसको संक्षिप्त नहीं करते तो वे किस कलम से ऐसा कर दें। खोजने पर पंडितराज जगन्नाथ का मत पक्ष में जान पड़ा :—

'पंडितराज का कहना है कि इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है। इसके अधिक भेद न दिखाकर एक उदाहरण देते हैं।' (पृ. १०९)

अर्थालंकार

अर्थालंकार नवम स्तबक में हैं, इनकी संख्या १०० है। उपमा के कुछ भेद तो ग्राह्य समझ कर विस्तार से समझाये गए हैं, परन्तु अमुख्य भेदों का भी एक-एक उदाहरण दे दिया गया है। लेखक यह चाहता है कि उसकी पुस्तक सब प्रकार से पूर्ण हो, उससे कोई बात रह न जावे, पाठक को कोई लाभ हो या नहीं। अर्थालंकारों का क्रम मम्मट के ही अनुसार नहीं है। रसवदादि तथा ८ प्रमाण के अलंकारों को यहां स्थान नहीं मिला। विरोध तथा विरोधाभास में भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं; 'असम' नाम का एक अलंकार ऐसा है जिसको मम्मट ने तो नहीं दिया, परन्तु पोद्दार ने दे दिया है। नवीन अलंकारों या नवीन अलंकार-भेदों की कल्पना पोद्दार जी जैसा शास्त्रीय आचार्य कर न सकता था। उसको तो संस्कृत मूल ग्रंथों के अनुसार ही व्याख्या करनी थी। फिर भी मुरारिदान के समान इस लेखक ने 'परिवृत्ति' का

विपरीत 'अपरिवृत्ति' नामक एक नवीन अलंकार स्वीकार किया है; "परिवृत्ति में कुछ लेकर बदले में कुछ दिया जाता है। यहां इसके विपरीत है, अतः ऐसे वर्णनों में 'अपरिवृत्ति' अलंकार माना जा सकता है। यद्यपि 'अपरिवृत्ति' का पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया है, परन्तु इस अपरिवृत्ति में चमत्कार होने के कारण अलंकार मानना उचित अवश्य है।" (पृ. २५९।) उदाहरण में घनानन्द का एक चरण रखा है।

तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला,
मन लेत हो देत छटांक नहीं॥

दशम स्तबक

शब्दालंकार तथा अर्थालंकार निरूपण के अनन्तर एक स्तबक (अन्तिम) अलंकार संबंधी दूसरी सामग्री के लिए आया है। संसृष्टि तथा संकर की विवेचना करके शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का पृथक्करण है, अन्त में अलंकार-दोष हैं। इस प्रकार यह पुस्तक अलंकार-विषयक पूर्ण ज्ञान में समर्थ है। लेखक का लक्ष्य प्रतिष्ठित का विवेचन है, अलक्षित की प्रतिष्ठा नहीं। अतः इसकी मौलिकता निर्माण में नहीं है, निर्मित के प्रदर्शन में है।

अलंकारों के लक्षण

'भारती-भूषण' के समान 'अलंकार-मंजरी' में भी उदाहरणों के अतिरिक्त सारा विषय गद्य में है---लक्षण भी तथा विवेचन भी। इन गद्य-लक्षणों में पुरानी सभी शैलियों से लाभ उठाया गया है---पदों का अर्थ, शब्दार्थ, शास्त्रीय लक्षण, तथा लक्षण की व्याख्या, ये चारों गुण उसने अपना लिये हैं। वक्रोक्ति का ही प्रारम्भ करते हुए लिखा है---'वक्रोक्ति का अर्थ है, वक्र उक्ति', फिर मम्मट के लक्षण का गद्यानुवाद है, अन्त में उस लक्षण की व्याख्या है---'अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना।' अनुप्रास का लक्षण और भी अधिक विस्तार वाला है:--

"अनुप्रास' पद 'अनु', 'प्र' और 'आस' से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है 'बारम्बार', 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष' और 'आस' का अर्थ है 'न्यास' (रखना)। अर्थात् वर्णों का बारम्बार प्रकर्षता से---पास-पास में---रक्खा जाना।" (पृ.७०)

यह तो साक्षात् मुरारिदान तथा भानुकवि का सम्मिलित प्रभाव है, भले ही छोटे बच्चों को समझाने के लिए यह अधिक उपयोगी हो। उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि कुछ मुख्य अलंकारों में लक्षणों की यही शैली है, शेष में शब्दार्थ तथा पदार्थ तो नहीं हैं, परन्तु शास्त्रीय लक्षण तथा व्याख्या अवश्य है। पोद्दार जी के लक्षण केडिया जी के लक्षणों से अधिक उपयुक्त तथा अधिक शास्त्रीय (कसे हुए) हैं, मुरारिदान, भानु कवि तथा भगवानदीन ने तो लक्षण भी पद्य में लिखे थे।

अलंकारों के भेद

पोद्दार जी अलंकारों के भेदों में बड़े उदार हैं। उपमा के विषय में ऊपर कह चुके हैं। अत्युक्ति भी औदार्य की, प्रेम की, सौंदर्य की तथा विरह की बतलाई गई है। (दीन जी के समान ही)। श्लेष के आदि में दो भेद किये गये हैं---सभंग तथा अभंग; फिर उनके तीन-तीन उपभेद हैं; अन्तिम उपभेदों के नाम देख कर ही हृदय में कंपन होता है---

'प्रकृत-मात्र-आश्रित-श्लिष्ट-विशेष्य-सभंग-श्लेष', या 'अप्रकृत-मात्र-आश्रित-श्लिष्ट-विशेष्य-अभंग-श्लेष।' इस प्रकार के नामों से भय भी होता है तथा विस्मय भी; पांडित्य के प्रवाह में युग की प्रवृत्ति डूब गई है।

अतिशयोक्ति के कम से कम ९ भेद हैं, और व्यतिरेक के २४ भेद। यदि आचार्य भेद-वृक्ष बना कर न दिखलाता तो पाठक इन भेदों को ग्रहण न कर सकता था। अब भी उप-भेदों की बारीकियां अलंकारी विद्वानों को छोड़ कर दूसरे साहित्यिक के वस की नहीं हैं। आज के व्यस्त युग में उपभेदों का कोई स्थान नहीं, वे'अति' की टोकरी में फेंक दिये जाते हैं।

मोटे-मोटे भेदों को लिखते हुए पोद्दारजी का एक बड़ा लाभदायक कार्य है पाठक की जानकारी के लिए यह लिख देना कि अमुक भेद किस आचार्य ने स्वीकार किया है और किस ने इसका अन्यत्र अन्तर्भाव कर दिया है। इस प्रकार का लेख सूचना के रूप में अलंकार विवेचन के अन्त में है। यथा, 'असंगति' अलंकार पर ४ सूचनाएं निम्नलिखित हैं:—

(क) **कविप्रिया में असंगति को व्यधिकरणोक्ति नाम से लिखा है।**

(ख) **प्राचीन ग्रन्थों में असंगति का यही एक भेद है। 'कुवलयानन्द' में इसके और भी दो भेद लिखे हैं। (पृ.३२२)**

(ग) **पंडितराज का कहना है . . . . ."यहां असंगति नहीं, विरोधाभास है।" (द्वितीय असंगति पर, पृ. ३२३)**

(घ) **पंडितराज का कहना है कि यह तो कुवलयानन्द में मानी गई पंचम विभावना का विषय है। (तृतीय असंगति, पृ. ३२४)**

अलंकारों के उदाहरण

अलंकारों के उदाहरण ३ प्रकार के हैं—स्वरचित, अनूदित, तथा अन्य-रचित। स्वरचित उदाहरणों की संख्या अधिक नहीं, परन्तु अनुवाद पर्याप्त हैं। अनुवाद संस्कृत काव्यों से भी हैं तथा लक्षण-ग्रन्थों से भी। लक्षण-ग्रन्थों से अनुवाद करके उदाहरण रखना बड़ा हेय है। केडियाजी ने इसीलिए इसको बचाया था; क्योंकि ऐसा करने से भाषा-ग्रंथ हीन बना रहता है और ऐसा भी आभास मिलता है कि विवेचक मूल विषय को ठीक-ठीक ग्रहण न कर सका इसलिए उसने मक्षिकास्थाने मक्षिका अनुवाद करके रख दिया। पोद्दारजी ने अनुवाद का सहारा इसलिए लिया कि हिन्दी वालों का उनको ऋण न स्वीकार करना पड़े, और संस्कृत छाया के कारण उनकी पुस्तक को अधिक गौरव मिले—दोनों ही धारणाएं निर्मूल हैं। 'अलंकार-मंजरी' में दूसरों के पद्य प्रायः दोषों के उदाहरण बन कर ही आये हैं, यह एक पुरानी शैली थी। उदाहरण की दृष्टि से भगवानदीन का मार्ग सबसे स्वच्छ था—अच्छे-से-अच्छा और प्रसिद्ध-से-प्रसिद्ध स्वस्थ उदाहरण, चाहे वह किसी आचार्य या कवि का हो। केडियाजी ने अनुवाद तो नहीं किये, परन्तु आधे उदाहरण स्वयं गढ़े हैं।

लेखक ने गद्य के उदाहरण नहीं दिये, और खड़ी बोली के भी एक-दो ही हैं। संस्कृत काव्यों में रघुवंश तथा नैषध की ओर अधिक झुकाव है। हर्ष की बात यह है कि लेखक ने यह संकेत कर दिया है कि अमुक अनुवाद अमुक ग्रन्थ के अमुक स्थल का है।

भानुकवि ने अधिक-से-अधिक उदाहरण जुटाए थे, फलतः उनका ग्रन्थ दीर्घकाय बन गया था। सेठियाजी ने भी प्रत्येक अलंकार के कम-से-कम दो उदाहरण रखे थे। यहाँ ऐसी भूल नहीं है। एक अलंकार का एक ही उदाहरण है, अवश्य ही प्रत्येक भेद तथा उपभेद के लिए भी एक-एक उदाहरण आया है।

मूल्यांकन

'अलंकार-मंजरी' में आचार्यत्व की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है; फलतः अलंकार-ज्ञान-मात्र के लिए पाठक इससे उतना लाभ नहीं उठा सकता जितना कि 'अलंकार-मंजूषा' से। इस पुस्तक में विद्वत्ता की ओर जितना ध्यान है उतना सुगमता की ओर नहीं। वक्रोक्ति में दूसरे की उक्ति का ही दूसरा अर्थ क्यों किया जाना चाहिये अपनी उक्ति का क्यों नहीं (पृ० ६९), श्लेष शब्दालंकार है या अर्थालंकार (पृ० ९५-९७), रूपक और अपन्हुति में क्या अन्तर है (पृ० १४६), समासोक्ति तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा का भेद (पृ० २८५) आदि विषय तो सभी पाठकों के लिए बड़े लाभदायक हैं। परन्तु १० पृष्ठ में श्लेष का दूसरे अलंकारों से पृथक्करण, उदाहरण अलंकार का स्वतन्त्र अस्तित्व, तादूप्यरूपक के लिए दूसरे आचार्यों के उदाहरण, अथवा परिकर के अलंकारत्व पर विचार आदि विषय अधिक गूढ़ तथा शास्त्रीय बन गये हैं। संस्कृत के आचार्य अलंकार-शास्त्र की रचना में इस प्रकार के लंबे तर्क उठाये करते थे, उस समय वह स्वाभाविक था, परन्तु आज आ-लोचना का क्षेत्र अलग है तथा प्रतिपादन का अलग; आज पोद्दारजी पुराने या समकालीन प्रत्येक आचार्य की स्वतन्त्र पुस्तकाकार आलोचना कर सकते हैं, परन्तु बेचारे अलंकार-जिज्ञासु उनकी विद्वत्ता के बोझ को सहन नहीं कर सकते।

'मंजरी' में कुछ अलंकारों का विस्तृत विवेचन है, उनकी सत्ता पर विचार है, समान अलंकारों से अन्तर है, तथा अलंकार-ध्वनि भी है। परन्तु कुछ अलंकारों को लगे हाथ चलता कर दिया गया है; विचित्र, अधिक तथा अल्प आदि ऐसे ही हैं। संभव है सामान्य-अलंकारों पर कम समय लगाया हो, और महत्त्वपूर्ण अलंकारों का विवेचन दीर्घ हो। सर्वथा ऐसा भी नहीं है, 'स्वभावोक्ति' अलंकार के विषय में संस्कृत में कितना वाद-विवाद है, परन्तु पोद्दारजी ने आलोचना के नाम पर एक पंक्ति भी न लिखी; इसी प्रकार 'भाविक' को भी बस दिखला ही दिया है।

अपरिवृत्ति को लेखक ने स्वीकार किया है और प्रतीप के विषय में उसकी अपनी सम्मति है—'वस्तुतः प्रतीप के प्रथम तीनों भेद उपमा के अन्तर्गत हैं और चतुर्थ भेद अनुक्त-धर्म-व्यतिरेक, एवं पंचम भेद एक प्रकार का आक्षेप अलंकार है' (पृ. १४५)। परन्तु इनकी मौलिकता शास्त्रीय है—प्रायः किसी-न-किसी संस्कृत आचार्य का भाषा रूप है। सामान्यतः रसवादियों का अनुकरण है, फिर भी ध्यान यह रखा है कि कोई विषय छिन्न न होने पावे।

पोद्दारजी की पुस्तक समयोपयोगी अधिक नहीं। संस्कृत का अतिमात्रा में प्रभाव, पाण्डित्य की लहर, ब्रजभाषा का मोह, तथा युग से अपरिचय इसके लिये उत्तरदायी हैं। पाण्डित्य की दृष्टि से 'अलंकार-मंजरी' हिन्दी में अपने विषय की सबसे प्रौढ़ तथा प्रामा-णिक रचना है।

रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण

(सन् १९४७ ई०)

स्व० पंडित रामदहिन मिश्र ने वर्षों तक प्राच्य तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन एवं मनन करके "काव्यालोक" अभिधेय ग्रन्थ ५ खंडों में तैयार करने की योजना बनाई थी, और 'काव्यालोक' का द्वितीय उद्योत छपकर साहित्यिकों के सामने आया भी था। परन्तु इस योजना को समयसाध्य जानकर मिश्रजी ने "....**'काव्यप्रकाश' या 'साहित्यदर्पण' जैसा पांचों उद्योतों का सारांश लेकर एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया .... जिसमें काव्यशास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ ....**" रखी गई हैं। यह ग्रन्थ 'काव्य-दर्पण' है, जो नाम तथा संकल्प दोनों ही से 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' का समन्वय-सार प्रतीत होता है—'काव्यप्रकाश' के पूर्वांश 'काव्य', तथा 'साहित्यदर्पण' के उत्तरांश 'दर्पण' के संयोग से 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्य-दर्पण' का दत्तक वंशज 'काव्यदर्पण' नाम से विख्यात हुआ। 'अभिनव-साहित्य-शास्त्र' का यह ग्रन्थ १९४७ ई. में पहली बार छपा था।

विशेषताएँ

ग्रन्थ-रचना के संकल्प में ही यह स्पष्ट है कि मिश्रजी इस ग्रंथ में '**काव्य-शास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ**' रखना चाहते हैं'; यही नवीनता इस रचना का प्राण है—विशेषत: खड़ी बोली के नवीन कवियों से उदाहरण-संचय पर सभी पाठकों का ध्यान जाता है। अस्तु, इस ग्रंथ की मुख्य-मुख्य विशेषतायें सामान्यत: निम्नलिखित हैं :—

(क) 'प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपनाकर, दोनों दृष्टिकोणों को देखकर ही कविता का स्वाद लेना।' (आत्मनिवेदन, पृष्ठ 'क')

(ख) 'नवीन विचारों' के साथ-साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए 'नवीन उदाहरणों' का ही उपयोग—नवीन कवियों तथा खड़ी बोली के उदाहरण।

(ग) लेखक यह मानकर चला है कि 'पाश्चात्य विचार या सिद्धांत चक्कर काटकर भारतीय सिद्धांतों पर ही आ जाते हैं; इसलिये पाश्चात्य सिद्धांत केवल तुलना की दृष्टि से ही इस पुस्तक में आये हैं और संस्कृत के आचार्यों के आकर ग्रन्थों को ...... मूलाधार' माना गया है।

(घ) यह ग्रन्थ समस्त काव्य-शास्त्र का विवेचन करता है; अलंकार को अपेक्षाकृत गौण स्थान मिला है।

(ङ) प्राचीन विषय को नवीन शब्दावली में नवीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न है। (आत्मनिवेदन, पृष्ठ 'ग')

(च) लक्षण सरल गद्य में हैं; उदाहृत कठिन पद्यों का अर्थ दे दिया है; और गद्य में ही उन पद्यों का लक्षण-समन्वय कर दिया है।
(छ) ऐसे उदाहरण प्रायः नहीं आये, जो अन्यत्र उदाहृत हैं।
(ज) सर्वत्र 'तुलनात्मक दृष्टिकोण' है।
(झ) मराठी तथा बंगला के आलोचना-ग्रन्थ तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं से लेखक ने यथास्थान लाभ उठाया है।

इन विशेषताओं को ३ वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम, वे जो दूसरों में भी थीं; यथा, समस्त काव्यशास्त्र का विवेचन, या गद्य में लक्षण, गद्य में 'लक्षण-समन्वय', या केवल ऐसे उदाहरण जो अन्यत्र न अपनाये गये हों। हम ऊपर कह चुके हैं कि अभिनव उदाहरणों की प्रवृत्ति विवेच्य विषय के प्रति न्याय नहीं कर सकती; दूसरे द्वारा उदाहृत छन्द यदि अच्छा है तो उसे अपनाने में हीनता कौन सी आती है? द्वितीय वर्ग में युग की मांग की नवीन विशेषताएँ हैं, यथा नवीन कवियों तथा खड़ी बोली के उदाहरण वा तुलनात्मक दृष्टिकोण। इन गुणों के कारण मिश्रजी की कृति का महत्त्व सब स्वीकार करेंगे। तृतीय वर्ग में मिश्रजी का व्यक्तित्व है—'पाश्चात्य समालोचक या टीकाकार उस तत्त्व को अभी पहुंच रहे हैं, जहां हमारे आचार्य बहुत पहिले पहुंच चुके थे।' यदि यह सत्य भी हो कि हमारा साहित्यशास्त्र किसी समय अत्यन्त विकसित अवस्था में था तो भी 'काव्य-दर्पण' जैसी कृति में इस तथ्य की निरन्तर दुहाई देना अनावश्यक तथा स्थानभ्रष्ट लगता है।

'काव्यदर्पण' की शैली

यह स्वाभाविक ही है कि 'काव्यदर्पण' अपने विषय की सर्वाधिक उपयोगी पुस्तक बन गई; समय की मांग थी अभिनवता—पुराने विषय की नवीन शब्दावली से व्याख्या और स्पष्टीकरण के लिए नये कवियों के प्रसिद्ध काव्यों से उदाहरण। मिश्रजी को इस मांग का भी ध्यान था तथा तुलनात्मकता का भी। यदि प्राचीन, नवीन तथा पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को एक स्थान पर देखना हो तो 'काव्यदर्पण' की एक प्रति अपने पास बड़े काम की है। लगभग ७०० पृष्ठ की पुस्तक में यदि आधा लेखक का अपना है तो आधा दूसरे लोगों का। निश्चय ही विद्वान् लेखक ने बड़ा परिश्रम किया है पढ़कर, समझ कर और ठीक स्थान पर रखकर; और उसके इस परिश्रम से २० पुस्तकें न पढ़कर १० विद्वानों के विचार रटकर हम जैसे लोग भी अपने पाण्डित्य से झाग सकते हैं। परन्तु प्रत्येक पृष्ठ पर :—

(क) इसी से मम्मट ने कहा है
(ख) दर्पणकार भी कहते हैं
(ग) दण्डी के कथनानुसार
(घ) लोचनकार को भी यह मान्य है
(ङ) कौद्स की भी यही उक्ति है
(च) वर्ड्सवर्थ का भी कहना है
(छ) शैली ने भी कहा है

(ज) प्लेटो भी कहता है
(झ) वाटसन बिहेवियरिज्म नामक ग्रन्थ में यह बात लिख चुका है
(ञ) हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है

आदि वाक्य पाठक के धैर्य की परीक्षा लेने लगते हैं; तुलनात्मक दृष्टिकोण बड़ी अच्छी बात है परन्तु प्रतिपाद्य विषय तथा तुलनार्थ विषय का पारस्परिक क्या अनुपात होना चाहिए---यह भी स्वतंत्र रूप से विचारणीय है; अन्यथा पंडित पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना के समान तुलना प्रतिपाद्य विषय पर अपना आतंक जमा लेगी।

मिश्रजी ने कहने को तो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के ज्ञान से भी लाभ उठाया है परन्तु जिज्ञासु की भावना से वे उसके पास नहीं गये; यह मानकर चलना कि सब कुछ अपने यहां था, व्यक्ति की भावना को कभी भी परिष्कृत नहीं कर सकता। यदि यह ठीक है कि "आठ-नौ सौ वर्ष पहले अभिनवगुप्त अपनी आलोचना में जो बातें लिख गये हैं वे आधुनिक युग की पाश्चात्य आलोचना में पाई जाती हैं", तो इस स्थापना का कोई मूल्य नहीं कि "पाश्चात्य आलोचना का अनुशीलन प्राच्य रसतत्त्व के समझने में कभी सहायक नहीं होगा।" ज्ञान, सत्य के जन्म का नहीं, सत्य के अनावरण का नाम है; वह सब देशों तथा सब कालों में समान रूप से संभव है क्योंकि स्वस्थ जिज्ञासा सर्वदा जीवित रहती है, भले ही सर्वत्र वह सशक्त न बनी रह सके; नव अनावृत्त सत्य की व्याख्या पुरानी शब्दावली में करना अनैसर्गिक है---अनैतिहासिक है; स्वाभाविक क्रम है पुराने ज्ञान (पूर्व अनावृत्त सत्य) को नवीनतम शब्दावली से समझना और समझाना ; ज्ञान के क्षेत्र में विकास का ऐसा ही रूप दिखलाई पड़ता है।

'काव्यदर्पण' की भूमिका रूप में 'काव्यशास्त्र की भूमिका' ९४ पृष्ठों में लिखी गई है, जहां लेखक की प्राच्य आचार्यों के प्रति श्रद्धा तथा पाश्चात्य आचार्यों के प्रति तिरस्कार की भावना मिलेगी, 'उपक्रम' में ही आनन्दवर्द्धन, दण्डी, और मंखक के लिए आदरसूचक शब्द व्यवहृत हैं परन्तु प्लेटो के लिए इसका विपरीत है[1]---"हम भारतीयों के लिये यह गौरव की बात" शायद नहीं है। लेखक ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रति सद्भावना रखने वाले साहित्यिकों को बेधड़क "अधकचरे समालोचकों का अवतार" कहा है, और वर्त्तमान अधोगति का कारण "प्राचीन आचार्यों की अवहेलना" को ही माना है; उसने दूसरे समसामयिक भारतीय साहित्यिकों के "आक्षेपों' का उत्तर लगभग इस प्रकार की शब्दावली में दिया है :

(क) आपके मस्तिष्क में पाश्चात्य विचार उछल-कूद मचा रहे हैं, और हाथ में कलम है, जो चाहे कह डालें और लिख डालें। (१०)

(ख) आप रूढ़ियों को तोड़ दें; अंधविश्वास को अंधे कुएं में डाल दें, अतीत को

---

(१) आनन्दवर्द्धनाचार्य ने......यह प्रश्न किया है।
आचार्य दण्डी कहते हैं।
मंखक कहते हैं।
प्लेटो भी कहता है।

तलातल में उतार दें और प्राचीन परम्पराओं को परलोक में पार्सल कर दें, यदि समाज का मंगल हो। (१५)

(ग) यह तो लेखनी के साथ बलात्कार है। (४)

ये उन 'आक्षेपों' के उत्तर हैं जो दूसरे आलोचकों की सम्मति रूप में साहित्य के विषय में सामान्यतः आये हैं; यदि कोई आलोचक मिश्रजी की आलोचना के गुण-दोष निकालता तो वे उस पर कैसा प्रहार करते---यह भी सोचना है। किसी समीक्षक ने लेखक के 'काव्यालोक' की समीक्षा करते हुए कहा था कि "इसमें पंडिताऊपन अधिक है", क्या वह कथन शेष रचनाओं पर भी लागू नहीं होता? यदि असीम अध्ययन के साथ-साथ मिश्रजी का दृष्टिकोण भी उदार होता तो उनके परिश्रम से हिंदी साहित्यशास्त्र के लाभान्वित होने की आशा थी।

काव्यदर्पण की विषय-वस्तु

'काव्यदर्पण' समस्त काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है; इसमें १२ 'प्रकाश' हैं। प्रथम में 'काव्य' का सामान्य परिचय है---'साहित्य', 'काव्य', 'शास्त्र' की व्याख्या; काव्य के फल, काव्य के कारण, काव्य क्या है, काव्य-लक्षण परीक्षण, कवि-कविता और रसिक। द्वितीय प्रकाश में 'अर्थ' का परिचय है---शब्द, शब्द और अर्थ, शब्द-शक्तियां। तृतीय प्रकाश में 'रस' परिचय है---रस-रूप की व्याख्या, रस के उपकरण, भाव, रसविषयक प्रश्न, रस और मनोविज्ञान, रस-संख्या, रस-सामग्री-विचार। चतुर्थ प्रकाश में एकादश रसों का विवेचन है। पंचम प्रकाश में रसाभास आदि तथा षष्ठ प्रकाश में ध्वनि का परिचय है। सप्तम में काव्य के रूप, अष्टम में दोष, नवम में गुण, दशम में रीति, एकादश तथा द्वादश में अलंकार-विषय है।

अपने वर्ग के दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा 'काव्यदर्पण' में आलोचना के अंश अधिक हैं और वे भी प्रायः उन विषयों को लेकर जो विद्यालयों में परीक्षा की दृष्टि से विवेच्य माने जाते हैं---काव्य, रस तथा अलंकार---लेखक ने तीनों के लिए ३ नये 'प्रकाश' लगाये हैं। विषय का क्रम सामान्यतः 'साहित्यदर्पण' के अनुकूल है।

ध्वनि, दोष, गुण तथा रीति पर लेखक उतनी गहराई तक नहीं गया; कदाचित् इन विषयों की विद्यालयों में उतनी मांग न थी। फिर भी 'अभिधा के साथ बलात्कार' वह सहन न कर सका। दोष-प्रकरण में लिंगदोष, वचन-दोष, ग्राम्य दोष (शब्द दोषों में) आदि का विवेचन सभी को सर्वांश में मान्य नहीं हो सकता। अर्थ-दोषों में विद्या-विरुद्ध, साकांक्ष आदि के उदाहरण भी मिश्रजी का या तो पक्षपात दिखाते हैं या असामर्थ्य। लेखक ने नवीन उदाहरण लेकर तो अच्छा काम किया, परन्तु दूसरों द्वारा उदाहृत पद्यों को न लेने की प्रतिज्ञा या उसका अनभिनव व्यक्तित्व नवीन आभा के प्रति न्याय नहीं कर सका है।

अलंकार-विषय

'काव्यदर्पण' के अन्तिम २ प्रकाशों में अलंकार विषय है। एकादश प्रकाश में 'अलंकार' का सामान्य परिचय तथा विवेचन है, द्वादश प्रकाश में अलंकार-भेदों का

वर्णन है। एकादश प्रकाश में अलंकार के लक्षण, काव्य में अलंकारों की स्थिति, वाच्यार्थ और अलंकार, अलंकारों की सार्थकता, अलंकारों के रूप, अलंकार के काय, अलंकारों का वर्गीकरण, अलंकार और मनोविज्ञान तथा अलंकार के ३ रूप हैं। अन्य विवेचन-मुख्य प्रकाशों के समान यहां भी अपार सामग्री एकत्र की गई है, जिससे लेखक के परिश्रम का ज्ञान तो होता ही है, पाठक को भी कुछ लाभदायक बातें मिल जाती हैं। परन्तु शैली से सन्तोष नहीं होता। संस्कृतज्ञ तो मूल में सब कुछ पढ़ सकता है, परन्तु संस्कृत-ज्ञान-शून्य पाठक इस 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' (अथवा 'मक्षिका स्थाने मूषकः') अनुवाद से क्या करे ; उसको तो कुछ पल्ले नहीं पड़ता। प्रथम वाक्य ही देखिये—**"अलम् का अर्थ है भूषण; जो अलंकृत—भूषित करे वह है अलंकार; जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय इस करण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता है।"** वामन की वृत्ति का यह अनुवाद न तो अलंकार का लक्षण है न अलंकार का स्पष्टीकरण। आगे चलकर (पृ० ३२१) दण्डी की आलोचना करते हुए लेखक इस ऐतिहासिक तथ्य को भुला देना चाहता है कि दण्डी के समय में गुण तथा अलंकार का स्वतंत्र व्यक्तित्व अर्वाचीन अर्थ में विकसित न हो पाया था। एकादश प्रकाश की १० छायाओं में अलंकार-विषय के अनेक प्रश्नों पर विचार करके 'काव्यदर्पण' ने छात्रों का हित किया है, फिर भी पंचम छाया में लेखक का दृष्टि-कोण सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा—प्रत्येक युग में साम्य का आधार एक ही नहीं हो सकता, युग-भेद से सामग्री-भेद स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक युग की परिस्थितियां एक नहीं हो सकतीं। लेखक में संकलन-सौष्ठव अधिक है, विवेचन-प्रतिभा कम। कोई भी विषय आदि से अन्त तक अपने आप में पूर्ण नहीं है।

द्वादश प्रकाश

बारहवें प्रकाश में १७ छायायें हैं। प्रथमा छाया में ७ शब्दालंकार हैं—अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट तथा अन्त्य), यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति, (श्लेष तथा काकु), और श्लेष (अभंग तथा सभंग)। शब्दालंकारों के लक्षण-उदाहरण ही हैं, प्रायः उदाहरणों को लक्षणों में घटाया भी नहीं गया, पुनरुक्ति तथा वीप्सा के लक्षण तथा दो-दो उदाहरण देकर उनको विदा कर दिया गया है; श्लेष के साथ भी ऐसा ही व्यवहार है। अन्त में रामदहिन लिखते हैं, 'शब्दालंकारों में प्रहेलिका, चित्र आदि भी शब्दालंकार हैं,' इस कथन का आशय समझ में नहीं आया 'शब्दालंकारों में..... शब्दालंकार हैं' क्या मतलब——शब्दालंकारों में शब्दालंकार क्या होते हैं? चित्र शायद इसलिए नहीं दिया कि आजकल कवि इसको लिखते नहीं हैं; परन्तु भाषा-समक तो आज भी अप्रिय नहीं।

अलंकारों का ऐसा संक्षिप्त अध्ययन अन्यत्र देखने में नहीं आया, इतना उपेक्षित, इतना चलता हुआ; संस्कृत के उदाहरण भी यहां नहीं हैं। शंका होने लगती है कि यह विषय किसी दूसरे ने तो नहीं लिखा। यदि मिश्रजी जीवित होते तो मैं उनसे पूछता कि महाराज अन्तिम समय में अंग्रेजी का ऐसा क्या शौक लगा कि अलंकार-प्रकरण में संस्कृत को छुट्टी देकर अंग्रेजी को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया—अलंकारों के नाम ही नहीं,

समस्त पारिभाषिक शब्द ही नहीं, 'ध्वनि' तथा 'अर्थ' के भी अंग्रेजी नाम दे दिये हैं; क्या यह सोचा था कि हिन्दी अन्ताराष्ट्रीय भाषा होने जा रही है, अंग्रेजी पढ़े-लिखे भी हिन्दी-काव्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया करेंगे, उनको अंग्रेजी पर्यायों से विषय-बोध में सुगमता होगी ? हमारा व्यक्तिगत विचार है कि अंग्रेजी पर्याय भारतीय पाठक के लिए विषय-बोध में सहायक नहीं होते, प्रत्युत उसको भुलावे में डाल सकते हैं---प्रत्यनीक का राइवल्री, परिसंख्या का स्पेशल मेंशन, एकावली का नैकलेस, व्याघात का फ़्स्ट्रेशन, तथा समासोक्ति का स्पीच आफ ब्रीविटी पर्याय हास्यास्पद ही हैं।

दूसरी छाया से सोलहवीं छाया तक ७७ अर्थालंकार हैं, प्रत्येक का अंग्रेजी पर्याय दिया हुआ है। लक्षण गद्य में हैं, फिर प्रायः एक से अधिक खड़ी बोली के उदाहरण हैं; कहीं-कहीं जब उदाहरण का छन्द इतना बड़ा होता है कि पाठक को गोता मारने पर भी उसमें अभीष्ट अलंकार नहीं मिलता, तो लेखक संकेत कर देता है कि वह देख लो अमुक अलंकार चमक रहा है। भेदोपभेद कम नहीं हैं, पोद्दारजी जैसी उदारता तो, खैर, है नहीं। व्याख्या तथा लक्षण-उदाहरण-समन्वय का अभाव खटकता है, सन्देह आदि सामान्य एवं सरल अलंकारों के इतने उदाहरण व्यर्थ हैं। यदि भानुकवि तथा भगवानदीन के समान समान प्रतीत होनेवाले अलंकारों का पारस्परिक अन्तर भी लिख दिया जाता तो विवेचनकी कमी न मालूम पड़ती। लेखक ने प्रायः रुय्यक तथा विद्याधर के अर्थालंकार-वर्गीकरण को अपनाकर एक वर्ग के अलंकारों को एक 'छाया' में स्थान दिया है, यह प्रणाली वैज्ञानिक है। परन्तु वर्गीकरण को कहीं बतला दिया होता तो अच्छा रहता, पाठक से यह आशा करना कि वह वर्गीकरण के सिद्धांतों को जानता है और सभी वर्गों के नाम तथा उनकी विशेषताओं से परिचित है, अत्याशा मात्र है---यदि वह इतनी बातें जानता तो आपके इस प्राथमिक विवेचन में समय क्यों लगाता ?

सत्रहवीं छाया में 'पाश्चात्य अलंकार' हैं, १० पंक्तियों में इनकी भूमिका है, तदनन्तर मानवीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यंजना तथा विशेषण-विपर्यय या विशेषण-व्यत्यय के लक्षण-उदाहरण हैं; उदाहरणों की सच्ची भरमार इसी छाया में है; पुराने कवियों में भी इन अलंकारों की खोज इनके स्वरूप को अनिश्चित कर देती है---पुराने कवियों में यदि ये अलंकार हैं तो पुराने आचार्यों से इनका सौंदर्य अलक्षित क्यों रह गया ? इसलिये न कि वे इनमें सौंदर्य नहीं समझते थे, या पुराने प्रयोगों से आकृति-साम्य होते हुए भी नवीन प्रयोगों का प्रवृत्ति-भेद है। हम तो यह सोचते थे कि मिश्रजी इन 'पाश्चात्य अलंकारों' का भारतीय अलंकारों में ही अन्तर्भाव कर लेंगे, क्योंकि पाश्चात्य आलोचना "चक्कर काट कर इन्हीं सिद्धांतों पर" आ जाती है।

मूल्यांकन

मिश्रजी समन्वय-बुद्धि के रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने अलंकार को काव्य का उत्कर्ष-हेतु माना है, परन्तु उसकी मात्रा पर संयम का प्रतिबन्ध लगा दिया है---'रचना में कल्पना, अलंकार आदि को वहीं तक प्रश्रय देना चाहिए, जहां तक भाव को सुरूप बनाया जा सके; अन्यथा भाव का सौंदर्य नष्ट हो जाता है'। फलतः अलंकार विषय

का विवेचन भी उपेक्षित रहा। 'काव्य-दर्पण' जैसी रचना में अलंकार का ऐसा अति सामान्य विवेचन खटकता है। अलंकार की दृष्टि से 'काव्यदर्पण' सम-सामयिक रचनाओं से बहुत पीछे रहता है, उसमें एक ही विशेषता है नवीन उदाहरण, शेष सभी दोष हैं। जिन विशेषताओं को पूर्ववर्त्ती आचार्य अपना चुके थे उनको भी यदि मिश्रजी अपनाते तो उनकी कृति उपादेय हो सकती थी।

'काव्यदर्पण' के संकल्प से जो आशा की जाती थी वह पूरी न हो सकी। इस रचना में अध्ययन तथा परिश्रम की कमी नहीं (परन्तु अलंकार-प्रकरण में अध्ययन तथा परिश्रम भी नहीं है); किन्तु मनन, स्वतंत्र सूझ अथवा मौलिकता का अभाव है। रामदहिन मिश्र यदि दूसरों के 'अधकचरे' ज्ञान की आलोचना ही करते तो अधिक सफल बने रह सकते थे, 'काव्यदर्पण' और विशेषतः एकादश तथा द्वादश 'प्रकाश' (अलंकार-प्रकरण) से उनकी कीर्त्ति में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती।

उपसंहार

केशवदास से रामदहिन मिश्र तक सार्धत्रय शताब्दियों की इस दीर्घ अवधि में हिन्दी के आचार्यों ने अलंकार-विषय पर जो कुछ लिखा है उसका आधार संस्कृत-भाषा के अलंकार-ग्रन्थ ही हैं। मौलिक उद्भावना, साधिकार विवेचन, तथा ऐतिहासिक विवरण का नक्षत्र जब पण्डितराज के साथ अस्त हो गया और विद्वानों ने यह समझ लिया कि संस्कृत-संग्रह-ग्रन्थों के निर्माण की अपेक्षा संस्कृत-रक्षित ज्ञानराशि को भाषा-पाठकों के हेतु सुलभ कर देना अधिक वरेण्य है, तो संस्कृत-अलंकार-ग्रन्थों की छाया में भाषा-ग्रन्थों की रचना होने लगी। इस उपक्रम का श्रेय आचार्य केशवदास को है। केशवदास जगन्नाथ के समान पण्डित न रहे हों परन्तु ध्वन्युत्तरकाल के वाग्भट-द्वय, हेमचन्द्र, केशवमिश्र तथा जगन्नाथोत्तर काल के दर्जनों संस्कृतज्ञों से कम प्रतिभाशाली वे न थे। यदि वे चाहते तो संस्कृत भाषा में भी काव्यशास्त्र की पुस्तक लिख सकते थे और संस्कृत-छाया को भाषा-रूप देने से जो क्लिष्टता उनकी शैली में आई है वह संस्कृत-रचना में न भी आती, परन्तु समय की गति को पहिचानकर अपने अहं को दबाते हुए भी उन्होंने अपनी पुस्तकें भाषा में लिखीं। केशव में संस्कृत और भाषा का अपूर्व योग है, संक्रान्ति-काल का दायित्व भी उनके व्यक्तित्व को निरोज नहीं कर सका है। सम्भव है केशव की प्रतिभा अविरल अध्ययन तथा मनन का ही नैसर्गिक परिणाम हो, तो भी उत्तरकालीन सभी आचार्यों से वे दो इंच ऊंचे हैं। वे काव्य में अलंकार को एक विशेष महत्त्व ही नहीं देते प्रत्युत उनका 'अलंकार' प्रभावक-धर्म-मात्र का ही नाम है; इस विशेष अर्थ का उत्तर आचार्यों ने न तो ग्रहण किया और न वे उसका खण्डन कर सके—उपेक्षा का तो प्रश्न ही नहीं आता। यदि केशव के ग्रन्थों का, अध्ययन और मनन के उपरान्त, वृत्तिसहित सम्पादन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि केशव से आतंकित होकर उनको बुरा-भला कहना आवश्यक नहीं, उनके पाण्डित्य की थाह लेकर उनसे सीखा भी बहुत कुछ जा सकता है।

केशव के उपरान्त हिन्दी-अलंकार-साहित्य के दो युग बनते हैं। प्रथम युग जसवन्त-सिंह से गंगाधर तक के आचार्यों का है, साहित्य के इतिहास में इसको रीतिकाल कहते हैं; यह माध्यम की दृष्टि से ब्रजभाषा-पद्य का युग था। इस काल के आचार्य कवित्व की भावना और ज्ञान-प्रदर्शन की दृष्टि से रचना करते थे, पाठकों की मांग उनकी दृष्टि में उतनी नहीं थी। परन्तु दूसरा युग, जो मुरारिदान से रामदहिन मिश्र तक फैला हुआ है, गद्य का काल है; इस युग के आचार्य कवि नहीं थे उनको पाठक की रुचि का अवश्य ध्यान था।

रीतिकाल के अलंकारियों की तीन स्वतंत्र प्रवृत्तियां हैं। प्रथम प्रवृत्ति के आचार्य, दूलह के शब्दों में, 'अलंकृती' कहे जा सकते हैं; इनका उद्देश्य पाठक को अलंकार का ज्ञान कराना मात्र था; जसवंतसिंह, दूलह पद्माकर आदि इसी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इनमें 'चन्द्रा-लोक' के उपजीवी 'कुवलयानन्द' का शतप्रतिशत प्रभाव है—मान्यता में, अलंकार-

संख्या में, शैली में, और उद्देश्य में। यह आश्चर्य की सी बात है कि इस कोटि के आचार्य अधिक प्रसिद्ध नहीं माने गए, फिर भी इनकी संख्या दर्जन से कुछ अधिक ही है।

रीतिकाल में दूसरी प्रवृत्ति 'करतारों' की दिखलाई पड़ती है। इनका ध्येय वर्णन था, अलंकार या काव्यांगों का परिचय नहीं; अतः इन के उदाहरण रसपूर्ण हैं, उतने उपयुक्त नहीं। मतिराम ने आश्रयदाता की प्रशंसा में शृंगार-रस के उदाहरण रचे, भूषण ने अपने आश्रदाता के उत्साह-वर्द्धन-हेतु वीर रस को अपनाया, लछिराम ने 'रामचन्द्र जस-रासी' के यश का वर्णन किया। यह संयोग-मात्र ही कहा जायगा कि इस प्रवृत्ति के कवि केवल अलंकार -विषय के ही उदाहरण प्रस्तुत करते रहे।

कुलपति मिश्र, देव और दास में उस युग की तीसरी प्रवृत्ति मिलती है, दूलह ने इस प्रकार के साहित्यिकों को 'सत्कवि' कहा है। इन कवियों ने प्रयत्न यह किया है कि 'अलंकृतियों' और 'करतारों' के गुणों का अपनी शैली में मिश्रण कर दें। इनकी विवेचना अलंकार-विषय तक ही परिसीमित नहीं है। अनकांग-निरूपण के अतिरिक्त इन आचार्यों की कोई अन्य विशेषता नहीं दिखायी पड़ती, ये न सफल 'अलंकृती' हैं और न रसपूर्ण 'करतार'।

मध्ययुग के आचार्यों की मुख्य विशेषता तो ब्रज-भाषा पद्य का प्रयोग है; विवेचन का नितान्त अभाव, रस और अलंकार में से कभी एक और कभी दूसरे को मुख्यता-प्रदान, काव्य-प्रकाश साहित्य-दर्पण और चन्द्रालोक-कुवलयानन्द की निरन्तर छाया तथा रचना-मात्र के लिए पुस्तक-निर्माण इनके अन्य गुण हैं। लगभग दो शताब्दियों में एक भी व्यक्ति ने लीक-पीटने के स्थान पर कोई नया कदम नहीं उठाया, कुछ कवि तो अलंकार के लक्षण स्वयं भी न जानते थे, उदाहरण लक्षणों में ठीक ठीक नहीं घटते और एक ही कवि की दो रचनाएँ विचारों का अनैक्य दिखलातीं हैं। वस्तुतः प्राचीनों को प्रमाण मान कर उनका यथासम्भव अनुकरण ही उस काल का युगधर्म था। फिर भी उस युग का दृष्टिकोण सराहनीय है। संस्कृत का मोह छोड़कर भाषा का माध्यम इस युग के कवियों ने अपनाया, फलतः जन-जन काव्य-शास्त्र के रहस्यों से परिचित हो गया; जिस प्रकार अध्यात्म की अहर्निश चर्चा सुनते-सुनते भक्तिकाल की जनता किसी न किसी अंश में सांसारिकता से ऊंची उठ गयी थी उसी प्रकार इस युग का साहित्यिक ही नहीं प्रत्युत सामान्य पाठक भी सौंदर्यशास्त्र की व्याख्या में डुबकी लगाता-लगाता सौंदर्य की विभिन्न विधाओं से परिचित हो गया था—उपमा और अनुप्रास की परख तो अशिक्षित जनों को भी थी। सौंदर्य का यह आंदोलन उस युग की एक प्रमुख विशेषता है।

गद्यकालीन आचार्यों में जो सन्धि काल के हैं उनमें नवीन संस्कारों की झलक है परन्तु प्रभाव प्राचीन संस्कारों का ही है। नवीन संस्कारों से हमारा अभिप्राय नवीन वातावरण में अलंकार-शास्त्र की चर्चा से है। पाठक संस्कृत का विद्वान् न था परन्तु अंग्रेजी जानता था, या अंग्रेजी ढंग की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से परिचित था। फलतः गद्ययुगीन आचार्य का प्रयत्न मांग के अनुसार पुस्तक को उपयोगी बनाना है। इस शताब्दी में युग की मांग बदलती रही, अतः प्रत्येक नया आचार्य एक नयी तथा सरल शैली

लेकर आया। व्याख्या के लिए केवल गद्य का प्रयोग, तथा खड़ी बोली के उदाहरण इस क्षेत्र की आवश्यकता है; भेदोपभेदों के व्यामोह से मुक्ति दिलाकर केवल मोटे-मोटे तथा अत्यन्त उपयोगी अलंकारों के लक्षण-उदाहरण लिखकर आचार्य अधिक लोकप्रिय हो सकता है; व्याख्या के साथ ही तुलनात्मक आलोचना अधिक आकर्षक लगती है। प्रत्येक आचार्य की स्वकीय विशेषताओं का हमने यथास्थान उल्लेख कर दिया है।

गद्यकालीन अलंकार-शास्त्र पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता है मानो पाठक अब अलंकार से अतितृप्त हो चुका है, उसके पास इन गुत्थियों को समझने का समय नहीं है; अतः आचार्य को इस कार्य से विरत हो जाना चाहिये। अंग्रेजी में इस प्रकार की सूक्ष्मताएँ नहीं हैं, फिर हिन्दी में ही इनको क्यों रहने दिया जाय ? और जिस शास्त्र का मन्थन सहस्र वर्षों से हो रहा है, उसमें आकर्षक नवीनता अब कहां रह गई ? प्रथम आपत्ति का कोई उत्तर नहीं क्योंकि अविकसित की देखादेखी विकसित में कांट-छांट जीवन की अस्वीकृति है—अविकसित में विकास जीवन का चिन्ह है, परन्तु विकसित को लौटाकर अविकास की ओर लाना साक्षात् मरण ही माना जायगा। दूसरी आपत्ति आज ही नहीं पहिले भी उठ रही थी, परन्तु पहिले उसका रूप भिन्न था। केशव ने अलंकार-शास्त्र को इसीलिये एक नया स्वरूप—भाषा का माध्यम प्रदान किया था, और तत्कालीन सभी आचार्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उस शास्त्र के अंग या अंगों की व्याख्या करते रहे थे। इस युग में भी विद्रोह के साथ-साथ विकास भी हुआ है। आज भी इस प्रकार के ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता है जो केवल हिन्दी को आधार मानकर अप्रचलित विधाओं का त्याग तथा नवप्रचलित विधाओं की स्वीकृति-पूर्वक अलंकार-शास्त्र में फिर से ताजगी लादे और सौंदर्य को मंजूषा से निकालकर मर्मज्ञों के सामने रख दे। आशा है सौंदर्य-जगत् में इस प्रकार की प्रतिभा का उदय शीघ्र ही होगा।

परिशिष्ट

संस्कृत-आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार

(हिन्दी छाया सहित)

भरत

उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ १६।४३॥
(उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक——काव्य के ये चार अलंकार माने गये हैं।)

भामह

न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥ १।१३।
(सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना नारी के मुख पर कान्ति नहीं आती।)
न नितान्ताविमात्रेण आयते चारुता गिराम्।
वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥१।३६॥
(प्रकृत रूप से वाणी में सुन्दरता नहीं आती, वाणी की चारुता के लिए वक्र नाम की शब्दोक्ति इष्ट है।)
सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ १।५४॥
(जिस प्रकार मालाओं के बीच में नील पलाश भी मनोहर बन जाता है उसी प्रकार परिशेष-विशेष के कारण दुरुक्त भी सुन्दर लगता है।)
किञ्चिदाश्रयसौंदर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कांताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥१।५५॥
(कभी-कभी असाधु भी आश्रय के सौन्दर्य से शोभा प्राप्त करता है, जिस प्रकार कान्ता के नेत्रों में लगा हुआ काला अंजन।)
अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पंचैवाऽन्यैरुदाहृताः ॥ २।४॥
(अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा——ये पांच ही अन्यों ने वाणी के अलंकार माने हैं।)
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना। २।८५॥
(वह सब वक्रोक्ति ही है जिससे अर्थ में आभा आती है, कवि को इसमें प्रयत्न करना चाहिए, इसके बिना किस अलंकार का अस्तित्व सम्भव है।)
हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥२।८६॥

(हेतु, सूक्ष्म तथा लेश में अलंकारता नहीं है; इनमें समुदाय का अभिधान है, वक्रोक्ति नहीं।)

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ॥
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥ २।८७ ॥

(सूर्य छिप गया, इन्दु शोभित हो रहा है, पक्षी अपने नीड़ों को जा रहे हैं—इत्यादि में काव्यत्व क्या है ? यह तो वार्ता या यथार्थ कथन है।)

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते ।१।९३।

(कुछ लोग कहते हैं कि स्वभावोक्ति एक अलंकार है।)

वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः ।३।४९।।

(संसृष्टि उत्तम विभूषण है, इसमें बहुत अलंकारों का योग होता है।)

अनलङ्कृतकांतं ते वदनं वनजद्युति ।३।५१।।

(कमलवत् कान्तिवाला तेरा मुख अनलंकृत होने पर भी सुन्दर है।)

आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता । ३।५५।।

(कुछ लोगों के मत में आशीः भी अलंकार है।)

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते । ५।६६।।

(वक्रार्थ शब्दोक्ति वाणी का अलंकार बन जाती है।)

इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा ॥
अस्यां सुवर्णालङ्कारः पुष्णाति नितरां श्रियम् ॥६।३०॥

(यह चन्द्रमुखी कन्या स्वभाव से ही मनोहर है, इसपर सुवर्ण के अलंकार अत्यन्त शोभा के कारण बनेंगे।)

दण्डी

काव्यं कल्पान्तरस्थायी जायते सदलंकृति । १।१९।।

(सदलंकृत काव्य चिरस्थायी हो जाता है।)

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥१।६२॥

(सब अलंकार अर्थ में रस का पर्याप्त सिंचन करते हैं, तो भी रस-सिंचन का अधिकतर भार अग्राम्यता पर है।)

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।२।१।।

(काव्य-शोभा के संपादक धर्मों को अलंकार कहते हैं।)

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।२।८।।

(स्वभावोक्ति या जाति सर्वप्रथम अलंकार है।)

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।२।१३।।

(स्वभावोक्ति का शास्त्र में साम्राज्य है, काव्यों में भी आदर है।)

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।२।६६।।

(अप्रस्तुत-प्रस्तुत का भेद तिरोहित हो जाने पर उपमा ही रूपक कहलाती है।)

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।२।२३५।।
(हेतु, सूक्ष्म तथा लेश वाणी के उत्तम भूषण हैं ।)
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
(प्रायः सब वक्रोक्तियों में श्लेष श्री का पोषक है ।)
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।। २।३६३।।
वाङ्मय के दो भेद हैं--स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति ।

वामन

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।१।१।१।।
(अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है ।)
सौंदर्यमलंकारः ।१।१।२।।
(काव्य में सौन्दर्य का नाम ही अलंकार है ।)
स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् ।१।१।३ ।।
(काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि दोषों के त्याग तथा गुणालंकारों के नियोजन से सम्पादित होती है ।)
काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः । ३।१।१।।
(काव्य में शोभा के जनक धर्म गुण कहलाते हैं ।)
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः । ३।१।२।।
(उस काव्यशोभा के अतिशयिता धर्म अलंकार हैं ।)
पूर्वे नित्याः ।३।१।३ ।।
(गुण और अलंकारों में से गुण नित्य हैं, और अलंकार अनित्य ।)
युवतेरिव रूपमङ्गं काव्यं, स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो, वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं, नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।।
(युवती के रूप के समान अलंकारविहीन काव्य भी रुचिकर होता है, और सालंकार सगुण काव्य युवती के विभूषित रूप के समान अत्यन्त आह्लाददायक होता है । परन्तु युवती के लावण्यशून्य शरीर के समान गुणशून्य काव्य में उत्कृष्ट आभषण भी भद्दे लगते हैं ।)

रुद्रट

काव्यमलंकर्त्तुमलं कर्त्तुरुदारा मतिर्भवति । १।३।।
(कवि की उदारमति सालंकार काव्य की रचना में सफल होती है ।)
रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया य करोति चारुत्वम् ।२।९।।
(उसी शब्द की रचना करे जो काव्य को सुन्दर बनावे ।)

आनन्दवर्धन

तस्य पुनरङ्गानि, अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति— १।११ वृत्ति ॥
(अलंकार, गुण तथा वृत्ति उसके अंग हैं।)
तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।२।६॥
(जो अंगी अर्थ के अवलम्ब हैं उनको गुण कहते हैं, और कटक आदि के समान जो अंगाश्रित हैं वे अलंकार हैं।)
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग् यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।२।१६॥
(ध्वनिकार के मत में वही अलंकार है जिसका योग रसाक्षिप्त होने के कारण सफल हो और जिसके लिए कवि को स्वतन्त्र यत्न न करना पड़े।)
यमकादिनिबन्धे तु पृथक् यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ।।२।१६॥
(यमकादि निबन्ध में शक्त कवि को पृथक् यत्न करना पड़ता है, इसलिए यमकादि रस के अंग नहीं माने।)
अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्याद् अंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते ॥ २।१७॥
(बाह्य अलंकार के समान अलंकार अंगी रस के चारुत्व हेतु हैं।)
अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः ।३।३७ वृत्ति ।
(वाणी की अनन्त शैलियां हैं, और उतने ही अलंकार के प्रकार हैं।)

अग्निपुराणकार

अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।
(अलंकारहीना सरस्वती विधवा के समान मन को उल्लसित नहीं करती।)

कुन्तक

सालंकारस्य काव्यता । १।६॥
(सालंकार शब्दार्थ काव्य है।)
अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलंकार्यतयातेषां किमन्यद् अवतिष्ठते । १।११॥
(जिन आचार्यों के मत में स्वाभावोक्ति भी अलंकार है उनके मत में फिर अलंकार्य क्या रह गया ?)
अपह्नुत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः ।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥
(अन्य अलंकारों की विशेष श्री का अपहरण करने वाली उत्प्रेक्षा सर्वप्रथम उल्लेख-योग्य होकर विद्यमान है।)

भोजराज

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयो र्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ॥ १।५९॥
(अलंकृत होने पर भी गुणवर्जित काव्य सुनने में अच्छा नहीं लगता ; गुण और अलंकार के योगों में गुणयोग मुख्य है ।)
यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं, यथा लावण्यमङ्गनाम् ।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः ।२।७६॥
(जिस प्रकार ज्योत्स्ना चन्द्र को तथा लावण्य सुन्दरी को अभिभूषित करते हैं उसी प्रकार अनुप्रास काव्य की शोभा में समर्थ है ।)
उपमादिवियुक्तापि राजते काव्यपद्धतिः ।
यद्यनुप्रासलेशोऽपि हन्त तत्र निवेश्यते ।२।१०६॥
(यदि अनुप्रास-योग हो तो उपमादि से रहित काव्यपद्धति भी सुशोभित होती है ।)

क्षेमेन्द्र

उचितस्थानविन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः ।६।
(उचित स्थान पर धारण करके ही अलंकार शोभाकारक हैं ।)
अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥
(जिस प्रकार पीनस्तनों पर स्थित हार से कामिनी सुन्दर लगती है उसी प्रकार अर्थौचित्यमूल अलंकार से सूक्ति में रमणीयता आती है ।)

मम्मट

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तु स्युरचलस्थितयो गुणाः ।८।६६ ॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।८।६७॥
(काव्य में रस अंगी है, उसके उत्कर्षक नित्य धर्म 'गुण' हैं, ये रस के वैसे ही धर्म हैं जैसे मनुष्य के धर्म शूरता आदि ; अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं, ये कदाचित् रस का उपकार करते हैं, सर्वदा नहीं, जहां रस नहीं है वहां भी अलंकार रह सकता है ।)

रुय्यक

उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा ।
(उपमा ही अनेक प्रकार की विचित्रता से अनेक अलंकारों का बीज है, इसलिए इसका सर्वप्रथम निर्देश है ।)

जयदेव

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥१।८॥
(जो अलंकार-शून्य शब्दार्थ में काव्यत्व स्वीकार करता है, वह कृती अग्नि में ठंडक को क्यों नहीं मानता ।)
हारादिवद् अलंकारः सन्निवेशो मनोहरः ।५।१॥
(हारादि के समान अलंकार का योग मनोहर होता है ।)

विद्याधर

प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते ।
दुष्करत्वादसाधुत्वम् एकमेवात्र दूषणम् । ७।५॥
(प्रायः यमक और चित्र में रसपुष्टि नहीं होती, दुष्कर होने के कारण ये असाधु हैं, इनमें यही एक दोष है ।)

विश्वनाथ

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ।१।१॥
(गुण, अलंकार और रीति काव्य में रस के उत्कर्षक हैं ।)
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते ऽङ्गदादिवित् ॥ १०।१ ॥
(अङ्गद आदि के समान शोभा के अतिशयिता और रसादि के उपकारक शब्दार्थ के अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं ।)
रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कारः प्रहेलिका ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा ---- १०।१७॥
(रस में बाधक होने के कारण प्रहेलिका अलंकार नहीं है, यह तो उक्तिवैचित्र्य मात्र ही है ।)

कुछ हिन्दी-आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार

केशवदास

(१) नग्न जु भूषण हीन । ३।८ ॥

(२) जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त ॥५।१॥

(३) काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली,
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं । ९।१२॥

(४) कविन कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप ।
एक कहैं साधारणैं, एक विशिष्ट सरूप ॥ ५।२॥

जसवंतसिंह

अलंकार सब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ ।२०८॥

कुलपति मिश्र

(१) जमक, चित्र, अरु श्लेष में, रस को नाहि हुलास ॥४४॥

(२) उक्ति-भेद तें होत हैं, अलंकार, यह जानि ॥

(३) सो उपमा सिर मौर ॥

देवकवि

(१) अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं,
येई पुराननि मुनि मतनि में पाइये ।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और
इनहीं के भेद और विविध बताइये ॥ (भाव विलास)

(२) सुसमासोक्ति सो जानिये, अलंकार सिरमौर ॥

(३) सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार ॥ (काव्य रसायन)

(४) कविता कामिनि सुखद प्रद, सुबरन, सरस, सुजाति ।
अलंकार पहिरे, अधिक अद्‌भुत रूप लखाति ॥ (वही)

(५) अनुप्रास रसपूर ॥

(६) अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव ॥

(७) सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि ॥

(८) मुख्य गौन विधि भेद करि, हैं अर्थालंकार ।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार ॥
मुख्य गौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त ।
गुप्त प्रकट सब काव्य में, समुझत हैं मति-मन्त ॥

दूलह

चरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझै करतार ।
बिन भूषण नहि भूषई, कविता-वनिता चार ॥

दासकवि

(१) रस कविता कौ अंग, भूषण हैं भूषन सकल ।
गुन सरूप औ रंग, दूषण करै कुरूपता ॥
(२) कहूं वचन, कहूं व्यंग्य में परै अलंकृत आइ ॥
(३) भूषण छियासी अर्थ के . . . ॥
(४) लक्षण नाम प्रकास हैं, सुमिरन, भ्रम, संदेह ॥
(५) रस के भूषित करन तें, गुण बरने सुखदानि ।
गुण-भूषण अनुमानि कैं अनुप्रास उर आनि ॥
(६) जदपि अर्थ, भूषन सकल, शब्द शक्ति तें होइ ॥
(७) अनुप्रास, उपमादि जे, शब्दार्थालंकार ।
ऊपर तें भूषित करैं, जैसे तन को हार ॥
अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि ।
सुकवि-वचन रचनान सौं, देत दुहुंन कौं मंडि ॥

पद्माकर

सगुन, सभूषन, सुभ, सरस, सुपद, सुचरन, सराग ।
इमि कविता अरु कामिनी, लहैं जु सो बड़भाग ॥

लछिराम

भूषनवत् पद-अर्थ में अलंकार अनुमान ॥

मुरारिदान

(१) समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो गये ॥
(२) . . . नाम ही से अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से उनका दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं ॥
(३) वेद व्यास भगवान् ने, परतछ कह्यौ पुकार ।
कवि-वानी भूषण विना, जैसी विधवा नार ॥
(४) नामार्थों से ही अलंकारों का साक्षात् स्वरूप सुगमता से समझा जाता है ।

जगन्नाथ प्रसाद भानु

(१) जो काव्य की शोभा को बढ़ावे, वही अलंकार है ।
(२) अलंकार काव्य का हृदय स्वरूप है, क्योंकि उसका आभास हृदय में ही होता है ।

(३) व्यंग्य रु रस तें भिन्न जो, हृदय रूप सरसाहिं ।
चमत्कार, भूषण सरिस, सोई भूषण आंहि ॥
(४) जहां चमत्कार नहीं, वहां कोई अलंकार नहीं ।
(५) अलंकारहीन काव्य नग्न कहलाता है ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

(१) कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिये । (कवि-कर्त्तव्य)
(२) अच्छे काव्य लिखने का प्रयत्न करना चाहिए । अलंकार, रस और नायिका-भेद निरूपण बहुत हो चुका । (वही)
(३) ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न भिन्न ढंग हैं । क्या इनके सिवा बोलने और लिखने में सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग हो ही नहीं सकता ? (केडिया जी के लिए लिखे गये एक पत्र से)

रामचन्द्र शुक्ल

(१) मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूं ; जिसके अन्तर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है । वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं । (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)
(२) अलंकार हैं क्या ? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियां, जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये । ये शैलियां न जाने कितनी हो सकतीं हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रंथों में मिलते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं । ('जायसी ग्रंथावली' की भूमिका)
(३) रीति ग्रंथों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिये गये और कुछ 'भाव-क्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हांक दिये गयें । इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया ।... पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूं ... प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता ।... सारांश यह कि 'स्व-भावोक्ति' अलंकार नहीं है और इसी से उसका ठीक ठीक लक्षण भी स्थिर नहीं हो सका है । (काव्य में प्राकृतिक दृश्य) ।
(४) प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाये—चाहे वह वस्तु, गुण, या क्रिया हो अथवा व्यापार समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगाने वाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत । ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका)

(५) काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुंचाते हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जन-साधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। (वही)

(६) पर मुबालगा जहां हद से ज्यादा बढ़ा कि मजाक हुआ।

(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)

(७) वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई हैं।...पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। (कविता क्या है।)

गुलाबराय

(१) जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक तो वे शोभा के उत्पन्न करने वाले या बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं किंतु जब वे रूढ़ि या परम्परा मात्र रह जाते हैं तभी वे भार-रूप दिखाई देने लगते हैं।

(सिद्धांत और अध्ययन)

(२) निर्जीव से विधवा होकर भी जीवित रहना श्रेयस्कर है। (वही)

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

१. ऋग्वेद
२. निरुक्त (निर्णय सागर प्रेस, १९३०)
३. दि निरुक्त डा. लक्ष्मणसरूप, (पंजाब विश्वविद्यालय, १९२७)
४. नाट्यशास्त्रम् (निर्णय सागर प्रेस, १९४३)
५. काव्यालंकार (भामह)—(चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९८५)
६. काव्यादर्श (भाण्डारकर प्राच्य विद्या मन्दिर, १९३८ ई.)
७. काव्यालंकार-सार-संग्रह (सं. नारायणदास बनहट्टी, १९२५)
८. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (आरिएंटल बुक एजेन्सी पूना, १९२७)
९. काव्यालंकार (रुद्रट) (निर्णय सागर प्रेस, १९०९)
१०. ध्वन्यालोक (कुप्पुस्वामीशास्त्रि-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, मद्रास, १९४४)
११. वक्रोक्तिजीवितम् (सं. डा. सुशील कुमार दे) (१८२८, द्वितीय आवृत्ति)
१२. व्यक्तिविवेक (हरिदास-संस्कृत आग्रन्थमाला बनारस, १९९३)
१३. सरस्वती-कंठाभरण (निर्णय सागर प्रेस, द्वितीया आवृत्ति, १९३४)
१४. औचित्यविचारचर्चा (हरिदास संस्कृत सीरीज, १९५३)
१५. कविकण्ठाभरण (हरिदास संस्कृत सीरीज, १९५३)
१६. काव्य प्रकाश (चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय, १९५१)
१७. अलंकार-सर्वस्व (शारदा-भवन काशी, १९८३)
१८. वाग्भटालंकार (श्री वेंकटेश्वर प्रेस)
१९. काव्यानुशासनम् (वाग्भट)–(निर्णय सागर प्रेस, १९१५)
२०. काव्यानुशासनम् (हेमचन्द्र)–(निर्णय सागर प्रेस, १९३४)
२१. चन्द्रालोक (चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज, १९४५)
२२. एकावली (गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो, १९०३)
२३. साहित्यदर्पण (मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३८)
२४. अलंकारशेखर (चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज, १९८४)
२५. कुवलयानन्द (निर्णय-सागर प्रेस, १९४७)
२६. रसगंगाधर (निर्णय-सागर प्रेस, १९३९)
२७. काव्यमीमांसा (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, १९५४)
२८. साहित्य-सार (त्रिवेन्द्रम यूनिवर्सिटी, १९४७)

हिन्दी-ग्रंथ

१. प्रिया-प्रकाश (सं. लाला भगवानदीन) (१९८२ वि.)
२. भाषा-भूषण (जसवंतसिंह) (हिन्दी-साहित्य-कुटीर बनारस, २००६ वि.)
३. मतिराम-ग्रंथावली (गंगा-पुस्तकालय लखनऊ, १९८३)
४. रस-रहस्य (इंडियन प्रेस लि. प्रयाग, १९५४)
५. भूषण-ग्रन्थावली (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा)
६. भाव-विलास (तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय, प्रयाग, १९९१)
७. शब्द-रसायन (हि. सा. सम्मेलन प्रयाग, २००२)
८. भाषाभूषण (श्रीधर कवि) (हस्तलिखित, नागरी-प्रचारिणी सभा पुस्तकालय)
९. अलंकार-चन्द्रोदय (हस्तलिखित, याज्ञिक संग्रहालय)
१०. रसिकमोहन (नवलकिशोर प्रेस, सन् १८९०)
११. कर्णाभरण (गोविंद कवि) (भारत जीवन प्रेस काशी, १९८४)
१२. कवि-कुल-कंठाभरण (दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ, १९९२)
१३. काव्य-निर्णय (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३७)
१४. तुलसी-भूषण (हस्तलिखित, ना. प्र. सभा पुस्तकालय)
१५. अलंकार-मणि-मंजरी (आर्ययन्त्र, वाराणसी, १९३९)
१६. अलंकार-दर्पण (भारत जीवन प्रेस, १९५६)
१७. रघुनाथ-अलंकार (हस्तलिखित, याज्ञिक संग्रहालय)
१८. पद्माकर-पंचामृत (रामरत्न-पुस्तक-भवन काशी, १९९२)
१९. दीप प्रकाश (भारत जीवन प्रेस, १९४६)
२०. चित्र चन्द्रिका (आर्यभाषा पुस्तकालय, ना. प्र. सभा)
२१. भारतीभूषण (गिरिधरदास) (चौखम्भा पुस्तकालय, बनारस)
२२. गंगाभरण (नन्द किशोर मिश्र, गन्धौली, सीतापुर, १९३५)
२३. रामचन्द्रभूषण (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६०)
२४. वनिताभूषण (जगत-प्रकाश यन्त्रालय, फतहगढ़)
२५. महेश्वर-भूषण (भारत-जीवन प्रेस, १९५४)
२६. जसवन्त-जसोभूषण (मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर, १९५४)
२७. काव्य-प्रभाकर (लक्ष्मी-वेंकटेश्वर छापाखाना कल्याण, जि. ठाणा, १९६६)
२८. अलंकार-मंजूषा (रामनारायणलाल, इलाहाबाद, २००४)
२९. भारतीभूषण (केडिया) (भारती भूषण कार्यालय, काशी, १९८७)
३०. साहित्य सागर (२ भाग) (गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९९४)
३१. अलंकार-मंजरी (मथुरा, २००२)
३२. काव्य-दर्पण (ग्रन्थागार-कार्यालय, पटना, १९५१)
३३. काव्य-कल्पद्रुम (मथुरा, १९९८)
३४. रीति-काव्य की भूमिका (गौतम बुक डिपो दिल्ली, १९४९)

३५. भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड) (प्रसाद-परिषद् काशी)
३६. हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास (लखनऊ विश्वविद्यालय, २००५)
३७. मिश्रबन्धु-विनोद (गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ, १९८८)
३८. देव और उनकी कविता (गौतम बुक डिपो दिल्ली, १९४९)
३९. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (ना. प्र. सभा, २००३)
४०. अलंकार-पीयूष (रामनारायणलाल, प्रयाग, १९२९)
४१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (२ भाग) (१९३८, पोद्दार)
४२. सिद्धान्त और अध्ययन (प्रतिभा-प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, २००६)
४३. चिन्तामणि (प्रथम भाग) (इंडियन प्रेस प्रयाग, १९४८)
४४. भ्रमर-गीत-सार (साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, २००४)
४५. जायसी-ग्रंथावली (काशी ना. प्र. सभा, २००३)
४६. कविरहस्य (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०)

अंग्रेजी-ग्रंथ

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, (प्रथम भाग) (ल्यूजक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९२३)
२. सम एसपैक्टस आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत (दि यूनीवर्सिटी ऑफ मद्रास, १९२९)
३. एन्ट्रोडक्शन टु साहित्यदर्पण, (१९२३, पी. वी. काण)
४. स्टडीज औन सम कन्सैप्सट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र (दि अद्यार लाइब्रेरी, अद्यार, १९४२)
५. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (भाग एक) (दासगुप्त तथा दे)
६. पोइटिक्स (एवरीमेन्स लाइब्रेरी, १९४३)
७. हाइवेज एण्ड बाइवेज ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत (दि कुप्पुस्वामी-शास्त्री रिसर्च इंस्टीट्यूट, मद्रास, १९४५)
८. कन्सेप्टस ऑफ रीति एण्ड गुण इन संस्कृत पोइटिक्स (ढाका विश्वविद्यालय १९३७)
९. ए हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर (ट्रबनर एण्ड कम्पनी लि. लन्दन, १९३३)
१०. रिमार्क्स औन सिमिलीज इन संस्कृत लिटरेचर (ई. जे. ब्रिल, लीडेन, हौलैंड, १९४९)
११. भोज्स शृंगार-प्रकाश (कर्नाटक पबलिशिंग हाउस, बम्बई)
१२. काव्यप्रकाश (दशम उल्लास) (१९४१, कर्नाटक पबलिशिंग हाउस, बम्बई)
१३. काव्यालंकार-सूत्र (ट्रान्सलेशन) (१९२८, आरिएंटल बुक एजेंसी, पूना)
१४. ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर (आर. वी. जागीरदार कृत)

१५. **डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर** (फिगर आफ स्पीच)
१६. **तमिल लिट्रेचर** (एम. एस. पूर्णलिंगम पिलाइ) (दि बिब्लियोथेका, मुन्नीरपल्लम, तिन्नेवली, साउथ इंडिया)

अन्य ग्रंथ

१. **प्राचीन बांगला साहित्येर इतिहास** (१९५१, कलकत्ता विश्वविद्यालय)
२. **संस्कृत साहित्येर इतिहास** (प्रथम संस्करण) (दि बुक कम्पनी लिमिटेड, कालेज स्क्वाइर, कलकत्ता)
३. **गुजराती साहित्यनी रूप-रेखा** (१९४३, एन. एम. त्रिपाठी लि. बम्बई)